श्रीरामचरितमानस
में
उपनिषद्-प्रभाव ॥

पूर्वोदय प्रकाशन
7/8 दरियागंज, नई दिल्ली-110002

श्रीरामचरितमानस
में
उपनिषद्-प्रभाव ॥

शीला शर्मा

स्वामी श्री चिन्मयानन्दजी
के प्रति

'बंदउँ गुरु पद पदुम परागा'

RASHTRAPATI BHAVAN
NEW DELHI-5.
राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली-5.
मार्च 28, 1962

हजारों वर्षों से भारतीय चिन्तन तथा साहित्य का एक लक्षण उसकी एकसूत्रता रही है। जिस प्रकार वैदिककालीन विचारधारा का प्रभाव उपनिषदों पर पड़ा, उसी प्रकार उपनिषदों की छाप समस्त उत्तरवर्ती साहित्य पर पड़ी। स्वयं गीता के सम्बन्ध में यह बात स्वीकार की गई है :

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो भक्तः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

गीता के समान ही हमारे प्रमुख महाकाव्यों—महाभारत और रामायण में भी उपनिषदों में व्यक्त किये गए विचार स्थान-स्थान पर मिलते हैं। मुझे खुशी है कि श्रीमती शीला शर्मा ने इस व्यापक धारणा को तुलसीकृत रामायण के आधार पर प्रमाणित करने का यत्न किया है। लेखिका ने विषय को वैज्ञानिक ढंग से कई प्रकरणों में विभाजित करके अपने विषय का प्रतिपादन किया है। उनका परिश्रम सराहनीय है। मैं ग्रंथकार लेखिका के प्रति अपनी शुभकामनाएं अर्पित करता हूं।

(डॉ०) राजेन्द्र प्रसाद

RASHTRAPATI BHAVAN
NEW DELHI-5.
राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली-5.
मार्च 28, 1962

हजारों वर्षों से भारतीय चिन्तन तथा साहित्य का एक लक्षण उसकी एक-सूत्रता रही है। जिस प्रकार वैदिककालीन विचारधारा का प्रभाव उपनिषदों पर पड़ा, उसी प्रकार उपनिषदों की छाप समस्त उत्तरवर्ती साहित्य पर पड़ी। स्वयं गीता के सम्बन्ध में यह बात स्वीकार की गई है :

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो भवतः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

गीता के समान ही हमारे प्रमुख महाकाव्यों—महाभारत और रामायण में भी उपनिषदों में व्यक्त किये गए विचार स्थान-स्थान पर मिलते हैं। मुझे खुशी है कि श्रीमती शीला शर्मा ने इस व्यापक धारणा को तुलसीकृत रामायण के आधार पर प्रमाणित करने का यत्न किया है। लेखिका ने विषय को वैज्ञानिक ढंग से कई प्रकरणों में विभाजित करके अपने विषय का प्रतिपादन किया है। उनका परिश्रम सराहनीय है। मैं ग्रंथकार लेखिका के प्रति अपनी शुभकामनाएँ अर्पित करता हूं।

(डॉ०) राजेन्द्र प्रसाद

प्रशस्ति

गोस्वामी तुलसीदास जी संत थे। हम उनके काव्य को 'सिद्धकाव्य' कहते हैं। न मालूम उन्होंने उसे लिखने में कितना अध्ययन, कितना चिन्तन और न मालूम कितनी साधना की थी, किन्तु उन्होंने कभी यह दावा नहीं किया कि वह उनकी मौलिक कृति है, यद्यपि हिन्दी में इससे अधिक मौलिक ग्रन्थ मिलना कठिन है। वे यही घोषित करते हैं कि यह 'नाना-पुराण-निगमागम-सम्मत' है। रामायण की आरती में भी कहा है : "गावत वेद पुरान अष्टदस, छहों सास्त्र सब ग्रन्थन को रस ···सार अंस सम्मत सबही की।" उपनिषद् वास्तव में वेद ही के अंश हैं। उन्हें उनका सार-भाग कहना भी अनुचित न होगा। अतएव रामायण उपनिषदों से प्रभावित ही नहीं, उनसे सम्मत भी है।

किन्तु तुलसीदास ने रामायण में उपनिषद् के तत्त्वों को इस कुशलता से गुम्फित किया है कि साधारण पाठक को इसका सार और तत्त्व तो ज्ञात हो जाता है किन्तु इस बात का आभास नहीं होता कि वह उपनिषद् के दुरूह तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर रहा है क्योंकि उन्होंने सहज और सरल कथा में उपनिषदों के तत्त्वों को शक्कर की तरह घोलकर पाठक के लिए सुस्वादु और सहज ग्राह्य बना दिया है।

श्रीमती शीला शर्मा ने बड़े गम्भीर अध्ययन के बाद बड़ी कुशलता से रामायण में गुम्फित उपनिषद् के तत्त्वों को अलग और स्पष्ट किया है तथा यह समझाने की सफल चेष्टा की है कि वास्तव में रामायण उपनिषदों पर आधारित है। इससे मालूम पड़ता है कि तुलसीदास के दार्शनिक आधार उपनिषद् ही थे। उनकी कथा और वर्णन-शैली ने काव्य को मधुरता, सरसता और लोकप्रियता दी। किन्तु रामायण का आधार उपनिषद् ही हैं, और इसी कारण रामायण हिन्दुओं का 'निगमागम-सम्मत' धर्मग्रन्थ बन सका। इसीलिए वह जहां जनता के लिए अत्यन्त सरल हुआ, वहीं विद्वानों के गहन अध्ययन का ग्रन्थ भी बन गया। वह 'सरल, मृदुल, मंजु' भी रहा, साथ ही 'अति अगम' भी प्रमाणित हुआ। श्रीमती शर्मा ने उपनिषदों और रामायण का इतना तलस्पर्शी अध्ययन किया है कि उसे देखकर हमें उनके अध्यवसाय, पैनी सूझ और अटूट धैर्य की बरबस प्रशंसा करनी पड़ती है। साहित्य में यह ग्रन्थ सदैव अपना विशिष्ट स्थान रक्खेगा।

—श्रीनारायण चतुर्वेदी

मेरी अपनी बात

आज जब मैं यह विचार करती हूँ कि इस पुस्तक का 'श्रीगणेश' कहाँ और कैसे हुआ तो मुझको स्मरण आता है कि स्वामीजी का एक वाक्य वह सूत्र है जिसके आधार पर कि यह पुस्तक गूँथी गयी।

अब तो स्वामीजी के भाषणों की संख्या सहस्रों में जा रही है। पर उस समय 'अशोका रोड' पर स्वामीजी का क्रम-संख्या के अनुसार सम्भवतः यह तीसरा भाषण था। अपने भाषण में स्वामीजी ने हिंदी के कार्य में कुछ सहायता की चर्चा की थी। मेरा विचार था कुछ हिंदी के पत्र होंगे जिनका उत्तर देना होगा। जब दूसरे दिन भी स्वामीजी ने 'हिंदी कार्य' की चर्चा की तो भाषण समाप्त होने पर मैं उनके पास पहुँची। स्वामीजी मुझको देखते और कह देते 'कल आना'—इस प्रकार दो-चार दिन के बाद वह 'कल' आ गया और स्वामीजी ने कहा 'इसको वे हिंदी के कागज दे दो।' उनके इस कथन के साथ कागज़ों का एक मोटा गट्ठर मेरी ओर बढ़ा दिया गया। इतना मोटा गट्ठर देखकर मैं एक बार सहम गयी, पर उसी समय स्वामीजी का एक वाक्य सुनाई पड़ा। स्वामीजी आंग्ल-भाषी हैं अतः वाक्य भी आंग्ल भाषा में था—"Your salvation lies in translation."

जब यह गट्ठर लेकर मैं कार तक पहुँची तब मेरे पति के चौंकने की बारी थी। वे बोले—यह क्या ले आई? फिर देखकर बोले—"कठोपनिषद्! आप इसका अनुवाद करेंगी? कभी अनुवाद किया है? सृजनात्मक काम कर लेना दूसरी बात है, अनुवाद करना दूसरी! कहानी-किस्सा लिखती हो लिखा करो। चलो, वापस करके आओ।" मैंने कहा, अब वापस कैसे करूँ "my salvation lies in translation. मैंने यह थोड़े ही कहा था कि कोई सम्यक् स्तर का काम करूँगी; मैंने तो केवल यह कहा था कि कुछ हिंदी का काम है तो कर दूँगी। अब जैसा बन पड़े, स्वामी जानें! मैंने तो दो-चार कागज जाने थे, अब यह गट्ठर मिल जायगा इसका क्या पता था। उस समय आयु कम थी। एक कहानी-संग्रह निकल चुका था! उपन्यास 'एक था' धारावाहिक रूप से 'नया समाज' मासिक में निकल रहा था।

एक बाल पुस्तक पुरस्कृत हो चुकी थी। और रेडियो की स्क्रिप्ट व कहानियों में पूर्णतः रमी हुई थी। लेखन में विक्षेप का भय होना मेरे पति के लिए स्वाभाविक ही था।

वास्तव में सृजनात्मक कार्य करना जितना सरल है, अनुवाद करना उतना ही कठिन। यदि स्वामीजी ने Your salvation lies in translation का वाक्य न जोड़ दिया होता तो शायद यह वृहद् कार्य मैं कर भी नहीं पाती। बहरहाल translation करती रही और salvation आयेगा तो कैसे आयेगा और किधर से आयेगा, यह सोचती रही। आंग्ल भाषा में उपनिषद् आते रहे और translation पहुँचता रहा। salvation किधर से आयेगा, इसका मुझको अभी तक उत्तर नहीं मिल पाया है। यह स्वामीजी जानें।

इस समय 'सरस्वती पत्रिका' में मेरे धारावाहिक लेख चल रहे थे, जो सौभाग्य से लोकप्रिय भी हो गये थे। लेख समय पर न मिलने पर और लेख-धारा टूटने पर सम्पादक, श्री नारायण चतुर्वेदी भयानक रूप धारण कर लेते हैं, इसका मुझको अनुमान था। सरस्वती-सम्पादन कार्य के लिए वे प्रतिमास प्रयाग आते थे। उसी समय मेरे घर भी आते थे। उनका आना कुछ धरना देने का भाव रखता था कि अब लेख लेकर ही जाएँगे। जाते समय वे बहुधा मेरे पति से एक वाक्य कह जाते थे 'लेखक दो प्रकार के होते हैं, कुछ कहते हैं, कुछ के पास कहने को कुछ होता है। जिनके पास कुछ कहने के लिए होता है, उनसे कहला लेने के लिए उनके पीछे पड़ना पड़ता है। उनमें से एक आपकी पत्नी है। पीछे न पड़ो तो इनसे लेख नहीं निकल सकता।"

मेरी पुत्री 'वत्सला' उस समय 9 वर्ष की थी। उसने यह वाक्य पकड़ लिया था। मुझको तो इसका आभास नहीं था, परन्तु वह नित्य रात्रि में एक नई कहानी सुनाने का आग्रह करती थी और सोते समय कहती, कल इसको लिख लेना। वह स्कूल में मेरी 'पब्लिसिटी' का काम करती थी। उसका सहस्रों तक की ही संख्या का ज्ञान था अतः काल्पनिक पुरस्कार मुझको सहस्रों तक की धन-राशि संख्या के प्राप्त हो गये हैं, इसका प्रचार कर आती थी। जिसका उत्तर उसकी सहेलियों की माताओं को मुझे देना पड़ता था। एक उसका कहना था कि मेरी माँ इतनी आलसी हैं कि यदि मैं चतुराई से उनसे कहानी न लिखाऊँ तो वे एक भी कहानी न लिखें। 9 वर्ष की आयु में ही इस 'वत्सला' का अकस्मात् ही, कुछ घंटों के ज्वर में ही, निधन हो गया। कुछ सहृदय व्यक्तियों ने इस अवसान पर स्वतः प्रतिदिन संध्या को 'श्रीरामचरितमानस' का पाठ प्रारम्भ कर दिया।

यह प्रथम अवसर था जब मानस से मेरा प्रथम पूर्ण परिचय हुआ। इसके पहले मानस मुझको नीरस लगा करती-थी और जब उसको पढ़ने के समय मेरे पति के नेत्रकोर भीग जाते थे तो मैं सोचती थी ये इतने भावविभोर कैसे हो जाते हैं।

इन संध्या मानस-पाठों में बैठना ही होता था तथा उद्विग्न हृदय को शान्त करने के लिए यह सुनना ही पड़ता था कि चौपाइयों में लिखा क्या है। चौपाइयों के भावों पर ध्यान देते समय एक विचार मन में कौंधने लगा कि यह भाव तो कहीं पढ़ चुकी हूँ। समभावी उपनिषद्-वाक्य स्मरण आने लगे तो एक पेंसिल लेकर बैठने लगी और उस समय समभावी चौपाइयों पर वाक्य अंकित करके बाद में उनको उपनिषदों से मिलाने लगी। जब उनकी संख्या बढ़ने लगी तब स्वतः ही एक ग्रन्थ का सा रूप बनने लगा। मैंने सोचा यह भी संभवतः 'वत्सला' की पुस्तक लिखाने की एक नई चाल होगी।

समभावी चौपाइयों व उपनिषद-वाक्यों का साम्य प्रदर्शित करना अपने-आप में एक दुस्तर कार्य था। ऊपर से विषय को सरल करने के लिए पुस्तक की रूप-रेखा भी तीन-चार बार बदलनी पड़ी।

मेरे पति कहा करते थे कि यह पुस्तक तुम्हारे मरणोपरान्त छपेगी, जो इसको हाथ लगाता है वही मर जाता है। जब तुम चली जाओगी तब मैं इसको छपवाऊँगा जब दिनकर जी भी जगत में नहीं रहे तब मुझ को उनके कथन में पूरा विश्वास हो गया। इस हिसाब से जाना मुझ को ही चाहिए था, पर हुआ उल्टा। जब मेरा मन व्यथित पड़ा रहा तो पुस्तक भी बन्द पड़ी रही। जब मन में कुछ सजगता आई तब पुस्तक भी सजग हो गयी। इस पुस्तक से ही मैंने जाना कि मेरी बुद्धि को सहज होने में कितना समय लग गया। इस प्रकार यह पुस्तक मेरे सुख-दुःख की साथी हो गयी।

ज्योतिष-विद्या में सृजनात्मक कार्यों का भविष्य सन्तान के स्थान से ही देखा जाता है। इस पुस्तक को बनाने में मुझको उन्हीं समस्याओं का सामना करना पड़ा जो रूढ़िवादी माता-पिता को बड़ी आयु की कन्या के वर की खोज में करना होता है। कभी घर तो वर नहीं, कभी वर तो घर नहीं; धन है तो प्रकाशक नहीं और प्रकाशक है तो धन नहीं।

अब जब यह मुझ से अलग होकर जगत् में प्रवेश कर रही है, तो कन्या के समान ही अपना यश-अपयश और कीर्ति-अपकीर्ति अपने गुण-अवगुणों के आधार पर ही पायेगी।

जिस प्रकार प्रत्येक माता-पिता कन्या को विदा करते समय, अपने हृदय की आशंकाओं को दबा कर उसके लिए मंगल-कामनाओं की ही आशा किया करते हैं, उसी प्रकार मैं भी इसके लिए मंगल-कामना तथा स्वागत की कामना करती हूँ।

मेरे लिए अध्यात्म विषय नया था, न उसको समझने की प्रखरता मेरी बुद्धि में थी जो कुछ भी उससे प्राप्त हुआ वह स्वामीजी का था, अतः यह पुस्तक स्वामीजी को समर्पित है।

मैं तो केवल यही कह सकती हूँ—

स्वयं सिद्ध सब काज, नाथ मोहि आदरु दियउ।

—शीला शर्मा

अनुक्रम

प्रथम खण्ड : काव्य-तत्त्व : 1

वाच्द-साम्य : कैकेयी व गार्गी, जो इच्छा करिहहु मन मांहीं, हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं। नूतन पट, सनमुख होय जीव जब ग्यान पंथ कृपान की धारा।

भाव-साम्य : स्वारथ मीत, जानत तुम्हइ तुम्हइ होइ जाई, कोइ एक पाव भगति जिमि मोरी, काल कलेवा, एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी, दुहूं हाथ मुद मोदक मोरे, रीझत राम जानि जन जी की, जीव नित्य, तामस देह।

अलंकार-साम्य : रथ, दीपक, घृत, वृक्ष, अग्नि, रज्जु-सर्प-भ्रान्ति, भ्रमरकीट।

कथा-साम्य : महत शक्ति।

द्वितीय खण्ड : साधना-तत्त्व : 69

ब्रह्मज्ञान का अधिकारत्व, गुरु-परम्परा, कर्मकाण्ड, भजन, ध्यान, नाम-स्मरण, साधना के परिणाम।

तृतीय खण्ड : तत्त्व-दर्शन : 209

जीव तत्त्व, पंच तत्त्व, दर्शन, माया और हृदय-ग्रन्थि, स्वप्नवत्, रहस्य-दर्शन, नेति-शैली का संदेश, श्रद्धा, भक्ति।

चतुर्थ खण्ड : स्वरूप दर्शन : 337

सगुण स्वरूप की स्थापना—उपनिषद् प्रश्नकर्त्ता के रूप में मानस के भारद्वाज मुनि—ब्रह्म के सगुण व निर्गुण स्वरूप का राम-स्तुति में निरूपण—भगवान् के जन्म का कारण।

निर्गुण स्वरूप : विराट् स्वरूप—कौशल्या व अर्जुन की प्रतीति में समानता—दोनों की प्रभु के स्वरूप से अनभिज्ञता व उनको मानव-रूप में देखना—दोनों की

प्रभु स विराट् स्वरूप त्याग कर मानव-रूप में पुनः आने के लिए प्रार्थना करना, प्रभु के विराट् स्वरूप द्वारा दोनों के हृदय में हर्ष, भय व विस्मय का जन्म ब्रह्माण्ड-दर्शन—प्राकृत नेत्रों द्वारा दिव्य दर्शनों की अशक्ति—माया-दर्शन—दोनों की प्रसन्नता—काकभुशुण्डि को प्राप्त विराट् दर्शन।

उपनिषदों से विराट् स्वरूप सम्बन्धी उद्धरण : श्वेताश्वतर, उपनिषद् त्रिपाद्विभूति महोपनिषद, मुद्गलोपनिषद्।

प्रश्नोपनिषद मानस व उपनिषद् वर्णित विराट् स्वरूपों का साम्य : ब्रह्माण्ड, जगत्, सचराचर जीव, अगोचर, कारणरहित, अविकारी, अभय स्वरूप, अज्ञेय, परम ज्योतिस्वरूप, एक में अनेकरूपता, अज, कल्याण रूप, सच्चिदानंद रूप।

प्रथम प्रकरण

काव्य तत्व

वाक्य साम्य
भाव साम्य
अलंकार साम्य
कथा साम्य

वाक्य साम्य

भारत की सांस्कृतिक विचारधारा का एक विनम्र अध्येता अपने अध्ययन एवं अनुशीलन के आधार पर सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि गोस्वामी तुलसीदास रचित 'रामचरितमानस' का क्षेत्र केवल रामभक्ति तक संकुचित न होकर अत्यन्त व्यापक है। उसकी चौपाइयों में स्थान-स्थान पर उपनिषदों के विचार-तत्व प्रतिध्वनित होते हैं। कहीं भ्रमर-गुंजन के रूप में, तो कहीं धनुष्टंकार के रूप में। उन्हीं को 'मानस' की चौपाइयों में से बाहर निकाल लाने का एक विनम्र प्रयास इन पृष्ठों में किया गया है।

'मानस' की चौपाइयाँ एक ओर तो अपनी सरसता व भावमयता से भक्तजनों को विभोर करती हैं, दूसरी ओर दार्शनिक चिन्तकों के मन:पटल पर उपनिषदों के स्मृति-चित्र भी अंकित करती हैं। 'मानस' को उपनिषदों के समकक्ष रखकर अध्ययन करने पर यह धारणा बनती है कि उपनिषद-वाक्य पहले तुलसी के हृदय में समाकर आत्मसात् हो गये हैं, फिर एक नया रूप लेकर उद्‌गारों के रूप में प्रस्फुटित हुए हैं। 'मानस' को जहाँ अन्य कई कारणों ने अमृतत्व प्रदान किया है, वहीं चौपाइयों की इस सारगर्भिता का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है।

अपने विषय की पूर्वपीठिका के रूप में मैं यहाँ 'बृहदारण्यकोपनिषद्' का एक अंश उद्‌धृत कर रही हूँ—

सा होवाचाहं—

वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्जयं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थाम् तौ मे ब्रूहीति ॥2॥—बृह० उ०, ब्रा० 8, अ० 3

उपर्युक्त उद्‌धृतांश का भावार्थ इस प्रकार है—

हे याज्ञवल्क्य, जिस प्रकार काशी व विदेह-नरेश, जिनके वंशज तक युद्ध-कला के लिए विख्यात थे, अपने धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाते हुए हाथ में दुश्मन को पीड़ा देने वाले विषयुक्त अग्रभागों से युक्त दो बाण लिये हुए निकट ही दिखायी पड़े,

उसी प्रकार मैं तुम्हारे समीप दो प्रश्न लेकर आयी हूँ।

यह कथन गार्गी का है। अब यदि हम 'रामचरितमानस' का अवलोकन करें तो राम को वनवास की आज्ञा देती हुई कैकेयी में और याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ को उत्सुक गार्गी में साम्य सहज ही लक्षित हो जाता है—

निधरक बैठि कहइ कटु बानी। सुनत कठिनता अति अकुलानी॥
जीभ कमान बचनु सर नाना। मनहुँ महिप मृदु लच्छ समाना॥
जनु कठोरपनु धरें सरीरू। सिखइ धनुषविद्या बर बीरू॥

—अयो० कां०, 1-3141

विदेहपति राजा जनक के यज्ञ में कुरु तथा पांचाल देश के अनेक ब्रह्मज्ञाता सम्मिलित हुए थे। राजा जनक ने एक सहस्र धेनुओं के सींगों पर एक-एक स्वर्ण-पद बाँधकर यह घोषणा की कि आप सबमें जो ब्रह्मज्ञानी हो, वह इन धेनुओं को ले जाये। याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों को सम्बोधित करके, धेनुओं को ले जाने को कहा। फलस्वरूप कई ऋषियों ने याज्ञवल्क्य को शास्त्रार्थ की चुनौती दी। इस प्रकार होत, अश्वल, सुधन्व, गंधर्व, गौतम तथा अरुण-पुत्र उद्दालक ने याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ किया। तत्पश्चात् वचक्नुसुता गार्गी ने निर्भीक स्वर में उपर्युक्त उपनिषद् वाक्य कहकर याज्ञवल्क्य को शास्त्रार्थ हेतु आमन्त्रित किया।

याज्ञवल्क्य से प्रश्न करने वाली गार्गी के समान, 'धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ वाण-वन्तौ' का प्रतिरूप, कैकेयी जब 'जीभ कमान बचनु सर नाना' लेकर सामने आती है, तब पूरे बृहदारण्यक उपनिषद् का वह भाग ही रामचरितमानस की इन चौपाइयों में प्रतिध्वनित हो उठता है। इतना ही नहीं, गार्गी की तुलना में कैकेयी जैसे पूर्णतः विरोधी पात्र से—गार्गी ज्ञानी कैकेयी मूर्खा, गार्गी सत्त्वप्रधान कैकेयी तमसप्रधान, गार्गी का प्रश्न-अभिप्राय आध्यात्मिक तथा कैकेयी का सांसारिक—ये वचन-सर छुड़वाकर महाकवि ने इस रूपक में वह नया आनन्द भर दिया है, जो आनन्द एक महान संगीतकार विवादी स्वर का अंश देकर अपने रागों में भर देता है। जो राग से अनभिज्ञ हैं, उनके लिए तो राग का रस वैसा ही बना रहता है किन्तु जो विज्ञ हैं, उनके लिए, चतुराई से किया गया वही विवादी स्वर का प्रयोग, उसी राग व उसी स्वर में एक नया आनन्द भर देता है। भक्तिकाल में जिस समय 'रामचरित-मानस' की रचना हुई थी, धर्म के दृष्टिकोण से हिन्दू समाज प्रायः दो भागों में विभाजित हो चुका था—एक वर्ग पूर्णपांडित्य से दीप्तिमान था, उपनिषद् तथा वेदों के ज्ञान से ओतप्रोत था और दूसरा वर्ग इस प्रकार के ज्ञान से पूर्णतः अनभिज्ञ था। उस वर्ग के लिए संस्कृत की पुस्तकें विद्वानों की वस्तु थीं, उनकी अपनी नहीं। वे भाषा में लिखे भक्त कवियों के पदों के रस में ही लीन थे और वही उनका धर्म था।[1] मानस की विशेषता थी कि वह दोनों को ही एक-सा रसविभोर करती थी, इसीलिए वह दोनों वर्ग के प्राणियों में समान भाव से प्रिय रही। महाकवि की इस

दुधारी प्रतिभा से दोनों को ही आनन्द मिलता था। इसमें से पांडित्यप्रधान वर्ग को तो गार्गी और कैकेयी के विरोधी स्वभावों में से संगीतकार के वर्जित(विवादी) स्वरों के प्रयोग के कौशल का आनन्द आता है और साधारण जन-समुदाय को लोक-कथा में आने वाली सरस उक्तियों और उपमाओं का।

1. गार्गी और कैकेयी दोनों के ही वाण विषयुक्त हैं। गार्गी के वाण उसके कथन के अनुसार विषमय हैं (वाणों में उस समय की प्रथा के अनुसार विषमय बांस का अग्रभाग होने के कारण), कैकेयी की विषभरी वाणी के सम्पर्क में आकर उसके दोनों 'वचन-सर' विना 'विषमय अग्रभाग' के ही विषमय वन गये हैं। कितनी सूक्ष्मता से महाकवि ने कैकेयी की विष-बुझी वाणी पर कटाक्ष किया है और कैकेयी के वाणों को गार्गी के विषयुक्त वाणों से भी अधिक विषयुक्त बना दिया है।

2. दोनों के ही 'सर' अपने-अपने लक्ष्य की गहराई नापने निकले हैं; परन्तु दोनों के सर भिन्न-भिन्न भावना से छोड़े गये हैं। याज्ञवल्क्य से सत्य की खोज में पूछे गये गार्गी के 'वचन-सर' सत्व प्रधान हैं; राजा दशरथ को लक्ष्य कर स्वार्थवश पूछे गये, कैकेयी के 'वचन-सर' तमस प्रधान हैं। दो भिन्न-भिन्न भावनाओं से छोड़े गये वाणों का अभिप्राय एक ही है, अपने लक्ष्य की थाह और शक्ति नापना। गार्गी देखती है कि याज्ञवल्क्य में उसके 'वचन-सर' के प्रहार को सहकर प्रत्युत्तर देने की सामर्थ्य व शक्ति है या नहीं? उधर कैकेयी भी यही देखती है कि श्रीराम के हृदय में उसके कटु वचनों को सहने की सामर्थ्य व शक्ति है या नहीं? दोनों ही के 'वचन-सर' लक्ष्य पर पहुँचकर कुंठित होकर लौट आते हैं। कैकेयी और गार्गी के शब्द-चित्र की सादृश्यता भी बनी रहती है और साथ ही एक ओर सत्व व दूसरी ओर तमस द्वारा प्रेरित 'वाक्य-सरों' का एक विरोधाभास भी बना रहता है। यही विरोधाभास है जो एक चित्र को दूसरे चित्र से पृथक् करता है तथा कैकेयी के चित्र को गार्गी के चित्र का कोरा अनुकरण होने से बचाता है।

गार्गी कहती है, 'यथा काश्यो वा वैदेहो योग्रपुत्र उज्जयं धनुरधिज्यं कृत्वा' इस कथन में दो बातें उल्लेखनीय हैं—

एक है, गार्गी की निर्भीकता, जिस निर्भीकता से वह याज्ञवल्क्य के सन्मुख खड़ी होकर उनको शास्त्रार्थ के लिए ललकार रही है—और दूसरी है, काशीराज तथा विदेहराज जैसे वीर योद्धाओं का उल्लेख; जिसकी समानता गार्गी अपने से कर रही है।

अपने 'वचन-सर' छोड़ते समय ये दोनों ही प्रमुख भाव कैकेयी में वैसे-के-वैसे प्रस्तुत हो गये हैं: 'निधरक वैठि कहइ कटु बानी'[1] में गार्गी की निर्भीकता कैकेयी में आ गयी है, तथा 'जनु कठोरपनु धरें सरीरू। सिखइ धनुपविद्या वर वीरू।' (मानो कठोरपन स्वयं वीर का शरीर धारण करके धनुष-विद्या सीख रहा हो) इसमें वीर वंशज योद्धा काशी-नरेश तथा विदेह-नरेश का, धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाते

हुए समीप ही दिखायी पड़ने का चित्र सम्मुख आ जाता है।

योद्धा का आवश्यक गुण है कठोरता। जिस अनुपात में योद्धा में कठोरता आयेगी, उसी अनुपात में उसकी वीरता का तत्व बढ़ेगा। 'जनु कठोरपनु धरें सरीरू' का शाब्दिक चित्र खींचकर मानस ने एक वीर योद्धा का चित्र सामने चित्रित कर दिया है, वह वीर वंशज काशी-नरेश व विदेह-नरेश का हो या किसी और का। मानस ने वीरों का आवश्यक गुण ले लिया है और दृष्टांतस्वरूप आये अनावश्यक नाम त्याग दिये हैं। इसके कई कारण हो सकते हैं। प्रथम कारण तो काल-भेद ही है। यह आवश्यक नहीं है कि उपनिषद् काल की प्रसिद्धि के वीर-योद्धा-वंशज मानस-काल तक अपने वंश की युद्धवीरता की प्रसिद्धि बनाये रख सके हों। किसी वंश-विशेष की युद्धवीरता की प्रसिद्धि सामयिक होती है, परन्तु वीरता में कठोरता का गुण सर्वकालीन है। वीरयोद्धा युद्धकाल में मृदु नहीं हुआ करते। जो सर्वकालीन तत्व था, मानस ने उसे अपना लिया। यह सब होते हुए भी 'जनु कठोरपनु धरें सरीरू' से जो चित्र चित्रित होता है, वह चित्र उपनिषद्-मर्मज्ञों को वीर-योद्धा-वंशज काशी-नरेश व विदेह-नरेशों का स्मरण दिला जाता है। अतः 'जनु कठोरपनु धरें सरीरू' का प्रयोग करके मानस ने दो.ां ही कार्य चतुराई से कर दिये हैं। एक ओर ऐसे वीर योद्धाओं का चित्रण किया है जो सर्वकालीन हैं; दूसरी ओर उप-निषद्मर्मज्ञों की स्मृति में उपनिषद् वर्णित वीर-योद्धा-वंशज 'काशी नरेश व विदेह नरेशों' की स्मृति भी जगा दी है। यह स्थल उन दृष्टान्तों का एक उदाहरण है जहाँ से दोनों प्रकार के जन-समुदाय— ज्ञानमर्मज्ञ विद्वान तथा कथारसिक भक्त—अपनी-अपनी बौद्धिक क्षमता के अनुसार मानस से रसपान कर तृप्ति प्राप्त करते हैं।

वचक्नुसुता गार्गी ने अपने 'वचन-सरों' को 'कृत्वोपोत्तिष्ठेदेव' करके सम्बोधित किया है, 'वे सर जोकि दुश्मन को घोर पीड़ा दें'। गार्गी 'कृत्वोपोत्तिष्ठेदेव' का सम्बोधन देकर भी उनको याज्ञवल्क्य के लिए पीड़ामय नहीं बना सकी है। यह याज्ञवल्क्य के उत्तरों से स्पष्ट ही है, परन्तु कैकेयी के वाण बिना किसी ऐसे सम्बो-धन के ही इतने पीड़ामय हैं कि उन शब्दों के लक्ष्य राजा दशरथ, जो पीड़ाहत होकर मूर्च्छित हुए तो हुए ही, प्रत्येक पाठक भी उनकी पीड़ा से इतना बिध जाता है कि बहुधा नेत्र-कोरों से अश्रु-बिन्दु पोंछता दीखता है।

गार्गी के इन बाणों में एक विशेषण और जुड़ा हुआ है, 'सपत्नातिव्याधिनौ' जिनके अग्रभाग पर विष बुझे हुए बाँस के टुकड़े लगे हैं। ये विषमय वाण शरीर में प्रवेश कर अंगों में धीरे-धीरे विष फैलाते थे, और कुछ दिनों बाद प्राण लेने में समर्थ होते थे। कैकेयी के वाणों में कोई विषमय बाँस का अग्रभाग नहीं लगा है; पर उन्होंने राजा दशरथ के प्राण तड़पा-तड़पाकर उसी प्रकार लिए हैं जिस प्रकार किसी योद्धा के विषमय बाँस का अग्रभाग वाले वाण लेते हैं।

एक ओर उपनिषद् वाक्य पीड़ा की शब्दों में व्यक्त कर रहे हैं; दूसरी ओर

मानस की चौपाइयों में पीड़ा का वर्णन करने वाले शब्दों के बिना ही एक घनीभूत पीड़ा व्यक्त हो गयी है। उपनिषद् वाक्य में बाणों को विषमय बनाने के लिए उनके अग्रभाग में विषमय बाँस लगाया गया है, चौपाइयों में बिना किसी विषमय अग्रभाग के ही केवल विषैली वाणी के सम्पर्क से ही 'वचन-सर' विषमय बन गये हैं। वाक्य में गार्गी युद्ध-वीरों की कठोरता का स्मरण दिला रही है; मानस में कैकेयी स्वयं ऐसा कठोर रूप लिये है कि कठोरता युद्ध-विद्या में पारंगत हो ऐसी लग रही है। एक ओर गार्गी के 'वचन-सर' याज्ञवल्क्य से शास्त्र में एक-से-एक पैना प्रत्युत्तर निकालते हैं तो दूसरी ओर कैकेयी के वचन-प्रहार श्री राम के मुख से मधुर वाणी का स्रोत ही खोल देते हैं।

यह है सादृश्यता और सादृश्यता के अन्दर पृथकता, जो एक को दूसरे के कोरे अनुकरण मात्र से बचाती है। गार्गी व कैकेयी दोनों ही ऐसी परिस्थिति व ऐसे प्रसंग में आयी हैं कि दोनों ही शब्दों का एक अमिट चित्र उभार देती हैं। बाद में शब्द हट जाते हैं और चित्र मानस-पटल पर अंकित रह जाता है। महाकवि के मन पर पड़ा यही गार्गी का चित्र कैकेयी के रूप में मानस पर उतर आया है। एक ओर सादृश्यता और उस सादृश्यता में यह पृथकता काव्य-प्रतिभा का उत्कट उदाहरण है ही। ०००

जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥

उत्तर काण्ड में, 'गरुड़-काकभुशुण्डि संवाद' में काकभुशुण्डि गरुड़जी से कहते हैं—

बिनु श्रम तुम्ह जानब सब सोऊ। नित नव नेह राम पद होऊ॥
जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥

—उ० कां०, 2।114

संवादवश आयी हुई इस चौपाई में गूँज है कठोपनिषद् की इस उक्ति की : "एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म, इतद्ध्येवाक्षरं परम इतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा, यो यदिच्छति तस्य तत्" ।।।16।।—कठो० उ०, अ० 1, व० 1

इस उक्ति का अर्थ है कि अक्षर ही ब्रह्म है, वही परब्रह्म है। इस अक्षर को जानकर जो व्यक्ति जो कुछ चाहता है उसे वह मिल जाता है। 'जो इच्छा करिहहु मन माँही। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥' का भाव तो 'यो यदिच्छति तस्य तत्' से स्पष्ट है ही। इस चौपाई के पूर्व की कुछ चौपाइयाँ यदि देखी जायें तो उक्त वचन की अस्पष्टता दूर हो जाती है। ऊपर वर्णित चौपाई से पहले की दो चौपाइयाँ इस प्रकार हैं—

बालकरूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि मुनि कृपानिधाना ॥
सुन्दर सुखद मोहि अति भावा। सो प्रथमहि मैं तुम्हहि सुनावा ॥
—उ० कां०, 41।13

उपर्युक्त चौपाई से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि कृपालु मुनि ने बालक रूप राम के ध्यान की विधि काकभुशुण्डिजी को बतलायी थी और उन्होंने मुनि के निर्देश के अनुसार ध्यान किया भी था, अन्यथा तो वह अपना यह निजी अनुभव 'सुन्दर सुखद मोहित अति भावा' कहने की अवस्था में ही नहीं होते। उनकी यह निजी अनुभूति, उनके अपने ध्यान करने के बाद ही की स्थिति है। 'जो इच्छा करिहहु मन माँही। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं ॥' अर्थात् वह अवस्था ध्यान के पश्चात् ही आती है। काकभुशुण्डि गरुड़जी को ध्यान की अवस्था पहले बता चुके हैं, 'सो प्रथमहि मैं तुम्हहि सुनावा' ध्यान की अवस्था पर प्रकाश डालने के पश्चात् अब वह, ध्यान करने से जिस फल की उपलब्धि होती है, उसे स्पष्ट कर रहे हैं। उपनिषद् वाक्य में भी स्पष्टतः यह पहले लिखा है कि ब्रह्म क्या है?—'एतद्ध्येवक्षरं ब्रह्म इतद्ध्येवाक्षरं परम'। उसके अनन्तर ही यह लिखा है कि जो इसे प्राप्त कर लेता है—'इतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा'—उसी को 'यो यदिच्छति तस्य तत्' की प्राप्ति होती है अर्थात् यह ध्यान के पश्चात् की ही उपलब्धि है।

जो सिद्धान्त उपनिषद् की उक्ति में संक्षेप में कहा गया है, वही मानस में कई चौपाइयों में अधिक विस्तृत करके प्रस्तुत किया गया है। सम्भवतः एक तो इसका कारण यह है कि प्रत्येक विवरण अधिक प्रभावशाली हो सके, इस कारण उपयुक्त ढंग से ही कथा-प्रसंग में रखा जाता है, जिससे कि पाठक उसका पूर्ण लाभ उठा सकें। मानस में उनका उचित रूप से आना महाकवि की प्रतिभा का द्योतक है। दूसरे, कथा-प्रसंग में प्रत्येक वस्तु कुछ बिखर भी जाती है और वह संक्षिप्त नहीं रह पाती। तीसरे, उपनिषद्-शैली संक्षिप्त-से-संक्षिप्त होने की ओर थी, क्योंकि उपनिषद् कंठस्थ किये जाते थे, उन्हें जीवित रखने का उपाय केवल उन्हें कंठस्थ करके ही सम्भव था। कंठस्थ वस्तु सूक्ष्म से सूक्ष्मतर कलेवर में व्याप्त की जाये इसी ओर रचयिता का ध्यान अधिक रहता था। इसके विपरीत 'मानस' एक महाकाव्य है, उसका एक अभिप्राय उपनिषद्-ज्ञान पाठकों तक पहुँचाना है। इस प्रकार मानस उपनिषद् में आयी ज्ञान की गाँठ खोलकर, उन्हें फैलाकर और उनकी सिलवटों को दूर कर उसे सजाकर व्यवस्थित रूप से पाठकों के सामने रखता है, जिससे कि वह पाठकों को आकर्षक लगे और साथ ही हृदयग्राही भी हो। ०००

नूतन पट

यह प्रसंग उत्तरकांड का है तथा गरुड़-काकभुशुण्डि संवाद के अन्तर्गत आया है। काकभुशुण्डि अपने गुरु के कृपालु स्वभाव की चर्चा करने के पश्चात् वारम्वार अपना नया जन्म लेने की चर्चा गरुड़जी से कर रहे हैं। निम्नांकित चौपाइयाँ उसी प्रसंग के अन्तर्गत आयी हैं। कथा-प्रसंग में पढ़ते समय ऐसा प्रतीत नहीं होता कि इस चौपाई में हिन्दू धर्म की समस्त दार्शनिकता कूट-कूटकर भरी है या गीता के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण श्लोक से इसका भावात्मक सम्बन्ध है। उस समय तो ये चौपाइयाँ कथा-प्रसंगवश आयी आत्मानुभव द्वारा प्रेरित साधारण चौपाइयाँ ही प्रतीत होती हैं—

जोइ तनु धरउँ तजउँ पुनि अनायास हरिजान।
जिमि नूतन पट पहिरइ नर परिहरइ पुरान॥
सिवँ राखी श्रुति नीति अरु मैं नहिं पावा क्लेस।
एहि विधि धरेउँ विविधि तनु ग्यान न गयउ खगेस॥

—उ० कां०, 109 (ग), (घ)

अर्थात्, हे हरिवाहन ! मैं जो भी शरीर धारण करता उसे बिना परिश्रम ही वैसे ही सुखपूर्वक छोड़ देता था, जैसे मनुष्य पुराना वस्त्र त्याग देता है और नया पहन लेता है। शिवजी ने श्रुति-मर्यादा की रक्षा की और मैंने क्लेश नहीं पाया। इस प्रकार, हे पक्षिराज ! मैंने बहुत-से शरीर धारण किये पर मेरा ज्ञान नहीं गया।

अब गीता का यह श्लोक दृष्टव्य है···

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

—गीता, अ० 2 । 22

अर्थात्, जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र को त्यागकर नया वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार वह शरीर के जीर्ण हो जाने पर नये शरीर को धारण करता है।

मानस के उपरोक्त अंश व गीता का यह श्लोक समानार्थी हैं। किन्तु मानस का कथन प्रथम पुरुष में, आप-बीते अनुभव के रूप में, होने के कारण अधिक प्रभावशाली होकर आया है, क्योंकि जिन पर विश्वास हो उनके आप-बीते प्रसंग सुनने पर सन्देह का स्थान नहीं रहता। मानस में अनेकों कथा-प्रसंग आये हैं, परन्तु इस महादार्शनिक तत्व को व्यक्त करने के लिये काकभुशुण्डि को इसलिये उपयुक्त समझा गया क्योंकि वे जिज्ञासु गरुड़ के कृपापात्र हैं। काकभुशुण्डि उनके विश्वास-पात्र हैं, यह भाव तुलसीदास जी ने अधूरा नहीं छोड़ दिया है, वरन् उनके पूर्ण विश्वास को चौपाई के पूर्व 'गयउ मोर संदेह···तव प्रसाद वाक्य तिलक'[3] कहक

स्पष्ट कर दिया हैं। 'ताते उमा न मैं समझावा'[4] शिवजी के मुख से कहलाकर तुलसीदास जी ने यह जता दिया है कि इस दार्शनिक तत्व को आपबीती कथा मे प्रस्तुत करने के लिए 'काकभुशुण्डि' के चरित्र को उन्होंने बहुत सोच-समझकर ही रक्खा है।

इतना विश्लेषण करके मानस के अनेकों चरित्रों में से केवल काकभुशुण्डि के मुख से ही इस श्लोक को चौपाई रूप में कहलाने का उनका अभिप्राय क्या था ? शायद यह कि पुनर्जन्म का भाव लेकर आया हुआ सर्वउपनिषदों का साररूप यह भाव आपबीती कथा के रूप में पूरी चोट के साथ पाठकों के हृदय में उतर आये। शिव जी ने गरुड़ जी के हृदय में काकभुशुण्डि जी के प्रति, कथा के प्रारम्भ होते ही 'राम भगति पथ परम प्रवीना'[5] कहकर विश्वास का भाव अंकुरित कर दिया था जो इस बात पर प्रकाश डालता है कि जिस पात्र के मुख से उनको यह दार्शनिक तथ्य पाठकों तक पहुँचाना था उस पर विश्वास जमाने का प्रयत्न उन्होंने कितने पहले से प्रारम्भ कर दिया है। 'विश्वास धीरे-धीरे जमता है, जमने में कुछ समय लगता है। कथा-प्रसंग में भी गरुड़ जी के हृदय में विश्वास जमाने के लिए, कुछ समय दे दिया गया है।' सर्वप्रथम शिव जी 'राम भगति पथ परम प्रवीना' स्वयं अपने मुख से कहकर विश्वास की पहली किरण जगाते हैं; तत्पश्चात् गरुड़ जी का यह विश्वास काकभुशुण्डि जी के साथ साक्षात्कार होने पर और दृढ़ होता चला जाता है। प्रश्न उठता है कि इस दार्शनिक तत्व को सम्मुख रखने में तुलसीदास जी ने क्यों इतना ध्यान दिया ? उत्तर प्रत्यक्ष है—पुनर्जन्म का दार्शनिक तत्व ही हिन्दू धर्म तथा धर्म के अन्तर्गत आने वाले धर्मों को, अन्य धर्मों से पृथक् करता है।

चौपाई का भाव श्रुतिसम्मत है; यह बात 'सिवं राखी श्रुति रीति' से प्रमाणित होता है। यह श्रुति-कथन है कि ज्ञानी मनुष्य को मृत्यु व जन्म का कष्ट नहीं होता, शिव जी ने श्रुति की इस रीति का पालन किया। श्रुति-कथन है कि जो ज्ञानी होता है उसको जन्म-मरण का कष्ट नहीं होता। काकभुशुण्डि यहाँ उस कथन के दृष्टांत-स्वरूप अपने अनुभव को रख रहे हैं—

······अरु मैं नहिं पावा क्लेस।
एहि बिधि धरेऊँ विविधि तनु, ग्यान न गयउ खगेस ॥
—उ० कां०, 109 (घ)

आपबीता अनुभव सदैव अधिक प्रभावशाली दृष्टांत के रूप में आता है। काकभुशुण्डि एक ज्ञानी भक्त हैं। वे श्री राम के उदर में प्रवेश कर सम्पूर्ण ब्रह्मांडों के रहस्य का ज्ञान कर चुके हैं। श्री राम के परब्रह्म स्वरूप का स्थापन मानस कई बार कर चुकी है। उनके उदर में प्रवेश करने की शब्दव्यंजना ज्ञानियों के लिए एक विशेष भावार्थ रखती है।[6] इसका अर्थ निकलता हैं, गुह्य बात का ज्ञान होना।

काकभुशुण्डि जी ने उदर में प्रवेश करके भगवान का जो स्वरूप देखा है वह उनका गुह्य स्वरूप है, व्यक्त स्वरूप में तो वे 'दशरथ सुत राम' ही हैं। ०००

सनमुख होय जीव मोहि

यह सुन्दरकांड का प्रसंग है। शरणागत आये हुए विभीषण के प्रति श्री राम अपने श्रीमुख से कहते हैं--

कोटि विप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होय जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

—सु० कां०, 1। 44

इस चौपाई को पढ़ते ही 'ध्यानबिन्दु उपनिषद्' के इस वाक्य पर ध्यान केन्द्रित हो जाता है—

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यान योगेन नान्यो भेदः कदाचन॥ 1॥

—ध्यानबिन्दु उप०

इस वाक्य का भावार्थ है कि यदि बहुयोजन विस्तीर्ण भारी पर्वत के समान भी पापराशि हो, तो वह भी ध्यान योग के द्वारा नष्ट हो जाती है, और वह अन्य किसी साधन से नष्ट नहीं होती। 'युज' धातु से बने शब्द योग का अर्थ है—'दो वस्तुओं का जोड़ना'; दो पृथक् वस्तुओं को एक करना; दो वस्तुओं का एकीकरण हो जाना। 'ध्यान-योग' का अर्थ हुआ ध्यान द्वारा जीवात्मा का परमात्मा में 'युज' हो जाना; जीवात्मा व परमात्मा का एकीकरण हो जाना। इष्ट का सम्मुख होना ही भक्ति की पराकाष्ठा है। अतः भक्तिग्रन्थ मानस में 'सम्मुख' शब्द एकीकरण का भाव लेकर आया है। यह एकीकरण तब तक नहीं हो सकता, जब तक जीवात्मा परमात्मा के सन्मुख न आ जाये। उपर्युक्त चौपाई में आया हुआ 'मोहिं' शब्द परमात्मा का पर्यायवाची है, क्योंकि वह स्वयं श्रीराम के मुख से निकला है। 'सनमुख होय जीव मोहि जबहीं' का अर्थ हुआ जब जीवात्मा परमात्मा के सम्मुख हो जाये। एकीकरण होने की पहली प्रक्रिया है सम्मुख होना। (प्रत्यक्ष होना, साक्षात्कार व दर्शन के लिए एकरूपात्मक होना) जो अर्थ उपनिषद्-वाक्य में 'ध्यान-योग' शब्द से निकलता है, वही अर्थ चौपाई के इस खण्ड 'सनमुख होय जीव मोहि जबहीं' से निकलता है।

'बहुयोजनम् विस्तीर्णं शैलसमं पापं' का भाव है—वे जन्म-जन्म के अधम कोटि के (विप्र-वध के समान) जघन्य पाप, जिनका नष्ट होना असम्भव है। इस प्रकार अभिव्यक्त करने का विषय है घोर जघन्य पाप; उसे 'विस्तीर्ण पाप शैल'

कहकर अभिव्यक्त किया जाये या 'जन्म-जन्म के अघकोटि विप्र वध-तुल्य पाप-राशि' कहकर। दोनों से अर्थ एक ही निकलता है। 'मानस' ने विभीषण के शरणागति के प्रसंग को प्रस्तुत करके एक अत्यन्त हृदयग्राही उपनिषद्-विचार-तत्व-पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया है। ०००

तीन अवस्थाएँ

मानस के उत्तरकांड में, ज्ञानप्रसंग के सन्दर्भ में काकभुशुण्डि जी का गरुड़ के प्रति कथन है--

तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास तें काढ़ि ॥

—उ० कां०, 117 (ग)

ये तीनों अवस्थाएँ उपनिषद् वर्णित अवस्थाएँ हैं।

1. तस्य त्रय आवतथास्त्रय स्वपनाः —ऐतरेय उ०, 1 । 3 । 11

अर्थात् परमेश्वर की ये तीन अवस्थाएँ व ये तीन स्वप्न हैं।

2. एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु —ब्रह्मविन्दु उ०, 11

अर्थात् एक आत्मा में जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ हैं।

मानस में इन्हीं तीनों अवस्थाओं की ओर संकेत है। जागृत, सुषुप्ति, स्वप्न—इन तीनों अवस्थाओं का साक्षीरूप अवलोकन तथा तुरीय की प्राप्ति अध्यात्म-साहित्य में ज्ञान की संज्ञा प्राप्त करता है। इसीलिए मानस में इनको 'तेहि कपास तें काढ़ि' कहकर उस पर मनन करने का संकेत किया गया है। जिस प्रकार कपास धुनी जाती है उसी प्रकार इन अवस्थाओं पर मनन करके विज्ञान का दीपक जलाया जाता है। ०००

ग्यान पंथ कृपान कै धारा

'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति' ॥ 14 ॥

—कठ० उ०, अ० 1, व० 3

अर्थात् त्रिकालज्ञ ज्ञानी जन, उस तत्व ज्ञान के मार्ग को छुरे की तीक्ष्ण एवं दुस्तर धार के सदृश्य दुर्गम बताते हैं।

उपर्युक्त उद्धरण का निम्नांकित चौपाई के साथ साम्य है—

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं वारा ॥
जो निर्विघ्न पंथ निर्वहई। सो कैवल्य परम पद लहई ॥

—उ० कां०, 1 । 119

मानस	उपनिषद्
'कृपान कै धारा'—	'कृपान कै धारा' से उपनिषद् में उल्लिखित 'क्षुरस्य धारा' का भाव पूर्णरूपेण स्पष्ट होता है।
'ग्यान पंथ'—	'ग्यान पंथ' से श्रुतियों की ओर संकेत है; क्योंकि वे ज्ञान के पंथ का अनुमोदन कर रहे हैं।
'परत खगेस होइ नहिं वारा'—	इस शब्दावली से तत्व ज्ञान के दुस्तर व दुर्गम होने का भाव प्रकट होता है। 'दुरत्यया दुर्गं पथ' इस प्रकार मानस व उपनिषद् में एक ही भाव दो रूपों से रखा गया है। 'यह पथ दुर्गम है व दुस्तर है' अथवा यह कहा जाये कि इससे गिरने में देर नहीं लगती। इन दोनों ही उक्तियों से एक ही अर्थ निकलेगा कि ज्ञान मार्ग कठिन व दुस्तर है।

'कवयो वदन्ति' का भाव 'उपनिषद्-वाक्य' में आया है। जिसका अर्थ है कि त्रिकाल ज्ञानी जन ऐसा कहते हैं। मानस ने यह चौपाई (जिसका कि साम्य प्रस्तुत किया जा रहा है) काकभुशुण्डि के मुख से कहलाई है। मानस में काकभुशुण्डि एक त्रिकाल ज्ञानी के रूप में आये हैं। श्री राम के मुंह में प्रवेश करके वे अनेक ब्रह्माण्ड देख चुके हैं। काकभुशुण्डि के मुख से उक्त कथन कहलाकर 'कवयो वदन्ति' का भाव मानस ने अकथ रूप से अभिव्यक्त कर दिया है। उपनिषद् का कथन है कि त्रिकाल ज्ञानी ऐसा कहते हैं, मानस में एक त्रिकाल ज्ञानी ही के मुख से वचन निकल रहे हैं। इस प्रकार उपनिषद् में जो भाव कथन के रूप में आया है। मानस में वह दृष्टांत के रूप में आया है।

उपनिषद् के उक्त उद्धरण से ठीक पहले आने वाले वाक्य तथा उक्त चौपाई से पहले की चौपाई परखी जाये तो साम्य और सुदृढ़ हो जाता है—

तब फिरि जीव बिबिधि बिधि पावइ संसृति क्लेस।
हरि माया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहगेस॥

—उ० कां०, 118 (क)

एष सर्वेषु भूतेषु गूढ़ोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥12॥

—कठो. उ. अ. 1, व. 3

अर्थात् सबका आत्मरूप परमेश्वर समस्त आत्मरूप प्राणियों में रहता हुआ भी माया के पर्दे में छिपा रहने के कारण सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल सूक्ष्म तत्वों को समझने वाले पुरुषों द्वारा अति सूक्ष्म तीव्र बुद्धि से देखा जाता है।

इस प्रकार उपरोक्त चौपाई एवं उपनिषद् वाक्य का साम्य देखा जा सकता है—

मानस	उपनिषद्
'जीव'	वाक्य में जीव की परिभाषा है 'माया में आबद्ध आत्म तत्व'। मानस में जो 'जीव' शब्द संज्ञा के रूप में प्राप्त है; उपनिषद् में उसी संज्ञा की व्याख्या है। संज्ञा हो; या संज्ञा की व्याख्या हो दोनों का ही अर्थ समान है।
'हरिमाया अति दुस्तर'—	उपनिषद् का कथन है कि माया के पर्दे में छिपा होने के कारण परम ब्रह्म सबको प्रत्यक्ष नहीं होता। माया के पर्दे में छिपा होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं हो सकने का भाव, माया के दुस्तर स्वरूप पर प्रकाश डालता है। उपनिषद् ने माया के दुस्तर स्वरूप का कारण बताया है। मानस ने 'हरि माया अति दुस्तर' कहकर केवल माया की अवस्था प्रकट की है। दोनों के कथन माया की दुस्तरता व्यक्त कर रहे हैं। उसके नीचे के वाक्य में उपनिषद् ने परमेश्वर को प्राप्त करने की रीति बतलायी है।[8] और मानस ने उपर्युक्त चौपाई के नीचे की चौपाई में उस वाक्य पर व्यंग्य कसा है : कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन विवेक। होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥ —उ० कां०, 118 (ख)

एक तो ज्ञान की रीति का समझना ही कठिन है, उसे यदि समझ भी लिया तो उसे साधना अत्यन्त कठिन है और यदि किसी घुनाक्षर न्याय से यह संगत बैठ भी गयी तो फिर अनेक विघ्न! यह व्यंग्य साम्य के लिए प्रस्तुत उपनिषद् वाक्य के इस अंश पर लक्षित है 'दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (केवल सूक्ष्म तत्वों के समझने वाले पुरुषों द्वारा अति सूक्ष्म तीव्र बुद्धि से देखा जा सकता है)। मानस का व्यंग्य है कि यदि जुगत भिड़ गयी और ज्ञान हो भी गया; फिर भी उसको बचाये रखने में अनेकों विघ्न हैं। यह कटाक्ष भी इसका प्रमाण है कि मानस में उपर्युक्त चौपाइयों के प्रेरणास्रोत उपर्युक्त उपनिषद् वाक्य ही थे। ०००

सन्दर्भ

1. तुलसी, सूर, मीरा, कबीर समकालीन थे।
2. अयोध्याकाण्ड, 1141
3. उत्तरकाण्ड, 68 (क)
4. वही, 4162
5. वही, 2162
6. लौकिक भाषा में 'पेट में घुस जाना' या 'पेट की बात जानना' भेद जानने के रूप में प्रयुक्त होता है। भौतिक रूप से पेट को चीरकर उसमें घुस जाने का अर्थ नहीं लिया जाता।
7. 'परमेश्वर समस्त आत्मरूप प्राणियों में रहता हुआ भी माया के पर्दे में छिपा रहता है।' परमात्मा का मायाबद्ध हो जाना ही जीव है।
8. यच्छेद्वाङ्‌मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
   ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥13॥

   —कठो. उ., अ. 1, व. 3

   बुद्धिमान साधक को चाहिए कि वाक् आदि को मन में निरुद्ध करे, उस मन को ज्ञान-स्वरूप बुद्धि में विलीन करे, बुद्धि को महत् तत्व में विलीन करे, महत् तत्व को शान्त स्वरूप परमपुरुष में विलीन करे।

भाव साम्य

एक अवस्था होती है मूल से अनुवाद की और दूसरी होती है मौलिक अन्तर्निहित गर्जना की। मानस में उपनिषदों की यह तत्व-गर्जना स्थान-स्थान पर प्रकट होती है। महाकवि एक प्रसंग बांधते हैं—कथा का; फिर उसमें प्रश्नोत्तर संवाद का प्रसंग बँधता है। एक सामान्य जन वर्ग को कथा के अन्तर्गत आयी यह कथा, एक अन्तर्कथा-सी लगती है, परन्तु महाकवि उसी प्रसंग में, क्रम का किसी प्रकार से व्यवधान किये विना उपनिषदों की तत्व-गर्जना का समावेश उसमें कर लेते हैं। यह मानस की सबसे बड़ी विशेषता है; एक ओर कथा-प्रवाह दूसरी ओर भीड़ और गमक के समान अन्तर्तल में, उपनिषद् जैसे नीरस कहे जाने वाले विषय का गर्जन; और वह गर्जन सरसता में इतना ओतप्रोत है कि उपनिषद् उसमें अपनी नीरसता खो देते हैं। कथा की सरसता में उनकी नीरसता भी सरस हो जाती है। लेखनी की यह दोहरी प्रतिभा मानस की सबसे उल्लेखनीय देन हैं।

स्वारथ मीत

1. स्वारथ मीत सकल जग माहीं। —उ० कां०, 3।47
2. जेहि तें कछु निज स्वारथ होई, तेहि पर ममता कर सब कोई।
—उ० कां०, 4।95

सामान्यत: जिज्ञासुओं का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट नहीं होता है कि 'मानस' की कथा-प्रसंगवश सहज रूप से आयी इन चौपाइयों में भी उपनिषद् वाक्य का गुंजन छिपा होगा।[1] याज्ञवल्क्य अपनी पत्नियों मैत्रेयी व कात्यायनी के बीच अपनी समस्त सम्पत्ति बाँटकर गृहस्थ आश्रम को त्यागकर जाना चाहते हैं। मैत्रेयी उनसे प्रश्न करती है, "यदि धन से भरी समस्त पृथ्वी मुझको मिल जाये तो क्या मैं उसके द्वारा अमरत्व की प्राप्ति कर सकती हूँ?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर में

कहा, "नहीं ! धन से अमरत्व की प्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती।"

मैत्रेयी ने उत्तर दिया, "फिर मैं उसका क्या करूँगी, जो मुझको अमरत्व नहीं दे सकता। मुझको तो जो आप अमरत्व प्राप्ति के लिए उपयुक्त जानते हैं, वह बतायें।" याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को सम्बोधित करते हुए कहा, "तुम सदैव ही मेरी प्रिया रही हो। तुम वही कहती हो जो मुझे प्रिय होता है। बैठो ! और जो मैं कहता हूँ उस पर मनन करो।"[2]

संसार का सारा नाता स्वार्थ से है, यह तो प्रत्येक संसारी जानता है। परन्तु बृहदारण्यक उपनिषद् में स्वार्थ की भावना से सम्बन्धित पंक्तियों को पढ़ते समय संसारी से संसारी आदमी भी विचलित हो उठता है। उन पंक्तियों में मनुष्य के स्वार्थभाव का ऐसा चित्रण किया गया है कि जिसे हम स्वाभाविक प्रेम कहते हैं, उस प्रेम की ओट में कितना स्वार्थ छिपा है, इसका नग्न चित्र प्रत्यक्ष होते ही एक मानसिक आघात-सा लगता है और वह अपना प्रभाव पाठक पर छोड़े बिना नहीं रह सकता। निम्नांकित चौपाइयों द्वारा महाकवि अपने हृदय पर पड़ा यह प्रभाव ही मानस के पाठकों तक पहुँचा रहे हैं।

याज्ञवल्क्य का कथन —

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनन्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रिय भवति। न वा अरे पशुनां कामाव पशवः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति। न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यामनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदँसर्वं विदितम् ॥6॥···
मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति ॥15॥ —बृ० उ०, अ० 4, ब्रा० 5

भावार्थ होता है, पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिए पति प्रिय होता है। पत्नी के प्रयोजन के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती, अपने ही प्रयोजन के लिए पत्नी प्रिय होती है। पुत्र, धन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देवता तथा सभी प्राणी अपने ही प्रयोजन के लिए प्रिय होते हैं। मैत्रेयी आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान हो जाने पर सबका ज्ञान हो जाता है—

भाव साम्य

एक अवस्था होती है मूल से अनुवाद की और दूसरी होती है मौलिक अन्तर्निहित गर्जना की। मानस में उपनिषदों की यह तत्व-गर्जना स्थान-स्थान पर प्रकट होती है। महाकवि एक प्रसंग बाँधते हैं—कथा का; फिर उसमें प्रश्नोत्तर संवाद का प्रसंग बँधता है। एक सामान्य जन वर्ग को कथा के अन्तर्गत आयी यह कथा, एक अन्तर्कथा-सी लगती है, परन्तु महाकवि उसी प्रसंग में, क्रम का किसी प्रकार से व्यवधान किये बिना उपनिषदों की तत्व-गर्जना का समावेश उसमें कर लेते हैं। यह मानस की सबसे बड़ी विशेषता है; एक ओर कथा-प्रवाह दूसरी ओर भीड़ और गमक के समान अन्तर्तल में, उपनिषद् जैसे नीरस कहे जाने वाले विषय का गर्जन; और वह गर्जन सरसता में इतना ओतप्रोत है कि उपनिषद् उसमें अपनी नीरसता खो देते हैं। कथा की सरसता में उनकी नीरसता भी सरस हो जाती है। लेखनी की यह दोहरी प्रतिभा मानस की सबसे उल्लेखनीय देन है।

स्वारथ मीत

1. स्वारथ मीत सकल जग माहीं। —उ० कां०, 3।47
2. जेहि तें कछु निज स्वारथ होई, तेहि पर ममता कर सब कोई।
—उ० कां०, 4।95

सामान्यत: जिज्ञासुओं का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट नहीं होता है कि 'मानस' की कथा-प्रसंगवश सहज रूप सें आयी इन चौपाइयों में भी उपनिषद् वाक्य का गुंजन छिपा होगा।[1] याज्ञवल्क्य अपनी पत्नियों मैत्रेयी व कात्यायनी के बीच अपनी समस्त सम्पत्ति बाँटकर गृहस्थ आश्रम को त्यागकर जाना चाहते हैं। मैत्रेयी उनसे प्रश्न करती है, "यदि धन से भरी समस्त पृथ्वी मुझको मिल जाये तो क्या मैं उसके द्वारा अमरत्व की प्राप्ति कर सकती हूँ?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर में

कहा, "नहीं ! धन से अमरत्व की प्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती।"

मैत्रेयी ने उत्तर दिया, "फिर मैं उसका क्या करूँगी, जो मुझको अमरत्व नहीं दे सकता। मुझको तो जो आप अमरत्व प्राप्ति के लिए उपयुक्त जानते हैं, वह बतायें।" याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को सम्बोधित करते हुए कहा, "तुम सदैव ही मेरी प्रिया रही हो। तुम वही कहती हो जो मुझे प्रिय होता है। बैठो ! और जो मैं कहता हूँ उस पर मनन करो।"[2]

संसार का सारा नाता स्वार्थ सें है, यह तो प्रत्येक संसारी जानता है। परन्तु वृहदारण्यक उपनिषद् में स्वार्थ की भावना से सम्बन्धित पंक्तियों को पढ़ते समय संसारी से संसारी आदमी भी विचलित हो उठता है। उन पंक्तियों में मनुष्य के स्वार्थभाव का ऐसा चित्रण किया गया है कि जिसे हम स्वाभाविक प्रेम कहते हैं, उस प्रेम की ओट में कितना स्वार्थ छिपा है, इसका नग्न चित्र प्रत्यक्ष होते ही एक मानसिक आघात-सा लगता है और वह अपना प्रभाव पाठक पर छोड़े बिना नहीं रह सकता। निम्नांकित चौपाइयों द्वारा महाकवि अपने हृदय पर पड़ा यह प्रभाव ही मानस के पाठकों तक पहुँचा रहे है।

याज्ञवल्क्य का कथन —

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाता प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनन्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रिय भवति। न वा अरे पशुनां कामाव पशवः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति। न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यामनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इद॑ꣳसर्वं विदितम् ॥6॥...
मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति ॥15॥ —वृ० उ०, अ० 4, ब्रा० 5

भावार्थ होता है, पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिए पति प्रिय होता है। पत्नी के प्रयोजन के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती, अपने ही प्रयोजन के लिए पत्नी प्रिय होती है। पुत्र, धन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देवता तथा सभी प्राणी अपने ही प्रयोजन के लिए प्रिय होते हैं। मैत्रेयी आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान हो जाने पर सबका ज्ञान हो जाता है—

मैत्रेयी इतना ही ज्ञान, इतना ही अमृतत्व है।

इस उपनिषद् उक्ति के भावार्थ से जो चौपाइयाँ साम्य रखती हैं वे निम्नांकित हैं—

(1) सुनत सुधासम बचन राम के। गहे सबनि पद कृपाधाम के॥
जननि जनक गुर बन्धु हमारे। कृपा निधान प्रान ते प्यारे॥
तनु धनु धाम राम हितकारी। सब बिधि तुम्ह प्रनतारति हारी॥
असि सिख तुम बिनु देइ न कोऊ। मातु पिता स्वारथ रत ओऊ॥
हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥
सब के बचन प्रेम रस साने। सुनि रघुनाथ हृदयँ हरषाने॥ 4॥
—उ० कां०, 47

एहि···

(2) 'जेहि तें कछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई'॥ 4॥
—उ० कां०, 95

(3) स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा॥ 1॥
—उ० कां०, 96

जिस प्रकार याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को अपने समीप बिठाकर उपदेश दिया है, उसी प्रकार श्री राम प्रजा को अपने समीप बिठाकर, उपरोक्त उपदेश दे रहे हैं।

जिस प्रकार मैत्रेयी के वचन सुनकर ऋषि याज्ञवल्क्य का हृदय हर्षित हुआ था[3] उसी प्रकार प्रजा के वचन सुनकर श्री रामचन्द्र जी का हृदय हर्षित हो रहा है। "सब के बचन प्रेम रस साने, सुनि रघुनाथ हृदयँ हरषाने।"

याज्ञवल्क्य ने जो उपदेश मैत्रेयी को दिये हैं उनका भावार्थ है, कि जगत के समस्त सम्बन्धों का आधार स्वार्थ है। अपना स्वार्थ जिससे सिद्ध होता है वही प्रिय लगता है। ये सम्बन्धी अपने सम्बन्ध के कारण प्रिय नहीं होते, वरन् अपनी स्वार्थ पूर्ति के कारण प्रिय लगते हैं। श्री राम ने भी यही सीख अपनी प्रजा को दी है, निम्नांकित चौपाइयाँ इसका प्रमाण हैं—

'असि सिख तुम बिनु देउ न कोऊ।'
'मातु पिता स्वारथ रत ओऊ।'
'स्वारथ मीत सकल जग माँही'
'जेहि तें कुछ निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई॥' 1॥
—उ० कां०, 96

जिस प्रकार याज्ञवल्क्य द्वारा दिये गये उपदेशों को सुनकर मैत्रेयी की 'मोह-निद्रा' का नाश हुआ है, उसी प्रकार श्री राम जी का उपदेश सुनकर श्रोता 'प्रजा की मोहनिद्रा' भंग हुई है। मोहनिद्रा भंग होने के फलस्वरूप प्रजा ने श्री राम के चरण पकड़कर ये वचन कहे थे—

सुनत सुधासम वचन राम के। गहे सबनि पद कृपाधाम के।।
जननि जनक गुरु बंधु हमारे। कृपा निधान प्रान ते प्यारे।।
तनु धनु धाम राम हितकारी। सब विधि तुम प्रनतारित हारी।।

—उ० कां०, 47

इन चौपाइयों का यह निष्कर्ष निकलता है, कि आप ही हमारे सर्वस्व हैं। आप ही हमको प्राणों से प्रिय हैं; आप ही शरणागत का दुख हरनेवाले हैं, तथा आप ही हमारा सब रूप से हित करने वाले हैं।[4] मैत्रेयी याज्ञवल्क्य संवाद में याज्ञवल्क्य के उपदेश का निष्कर्ष यही है कि परमात्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है, यह परमात्म तत्व अनन्त, अपार और विज्ञानघन ही है। ज्ञान का यह उपदेश उन बौद्धिक प्राणियों के लिए है जो अगोचर को प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु भक्तों के लिए यदि इस अगोचर वाष्प[5] ज्ञान को भक्ति की जल कण गोचरता में बदलकर रखा जाय, तो उसका रूप वही हो जायेगा जो ऊपर की चौपाई में है। ज्ञानी कहेगा परमात्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है, तो भक्त कहेगा मेरे लिए, मेरे उपास्य देव से भिन्न कुछ भी नहीं है—

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम वचन राम पद नेहा।।

यह चौपाई भी वही उपदेश दे रही है, जो याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को दिया था। अन्तर केवल ज्ञान और भक्ति का है। भक्त का सरल हृदय 'नेह' जानता है अतः 'राम पद नेहा' का कथन उसके लिए वही भाव रखता है जो ज्ञानी के लिए 'ध्यानी' हो जाना रखता है।

ऊपर उद्धृत चौपाइयाँ, कथा प्रसंग के संगीत की लय में बहते-बहते ही एक मीड़ व गमक के समान उपनिषद् वाक्य का स्वर सुनाकर फिर प्रसंग के कथा-लय में मिल जाती हैं। जो इन मीड़ व गमक के अनकहे शब्दों का संकेत समझ सकता है वह उसके आनन्द रस में झूम जाता है। ०००

जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई

(1) प्रत्यगात्मानमज्ञानमायाशक्तेश्च साक्षिणम्
एकं ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।।12।।

—कठ० रुद्र० उ०

भावार्थ—अज्ञान और मायाशक्ति के साक्षी प्रत्यगात्मा को 'मैं एक ब्रह्म स्वरूप हूँ' इस रूप में जो जानता है, वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है।

(2) निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टांतवर्जितम्
अप्रमेयमनाद्यं च ज्ञात्वा च परमं शिवम् ।।9।।—ब्रह्मबिन्द० उ०

भावार्थ— विकल्प शून्य, अनन्त, हेतु व दृष्टांत से रहित, अप्रमेय तथा अनादि परम कल्याणमय ब्रह्म को जानकर, विद्वान पुरुष अवश्य ही ब्रह्म रूप हो जाता है।

(3) एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ॥23॥

—कैवल्य० उ०

भावार्थ–बुद्धि के गह्वर में स्थित निष्कल व अद्वितीय सदसत् से परे सर्वसाक्षी मेरे परमात्व स्वरूप को जो जानता है, वह शुद्ध परमात्व स्वरूप को प्राप्त होता है।

अयोध्याकांड में ऋषि वाल्मीकि के आश्रम में श्री रामचन्द्र जी ऋषि वाल्मीकि से यह प्रश्न पूछते हैं—

अस जियँ जानि कहिअ सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्र सहित जहँ जाऊँ ॥3॥

—अयो० कां०, 126

इसके उत्तर में जो चौपाइयाँ वाल्मीकि जी के कथनस्वरूप आयी है, वे वाह्य रूप से देखने में तो विनय भाव से ओत-प्रोत, आराध्यदेव के सन्मुख समर्पणभाव से प्रसंगवश आयी हुई चौपाइयां ही लगती हैं; परन्तु उनमें उपर्युक्त उपनिषद् सूक्तियों की गरिमा है।

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। विधि हरि संभु नचावनिहारे ॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। औरु तुम्हहि को जाननिहारा ॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥

—अयो० कां०, 1-2/127

साम्य स्थापित करने में जो सबसे प्रमुख भाव है, वह है 'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'। जो आपको जानता है वह आपका ही स्वरूप बन जाता है, अतः पहले इसी विषय पर विचार करना उपयुक्त है—

उपनिषद्	मानस
(1) 'एक ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मैव भवति स्वयम्' 'च ज्ञात्वा च परम शिवम्' (कठ० रुद्र० उ०)	—उपनिषद् वाक्यों का कथन है कि जो ब्रह्म के स्वरूप को जान जाता है वह स्वयम् ब्रह्म हो जाता है। मानस ने यही भाव 'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई' कहकर अभिव्यक्त किया है।
'प्रत्यगात्मानमज्ञान मायाशक्तेश्च साक्षिणम्' (कठ० रुद्र० उ०)	—उपनिषद् मन्त्र में प्राप्त 'माया शक्तेश्च साक्षिणम्' (माया शक्ति के साक्षी) का भाव मानस की चौपाई में 'तुम्ह देख निहारे' शब्दों में आया है। 'तुम्ह देख निहारे' का अर्थ हुआ, आप उसको देखने वाले हैं। साक्षी उसे कहते हैं जो देखे। अतः 'तुम्ह देख निहारे' कहना व

उपनिषद्	मानस
	साक्षी कहना एक ही अर्थ रखता है। 'विधि हरि संभु नचावनि हारे' में भी उपनिषद् वर्णित साक्षी भाव है। नचाने वाला नचाने वाली वस्तु से भिन्न होगा। दृष्टा सदैव दृश्य से पृथक् हुआ करता है। दृश्य का ही एक भाग होकर वह उसी दृश्य का दृष्टा नहीं हो सकता, इसी प्रकार नाचने वाला स्वयम् नचाने वाला नहीं हो सकता। उपनिषद् वर्णित 'माया शक्ति' मानस में 'विधि हरि-शंभु' के रूप में व्यक्त हुए हैं, क्योंकि वे ही जगत के माया स्वरूप के सृजक, वर्धक तथा संहारकर्ता हुए; उनको नचाने वाला हुआ उनका साक्षी उनसे पृथक्।

उपनिषद् में 'अज्ञान' जगत के दृश्य का कारण है। जगत इसी का बना हुआ है, अतः चौपाई में यह भाव 'जगु-पेखन' में व्यक्त हुआ है—जगत दृश्य है।

इस प्रकार चौपाई व मानस दोनों ही जगत के दृश्यात्मक होने का भाव व्यक्त कर रहे हैं।

'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई' व 'ब्रह्मैव भवति स्वयम्' आदि उपनिषद् वाक्य, 'अहम् ब्रह्मास्मि' आदि महाकाव्यों के समभावी हैं। मानस के पूर्व का पूर्ण दर्शनशास्त्र साहित्य संस्कृत में था। ऐसे उपनिषद् वाक्यों का पूर्ण भावार्थ यदि मानस में, प्रसंगवश, यदाकदा न आ जाता तो भाषा में लिखे मानसरूपी अध्यात्म साहित्य में एक आवश्यक स्थान रिक्त ही रह जाता। ०००

'कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी'

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वतोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥7॥

—कठो० उ०, अ० 1, व० 2

भावार्थ—बहुतों को तो आत्मतत्व की चर्चा सुनने को भी नहीं मिलती है (क्योंकि उनका हृदय सांसारिक विषयों में ही फँसा रहता है); कुछ सुनते हैं पर उसको समझ नहीं सकते; और न उनमें विषय को धारण करने की सामर्थ्य है। अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से आत्मतत्व समझकर पुनः उसको समझाने वाले ब्रह्मवेत्ता कम ही हुआ करते हैं; ऐसे आत्मज्ञानी से ज्ञान पाकर उसको अपने जीवन में उतारकर

आत्म साक्षात्कार करने वाला तो कोई एक विरला ही होता है।

उपर्युक्त वाक्यों से साम्य रखने वाली चौपाइयाँ—

(1) थिनु धन···
कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी ॥ 5 ॥

—कि० कां०, 16

(2) जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥
सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। राम कृपाँ काहूँ एक पाई॥ 4॥

—उ० कां०, 126

(3) नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म ब्रतधारी॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिराग रत होई॥1॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई॥
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥2॥
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्म लीन बिग्यानी॥
धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥3॥
सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥4॥

—उ० कां०, 54

भावार्थ—हे त्रिपुरारि! हजारों मनुष्यों में कोई एक धर्म के व्रत को धारण करने वाला होता है, और करोड़ों धर्मात्माओं में कोई एक विषय से विमुख, व वैराग्यपरायण होता है। श्रुति भी कहती हैं कि करोड़ों धर्मात्माओं में कोई एक विषय से विमुख व वैराग्यपरायण होता है।

श्रुति कहती है कि करोड़ों विरक्तों में कोई एक यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करता है, और करोड़ों ज्ञानियों में कोई एक जीवनमुक्त होता है। हजारों जीवन-मुक्तों में भी सब सुखों की खान, ब्रह्म में लीन विज्ञानवान पुरुष और भी दुर्लभ हैं। धर्मात्मा, वैराग्यवान, ज्ञानी, जीवनमुक्त और ब्रह्मलीन, इन सबमें भी वह प्राणी अत्यन्त दुर्लभ है जो मद और माया से रहित होकर श्री राम जी की भक्ति में पारायण हो।

चौपाइयों के भावार्थ व कठोपनिषद् के उद्धृत मन्त्र के भावार्थ को देखा जाये तो उनकी वर्णनशैली में महती समानता है। दोनों ही, मानस व उपनिषद् मन्त्र के कथन का तात्पर्य एक ही है। दोनों के कथन का स्वरूप यही है कि सहस्रों के जन-समुदाय में से तत्व-ज्ञानी व रामभक्त कोई एक विरला ही होता है।

'कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई सम्यक ग्यान सकृत कोऊ लहई' इसमें 'श्रुति कहहिं' से कठोपनिषद् के उपर्युक्त वाक्य की ओर ही संकेत है, क्योंकि 'सम्यक ग्यान सकृत कोऊ लहई' का भाव 'आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः'[6] के रूप में उपर्युक्त मन्त्र में ही प्राप्त है।

ऊपर उद्धृत समस्त चौपाइयों में रामभक्ति की दुर्लभता उसी प्रकार व्यक्त है, जिस प्रकार उक्त औपनिषदिक मन्त्र में किसी एक का ज्ञानी होना दुर्लभ कहा गया है।

(1) 'कोउ एक पाव' भगति जिमि मोरी

(2) सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। 'राम कृपाँ काहूँ एक पाई ॥'

(3) 'सब ते सो दुर्लभ' सुरराया। राम भगति रत गत मद माया ॥

उपर्युक्त चौपाई के ये शब्द 'कोउ एक', 'काहू एक' तथा 'सब ते दुर्लभ' ये तीनों रामभक्ति की दुर्लभता पर प्रकाश डाल रहे हैं, तथा इस प्रकार उपनिषद् की उक्ति से मानस का साम्य प्रस्तुत कर रहे हैं।

उपनिषद् उक्ति का भावार्थ है कि विषयासक्ति में लीन होने के कारण बहुत से प्राणी ब्रह्म तत्व की चर्चा सुन तक नहीं सकते। 'श्रवणायाऽपि बहुभिर्यो न लभ्यः' भाष्यकारों के इस मत को चौपाइयों ने स्पष्ट रूप से लिख दिया है—

'धर्म सील कोटिक महँ कोई
विषय विमुख विराग रत होई'
'धर्म सील'···विग्यानी'

उपरोक्त शब्दावली विषयानुरक्ति पर प्रकाश डालती है। उपनिषद् का कथन है कि विषयानुरक्ति के कारण बहुत से प्राणी ब्रह्म तत्व का श्रवण नहीं कर पाते, मानस का कथन है कि 'कोई-कोई ही विरक्त या विषय-विमुख होता है।' दोनों के ही कथन का भावार्थ एक है।

उपर्युक्त कठोपनिषद् का वाक्य निम्नांकित गीता की श्लोक रचना में प्रेरणादायक रहा है, यही वाक्य मानस की उपर्युक्त चौपाइयों का भी प्रेरणादायक रहा होगा, दोनों की समानता इसमें सन्देह नहीं छोड़ती है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ॥3॥—गीता, अ० 7

०००

काल कलेवा

(1) यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ 25 ॥

—कठो० उ०, अ० 1, वल्ली 2

भावार्थ—जिस परमेश्वर के ब्राह्मण, क्षत्रिय अर्थात् सम्पूर्ण प्राणीमात्र भोजन (ओदन-चावल) हो जाते हैं। सबका संहार करने वाली मृत्यु, जिसका उपसेचन (भोज्य वस्तु के साथ लगाकर खाने वाली तरकारी या व्यंजन) बन जाती है वह

परमेश्वर जहाँ जैसा है वह ठीक-ठीक कौन जानता है ?

(2) स ऐक्षत् यदि वा इममभिमऽँस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति स तया वाचा तेनात्मनेऽँसर्वम सृजत यदिदं किंचर्चो यजऽँपि सामानि च्छंदांसिऽँयज्ञान् प्रजाः पशून्। स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत। सर्वं वा अत्तीत्ति तदऽँदितेरदितित्वं सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदित्वं वेद ॥5॥

—बृ० उ०, प्रथम अध्याय, द्वितीय ब्राह्मण

भावार्थ —उसने विचार किया यदि मैं उसे मार डालूँगा तो यह थोड़ा-सा ही अन्न करूँगा। अतः उसने इस वाणी व मन के द्वारा उन सबको रचा। जो कुछ भी ये ऋग, यजु, साम, छन्द, यज्ञ, पूजा और पशु हैं, उसने उनकी रचना की; उन्हीं सबको खाने का विचार किया, वह सबको खाता है। यही उस अदिति का अदितित्व है।

उपर्युक्त वाक्यों के भावार्थ से यह ज्ञात होता है कि जगत के समस्त जीव भगवान के भोज्य पदार्थ हैं।

यही भाव मानस की निम्नांकित चौपाइयों से प्राप्त होता है—

अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जगु काल कलेवा ॥4॥

—उ० कां०, 94

हे नाथ ! नाग, मनुष्य, देवता, चर-अचर जीव तथा यह सारा जगत काल का कलेवा है।

कठोपनिषद् के वाक्य में जगत मृत्यु का उपसेचन है; मानस में जगत काल का कलेवा है। 'उपसेचन पूर्ण भोजन' नहीं होता वह केवल भोजन का एक अंश होता है। इसी प्रकार 'कलेवा' भी भोजन का एक अंश मात्र है, पूर्ण भोजन नहीं है। अतः इस उपमा में भी भावों की समानता है। ०००

या निशा सर्वभूतानाम्

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥69॥

—गीता, अ० 2

भावार्थ—सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के लिए जो रात्रि है, उसमें नित्य-शुद्ध बोध-स्वरूप परमानन्द भगवत को प्राप्त हुआ योगी जगता रहता है, और जिस नाशवान क्षणभंगुर सांसारिक सुख में सब भूत प्राणी जागते है, तत्व को जानने वाले मुनि के लिए वह रात्रि है।

उपर्युक्त वाक्य से साम्य रखती हैं, निषाद को सम्बोधित करके लक्ष्मण जी

द्वारा कही गयी निम्नांकित चौपाइयाँ—

एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी ॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास बिरागा ॥2॥

—अयो० कां०, 93

उपर्युक्त चौपाई का भावार्थ है–इस जगतरूपी रात्रि में ऐसे योगी लोग जागते है, जो परमार्थी हैं, तथा जगत के प्रपंच से छूटे हुए हैं। जगत के जीवों को जगा हुआ तब जानना चाहिये, जब सम्पूर्ण भोग-विलास से वैराग्य हो जाये।

साम्य

उपनिषद् वाक्य एवं मानस की चौपाई दोनों ने ही रात्रि का वर्णन एक रूप से किया है। चौपाई ने उसको जगतरूपी रात्रि 'जग-जामिनी' कहा है; वाक्य ने उसको 'सम्पूर्ण भूत प्राणियों की रात्रि' 'या निशा सर्वभूतानां' कहा है—दोनों का भावार्थ है जगतरूपी तामसिक रात्रि। इस जगत रूपी तामसिक रात्रि को दोनों ने अपने-अपने शब्दों में अभिव्यक्त किया है, दोनों में योगी के स्वरूप का वर्णन भी एक ही समान है। चौपाई ने योगी को परमार्थी व जगत के प्रपंच से छूटा हुआ कहा है, तो उपनिषद्-वाक्य ने योगी को परमानन्द की अवस्था में भगवत् स्वरूप को प्राप्त हुआ कहा है। वाक्य एवं चौपाई में योगी के प्रति, जिन विशेषणों का प्रयोग हुआ है, उन दोनों का भावार्थ है, 'ऐसा प्राणी जो कि सांसारिक प्रपंचों से मुक्त एवं भगवतानुरागी है।'

उपनिषद् के वाक्य तथा मानस की चौपाई की अन्तिम कड़ी का भाव भी एक ही है। दोनों का कथन है कि सांसारिक सुखों की ओर से विमुख प्राणी जाग्रत माना जाता है। उपनिषद् वाक्य में यह भाव कुछ गुप्त रूप से घुमाकर व्यक्त है, तो मानस में लोक कल्याण की भावना से यह भाव सीधा खोलकर स्पष्ट रूप से वर्णित है। ०००

'दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें'

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥37॥

—गीता, अ० 2

भावार्थ—हे अर्जुन! युद्ध करने के लिए निश्चय वाला होकर खड़ा हो, क्योंकि यदि मर गया तो स्वर्ग को प्राप्त होगा और यदि जीत गया तो पृथ्वी को भोगेगा।

दोनों ही हाथों में लड्डू होने का यह भाव मानस की निम्नांकित चौपाइयों में मिलता है—

स्वामि काज करिहउँ रन रारी। जस धवलिहउँ भुवन दस चारी॥
तजऊँ प्रान रघुनाथ निहोरें। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें॥3॥

—अयो० कां०, 190

भावार्थ—स्वामी के काज के लिए मैं युद्ध करूँगा। जीत गया तो चौदहों लोकों में मेरा यश होगा, और यदि प्राण चले गये तो प्राण भगवान के निमित्त जायेंगे। अत: मेरे दोनों हाथों में लड्डू हैं।

साम्य

'कृतनिश्चय:'—निश्चयवान शब्द विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भगवान् 'अर्जुन' से कह रहे हैं कि तू निश्चय वाला होकर युद्ध करने को खड़ा हो। यहाँ 'निषादराज' युद्ध करने के लिए स्वयम् 'निश्चयवान' होकर खड़े हैं। निश्चयवान होकर युद्ध करने का जो आदेश अर्जुन को मिल रहा है; उस आदेश की प्रतिक्रिया निषादराज पर हो रही है; वे निश्चयवान होकर युद्ध करने को अग्रसर हो रहे हैं। (स्वामि काज करिहउँ रन रारी)।

युद्ध की जीत व हार दोनों में ही तुम्हारा भला है यह 'समझाया जा रहा' है अर्जुन को; और समझ में आ रहा है निषादराज के। (दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे)।

एक ओर भगवान (श्रीकृष्ण) युद्ध की 'प्रेरणा' दे रहे हैं (गीता), दूसरी ओर भगवान (श्री राम) स्वयं युद्ध की प्रेरणा के 'निमित्त' बने है (मानस)।

श्री कृष्ण अर्जुन को जिस 'कीर्ति' के विनष्ट' हो जाने के भय से युद्ध करने को उत्साहित कर रहे हैं, उसी 'कीर्ति की प्राप्ति' के लिए निषादराज युद्ध करने को प्रेरित हैं। (जस धवलिहउँ भुवन दस चारी)।

ये श्लोक गीता की 'युद्ध-भूमि' में कहे गये हैं; मानस में भी यह चौपाई 'युद्ध के आलंकारिक' 'उपक्रम' के बीच आयी है।

मानस में यह चौपाई निषादराज के मुख से कहलायी गयी है। निषादों की गणना शूद्रों में होती थी। शूद्र तमस प्रधान समझे जाते हैं। अत: मानस में तमस प्रधान जाति से सम्बन्धित होकर यह चौपाई आयी है। श्री कृष्ण जिस अर्जुन को सम्बोधित करके यह श्लोक कह रहे हैं, वह अर्जुन चरित्र से रजस प्रधान होते हुए भी, उस समय मोहवश तमस प्रधान होकर युद्ध-भूमि छोड़कर जाना चाहता है। इस प्रकार ये दोनों ही कथन 'तमस प्रधान व्यक्तियों' से सम्बन्धित हो जाते हैं। एक ओर तमस प्रधान जाति से सम्बन्धित होकर चौपाइयाँ प्रस्तुत की गयी हैं, दूसरी ओर तमस के वशीभूत हुए युद्ध-भूमि में मुख मोड़ने के लिए प्रयत्नशील एक शूरवीर को सम्बोधित करके यह श्लोक कहा गया है।

○○○

'रीझत राम जानि जन जी की'

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥30॥
—गीता, अ०9

भावार्थ—यदि कोई अतिशय दुराचारी भी मुझे भक्ति से निरन्तर भजता है, तो वह साधु मानने योग्य है, क्योंकि उसने यह निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर-भजन के समान अन्य कुछ भी नहीं है।

गीता के इस श्लोक का साम्य मानस की निम्नांकित चौपाइयों से स्थापित होता है—

अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अघ नरकहुँ नाक सकोरी ॥
समुझि सहम मोहि अपडर अपनें। सो सुधि राम कीन्हि नहिं सपनें ॥1॥
सुनि अवलोकि सुचित चख चाही। भगति मोरि मति स्वामि सराही ॥
कहत नसाइ होइ हियँ नीकी। रीझत राम जानि जन जी की ॥2॥
रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की ॥
जेहिं अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥3॥
सोइ करतूति विभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी ॥4॥
—बा० कां०, 29

भावार्थ—यह मेरी बहुत बड़ी ढिठाई है। मेरे पाप को सुनकर नरक ने भी नाक सिकोड़ ली है। यह सोचकर मुझे भय लगता है, परन्तु रामचन्द्र जी ने स्वप्न में भी इस पर ध्यान नहीं दिया। उल्टे उन्होंने तो इस बात को सुनकर, देखकर और अपने सुचित्त रूपी चक्षु से निरीक्षण कर मेरी भक्ति व बुद्धि की सराहना की। क्योंकि कथन कुछ भी हो, हृदय में अच्छापन होना चाहिए। मैं तो उनका सेवक बनने योग्य न मानकर अपने को दीन ही मानता हूँ। श्री रामचन्द्र जी भी हृदय की स्थिति जानकर रीझ जाते हैं। प्रभु के हृदय में अपने भक्तों की भूल-चूक याद नहीं रहती, वे तो उनके अच्छे कामों को ही याद करते हैं। जिस पाप के कारण उन्होंने बालि को मारा वैसी ही कुचालि फिर सुग्रीव ने की, परन्तु रामचन्द्र जी ने उसका बिलकुल ध्यान नहीं किया।

श्रीमद्भगवत गीता के निर्दिष्ट श्लोक में, जो भाव 'सिद्धान्त रूप' में रखा गया है, मानस ने वही भाव 'दृष्टांत रूप' में आपबीती अनुभव के रूप में प्रस्तुत किया है। दोनों का कथन एक ही है कि भगवान हृदय की भावना को देखते हैं। वे भक्त के कर्मों की ओर ध्यान नहीं देते। वह हृदय की प्रीति पर रीझते हैं।

गीता के श्लोक में 'सुदुराचारो' (अतिशय दुराचारी) में अतिशय शब्द का प्रयोग पापों की भयंकरता दिखाने के अभिप्राय से किया गया है। मानस ने अति-

क्षय पापों के भाव को लोक व्यवहार की भाषा में 'नरकहुँ नाक सकोरी' कहकर व्यक्त किया है।

दुराचार के वर्णन में 'अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी' के अन्यथा सुग्रीव, व विभीषण के वर्णन, उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।[8] उनके दुष्ट व्यवहार व कुचाल के पश्चात् भी भगवान का उनको स्मरण करना, इस बात का द्योतक है कि भगवान ने उनके हृदय की प्रीति देख ली है। गीता के श्लोक में यह भाव 'भजते मामनन्यभाक्' के रूप में अभिव्यक्त किया गया है।

सुग्रीव एवं विभीषण अपनी कुचाल के पश्चात् भी साधु रूप में अंगीकार किये जाते हैं। ये दृष्टांत रूप में रखे गये हैं। गीता के श्लोक का कथन है कि जो मुझे निरन्तर भजता है वह साधु मानने के योग्य है। उनका दुष्ट व्यवहार मेरी प्रीति पाने में बाधक नहीं होता। सुग्रीव व विभीषण ने कुचाल की, परन्तु वे परमेश्वर को निरन्तर भजते हैं अत: उनको भगवान की प्रीति प्राप्त है और जगत में वे साधु समझे जाते हैं। इस प्रकार दृष्टांत रूप से बहुत कुछ जो अकथ्य था, वह मानस ने कह दिया है। ०००

जीव नित्य

(1) प्रगट सो तनु तव आगें सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम रोवा ॥3॥

—कि० कां०, 11

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥24॥

—गीता, अ० 2

इस प्रकार गीता के श्लोक एवं मानस की चौपाइयाँ आत्मा के नित्य स्वरूप की स्थापना कर रहे है—

(2) छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा ॥2॥

—कि० कां०, 11

'महाभूतान्यहंकारो' ॥5॥

—गीता, अ० 13

मानस की चौपाई ने, गीता के श्लोक में आये महाभूतों का स्वरूप स्पष्ट कर, उसकी गणना करा दी हैं। ०००

तामस देहा

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्
प्रमादालस्य निद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥3॥

—गीता, अ० 14

भावार्थ—अज्ञान से उत्पन्न तमोगुण, आलस्य, प्रमाद तथा निद्रा से मनुष्य को घेरे रहता है, यह तमोगुण समस्त देहधारियों को मोहित किये रहता है।

ये ही भाव मानस में कवित्वमय ढंग से वर्णित हैं—

जौं करि कष्ट जाइ पुनि कोई। जातहिं नीद जुड़ाई होई॥
जड़ता जाड़ विषम उर लागा। गएहुँ न मज्जन पाव अभागा॥
करि न जाइ सर मज्जन पाना। फिरि आवइ समेत अभिमाना॥

—बा० कां०, I-2139

गीता के उपर्युक्त श्लोक एवं मानस की चौपाई का भाव-साम्य एक ही है। तमोगुण-प्रधान द्वारा भजन में जो बाधाएँ होती हैं, उनका रूप दोनों में एक ही प्रकार से अभिव्यक्त होता है।

'जड़ता तमोगुण का रूप है।' गीता के श्लोक में 'तमोगुण' शब्द का प्रयोग किया गया है, तो मानस ने तमोगुण के प्रभाव 'जड़ता' शब्द का प्रयोग किया है। मानस उपनिषद् विषय का जन सुलभाय करके अभिव्यक्त करती है। साधारण प्राणी को जड़ता का ज्ञान तो रहता है, परन्तु उसको यह पता नहीं रहता कि तमोगुण क्या है। अतः गीता के श्लोक में गुणवाचक शब्द आया है, तो चौपाई में उसके स्थान पर भाव-वाचक।

गीता के श्लोक में 'प्रमाद' शब्द से जो भाव अभिव्यक्त किया गया है, मानस में वही अभिव्यक्ति 'अभिमान' शब्द से हो गयी है। अभिमान की उत्पत्ति प्रमाद से होती है—प्रमाद क्या वस्तु है, इसे सब नहीं समझ सकते, परन्तु अभिमान क्या है इसे सब समझते हैं। ('प्रमादालस्य'—'जातहिं नीद जुड़ाई सोई')।

निद्रा शब्द का प्रयोग दोनों में एक समान है। ('निद्राभिस्तन्निबध्नाति', 'जातहिं नीद जुड़ाई होई')।

मानस में निद्रा का प्रभाव भी 'जुड़ाई' शब्द से व्यक्त है। 'गएहुँ न मज्जन पाव अभागा' आदि शब्द पुरुषार्थहीनता तथा आलस्य (प्रमदालस्य) सूचक है। इस प्रकार श्लोक व चौपाई का भाव-साम्य पूरा उतरता है।

मानस की एक अन्य चौपाई भी गीता के उपर्युक्त श्लोक के भाव को संक्षेप में अभिव्यक्त करती है।

'होइहि भजनु न तामस देहा' ॥3॥

—अर० कां०, 23

सन्दर्भ

1. चतुर्थ अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मणम् ॥3॥ —बृहदार० उपनिषद्
2. बृह० उ०, अ० 2, ब्रा० 4/4
3. धन्य ! अरी मैत्रेयी तू पहले भी मेरी प्रिया ही रही है, और इस समय भी मुझे प्रिय लगने वाली बात ही कह रही है। आ बैठ जा, मैं तेरे प्रति इस अमरत्व की बात कहूँगा। तू व्याख्यान किए हुए मेरे वाक्यों के अर्थ का चिन्तन करना।

   —बृह० उ०, द्वियीय अध्याय, ब्रा०4
4. बृ० उ०, अ० 4, ब्रा० 5/16

   'मैत्रेयेतावदरे खल्वमृतत्वमिति' ॥15॥ —बृ० उ०, अ०4, ब्रा० 5

   मैत्रेयी इतना ही ज्ञान, इतना ही अमृतत्व है।
5. भाप
6. आत्मज्ञानी से ज्ञान प्राप्त करके आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करनेवाला ज्ञाता भी आश्चर्यमय (परम दुर्लभ) है।
7. गीता, अ० 2—34/35/36
8. फिरि सुकंठ सोई कीन्ह कुचाली। सोई करतूत बिभीषन केरी ॥4॥

   —बा० कां०, 29
9. यदि कोई मनुष्य कष्ट उठाकर वहाँ तक पहुँच भी जाये, तो वहाँ जाते ही उसको नींदरूपी जूड़ी आ जाती है। हृदय में बड़ा कड़ा जाड़ा लगने लगता है, जिससे वहाँ जाकर भी वह अभागा स्नान नहीं कर पाता। वह अभिमान सहित वापस लौट आता है।

अलंकार साम्य

रथ की उपमा

औपनिषदिक काल में जुते हुए रथ की उपमा शरीर से दी जाती थी। इन्द्रियों को अश्व, मन को लगाम, व बुद्धि को सारथी तथा रथ को मनुष्य शरीर मानकर जुते हुए रथ में मनुष्य शरीर की सदृश्यता देखी जाती थी।

वाह्य विषय-मुखी उन्मुख इन्द्रियाँ, वे मुंहजोर अश्व थे जिन्हें मन द्वारा बुद्धि को साधना था। अतः बुद्धि सारथी के हाथ में मन की लगाम थी, यदि बुद्धि में बिगड़े अश्वों को थामने की क्षमता नहीं थी, तो वह उसी परिणाम को प्राप्त होता था, जिसको असंयमित इन्द्रियों वाला पुरुष—दोनों ही गर्त में जा गिरते थे। इन्द्रिय अश्व, मन की लगाम द्वारा बुद्धि के संकेत पर चलते हैं, तो वे गन्तव्य स्थान (अपने लक्ष्य) पर पहुँच जाते हैं।

'जीवन-मृत्यु' रथ का मार्ग है, उसी मार्ग पर मनुष्य का रथ चलता है। जीवन से आरम्भ होता है यह मार्ग, और मृत्यु पर समाप्त हो जाता है। संसार के नाना विषय या पदार्थ रथ मार्ग के दृश्य हैं। हर हरी झाड़ी के सम्मुख खड़े होकर चरने वाले अश्व अपने गन्तव्य स्थान की प्राप्ति उसी प्रकार नही कर पाते, जिस प्रकार हर प्रलोभन में फँसने वाली इन्द्रिय, मनुष्य को अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं करने देती।

मनुष्य शरीर व रथ की इन सदृश्यताओं के कारण ही रथ को मनुष्य शरीर की उपमा दी गयी हैं। वे उपमाएँ जिस रूप में उपनिषद् वाक्यों व मानस चौपाइयों में प्राप्त हैं वैसी नीचे अंकित हैं—

(1) ओंकार रथमारुह्य विष्णुं कृत्वाय सारथिम्।
ब्रह्मलोकपदान्वेषी रुद्राराधनतत्परः ॥2॥

—अमृत० उ०

भावार्थ—ओंकार के रथ में बैठकर भगवान विष्णु को सारथी बनाकर

भगवान रुद्र की साधना में तत्पर रहना चाहिए। (शरीर को प्रणव रूप मानो, स्वयं को सारथी न मानकर विष्णु जो जगत का संभरण व पालन करते हैं उनको ही इस रथ का सारथी मानो)।

(2) तावद्रथेन गन्तव्यं यावद्रथपथि स्थितः।
स्थित्वा रथपथिस्थानं रथमुत्सृज्य गच्छति।।3।।

—अमृत० उ०

भावार्थ—तब तक रथ से चले, जब तक रथ चलने योग्य मार्ग पर ही स्थित हो, जब वह मार्ग पूरा हो जाता है, तब उस मार्ग पर खड़े हुए रथ को छोड़कर मनुष्य स्वतः आगे चला जाता है।

इस उपमा के रूप में जो कुछ भी कहा गया है उसका आशय है, कि जब तक शरीर चले, वह संसार जो उसके चलने योग्य मार्ग है, उस पर वह स्थित रहे और चलता रहे; परन्तु इस संसार-पथ की जीवन-यात्रा समाप्त होने पर जब वह मार्ग समाप्त हो जाता है, तब जिस प्रकार मार्ग समाप्त होने पर प्राणी रथ को छोड़कर आगे बढ़ जाता है, उसी प्रकार शरीर के छूट जाने पर उसके अन्दर की जो वाहक आत्मा है वह आगे बढ़ जाती है। जिस प्रकार भौतिक रथ को छोड़कर प्राणी अपने संकल्पित गन्तव्य स्थान की ओर पैदल आगे बढ़ जाता है, उसी प्रकार इस शरीर रूपी रथ को छोड़कर, अपने संकल्प के अनुसार आत्मा भी अपने संकल्पित स्थान की ओर चली जाती है। उपनिषद् का तात्पर्य है, कि शरीर वह रथ है, जिससे संकल्पित ध्येय की पूर्ति करनी चाहिए। उस ध्येय की पूर्ति के पश्चात्, शरीर की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस प्रकार यह कल्पना की गयी कि रथ का आशय 'शरीर रूपी रथ' के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए।

(3) आत्मा౮ रथिनं विद्धि शरीर౮ रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।3।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयां౮स्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।4।।
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ।।5।।
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ।।6।।

—कठो० उ०, अ० 1, व० 3

भावार्थ—जीवात्मा को रथ का स्वामी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, तथा मन को लगाम समझो। इन्द्रियाँ घोड़े, विषय उन घोड़ों के विचरण करने का मार्ग तथा शरीर, इन्द्रियों व मन के साथ रहने वाला जीवात्मा ही भोक्ता है, ऐसा कहा जाता है। सदा अविवेकी बुद्धि से, अवशीभूत मन से रहने वाले प्राणी

की इन्द्रियाँ असावधान सारथी के दुष्ट घोड़े के समान हो जाती हैं। जो सदा विवेकयुक्त बुद्धि वाला है, जो मन को वश में किये रहता है, उसकी इन्द्रियाँ सावधान सारथी के अच्छे घोड़ों की भाँति वश में रहती हैं।

प्रणान्प्रपीड्येह···
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥9॥

—श्वेता० उ०, अ० 2

भावार्थ—दुष्ट घोड़ों से युक्त रथ को जिस प्रकार सारथी सावधानीपूर्वक गन्तव्य मार्ग में ले जाता है, उसी प्रकार इस मन को सावधान होकर वश में किये रहो। ०००

मानस में प्राप्त रथ की उपमा

रावनु रथी विरथ रघुबीरा। देखि विभीषन भयउ अधीरा॥
अधिक प्रीति मन भा संदेहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा ॥1॥
नाथ न रथ नहिं तन पदत्राना। केहि विधि जितब वीर बलवाना॥
सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहिं जय होइ सों स्यंदन आना ॥2॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिवेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥3॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा ॥4॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिली मुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा ॥5॥
सखा ! धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके ॥6॥
महा अजय संसार रिपु जीति सकर सो वीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मति धीर ॥80॥ (क)

—लं० कां०

भावार्थ—हे नाथ ! न आपके पास रथ है, न तन की रक्षा करने वाला कवच है, और न पैरों में पदत्रान ही हैं। यह बलवान रावण कैसे जीता जायेगा ? श्री राम जी ने कहा, 'हे सखा सुनो ! जिस रथ से जय होती है, वह रथ दूसरा ही है। शौर्य और धैर्य उस रथ के पहिये हैं। सत्य और शील उसकी मजबूत ध्वजा और पताका हैं। बल, विवेक, दम, दया-समता रूपी डोरी ये रथ में जुड़े हुए हैं, ईश्वर का भजन ही चतुर सारथी है, वैराग्य ढाल है, और संतोष तलवार है, दान फरसा है, बुद्धि प्रचंड शक्ति है, श्रेष्ठ विज्ञान कठिन धनुप है। हे सखा ! ऐसा

धैर्यमय रथ जिसके पास हो उसके लिए जीतने को कहीं शत्रु ही नहीं हैं। हे धीर बुद्धि वाले सखा सुनो ! जिसके पास ऐसा दृढ़ रथ हो वह वीर संसार रूपी महान दुर्जय शत्रु को भी जीत सकता है।

रथों की चर्चा करते समय एक और रथ हमारे मानस-पटल पर उभरता है। वह है गीता में प्राप्त होने वाला बहुचर्चित रथ। श्री कृष्ण जिसके सारथी हैं और अर्जुन जिस पर युद्धारूढ़ है।[1] गीता की समस्त पृष्ठभूमि पर उस रथ की छाया पड़ रही है। इस रथ के साथ महाभारत के युद्ध का चरम उत्कर्ष व चरम अपकर्ष[2] इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि वह रथ सहसा घटना परिवर्तन के कारण बौद्धिक रूप से अविस्मरणीय हो जाता है। पहली घटना है, अर्जुन का युद्ध के लिए तत्पर होकर धनुष उठाकर, रथ को रणक्षेत्र में ले जाने के लिए श्री कृष्ण से कहना।[3] उसी समय दूसरी घटना घटती है। धनुष को फेंककर अर्जुन का विषादयुक्त होकर युद्ध करने से मना करना, उस समय ऐसी प्रतीति होती है कि युद्ध सम्भवतः होगा ही नहीं।[4] पूर्णतः विपरीत भावनाओं की दो घटनाएँ इस नाटकीय ढंग से इस रथ के साथ संलग्न हैं कि पाठक के मानस-पटल पर वे एक अमिट छाप छोड़ जाती हैं।

गीता उपनिषदों का सार मानी गयी है।[5] उपनिषदों के समस्त भाव गीता में संगृहीत माने जाते हैं, गीता में स्थान-स्थान पर उपनिषद् वाक्य भी वैसे के वैसे ही उतर आये हैं। यह दृष्टिकोण सम्मुख रखकर, यदि यह कल्पना की जाये कि उपनिषदों में शरीर का रूपक लेकर वर्णित रथ-उपमा ही गीता की रथ-उपमा का आधार है तो अतिशयोक्ति न होगी। गीता के समस्त जिज्ञासु पाठक यह जानते ही हैं कि अर्जुन के रूप में समस्त जीवात्माओं की शंका समाधान हो रही है, तथा यह जीवात्मा का शरीर रूपी रथ है जो भवयुद्ध करते हुए विषाद को प्राप्त हुआ है। वास्तव में रथ-सारथी जगतात्मा परमात्मा ही है; जो श्री कृष्ण के रूप में ज्ञान-उपदेश दे रहे हैं।

गीता में प्राप्त रथ के रूपक को इस संदर्भ में देखने से उसका उपनिषद् निहित भाव स्पष्ट हो उठता है। कर्मेन्द्रियों के पाँच घोड़ों वाला यह शरीर रूपी रथ है, जिस पर जीवात्मा (अर्जुन) भावयुद्ध के प्रति युद्धारूढ़ होने पर अपने में हीन भावना के कारण विषाद को प्राप्त होता है। परमात्मा की कृपा के द्वारा जगत का वास्तविक नश्वर स्वरूप प्रकट होने पर वह अपने-आपको निमित्त मात्र जानकर पुनः युद्ध करने को अग्रसर होकर विजयी होता है।

उपनिषदों में वर्णित रथ का रूपक, चित्र-रूप में महाभारत में अलंकृत किया गया है, और सम्पूर्ण गीता की पृष्ठभूमि बन गया है। वहाँ रथ उस शरीर के रूप में आया है, जो कर्मेन्द्रिय क्षेत्र में उतरकर शत्रुओं को देखकर भयभीत हो उठा है। उसमें अर्जुन का स्वर एक भयातुर संशयग्रस्त प्राणी के रूप में उभरता है। गीता में रथ का 'यह शरीरात्मक रूपक उपनिषदों से ही आया है।' फलतः मानस

में प्राप्त रथ-रूपक, औपनिषदिक-रथ-रूपक से, अपनी प्रेरणा प्राप्त करता प्रतीत होता है।

साम्य

गीता के रथ के समान मानस का रथ भी युद्धारूढ़ रथ है (अतः ध्वजा, पताका, कृपाना, सक्ति, प्रचंडा, कोदंड आदि अस्त्र)

उसी संशयात्मक भयातुर अर्जुन के प्रश्न के समान विभीषण का स्वर है। (केहि बिधि जितब बीरबलवाना)—लं० कां०, 80।2

विभीषण व अर्जुन दोनों ही पात्र भावात्मक रूप से भगवान के प्रति शरणागत हैं (त्राहि-त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीरा)[6] (आयें सरन तजउँ नहिं ताहू)[7]

दोनों ही को उनके आराध्य देवों ने सखा स्वरूप में स्वीकार किया है (सुनहु सखा निज कहऊँ सुभाऊ)[8] (सखा धर्ममय अस रथ जाके)[9] (सुनहु सखा मति धीर)[10] (सुनहु सखा कह कृपा निधाना)—लं० कां०, 80 । 2

दोनों ही ने अपने से बलवान प्रतीत होने वाले वैरियों से युद्ध चे है।[11]

दोनों ही के वैरी अपने कुटुम्बी हैं। (रावण-विभीषण, दुर्योधन- धिष्ठिर)

दोनों ही अपने कुटम्बियों द्वारा अपमानित हुए हैं (असि कहि कीन्हसि चनर प्रहारा)[12]

दोनों ही के हृदय में उनके प्रेमस्वरूप इष्ट ने राज्य की लालसा जगाई है। (अस कहि राम तिलक तेहि सारा)[13]

> मरइन रिपु श्रम भयउ बिसेषा।
> राम बिभीपन तन तब देखा ॥1।102॥
> खेचि सरासन श्रवन लगि छाड़े सर एकतीस।
> रघुनायक सायक चले मानहुँ काल फनीस ॥102॥

—लं० कां०

जिस प्रकार वास्तव में अर्जुन को प्रतीक मानकर, श्री कृष्ण ने गीता का उपदेश उन समस्त प्राणियों के प्रति दिया है, जो जीवन-युद्ध में अग्रसर होते हुए विषाद को प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार सखा विभीषण को सम्बोधित करके कहे गये वचन केवल राम सखा विभीषण के लिए सम्बोधित नहीं हैं। वे मानस के समस्त सखा रूप पाठकों के प्रति सम्बोधित हैं। इसकी पुष्टि, वर्णित रथ के अन्तिम दोहे तथा स्वयं विभीषण की प्रतिक्रिया से होती हैं।

> महा अजय संसार रिपु जीति सकई सो वीर।
> जाके अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मति धीर॥

—लं० कां०,80

सुनि प्रभु वचन विभीषन हरषि गहे पद कंज ।
एहि मिस मोहि उपदेसहु राम सखा सुख पुंज ॥
—लं० कां०, 1 । 80 (ख)

इस प्रकार अर्जुन व विभीषण में एक विचित्र साम्य स्थापित होता है। इतना साम्य होने पर भी, मानस में प्राप्त राम के श्री मुख द्वारा वर्णित रथ में, दोनों ही (उपनिषद् व गीता) रथों से अपनी एक अलग विभिन्नता है; अपना एक अलग अस्तित्व है। अतः दोनों में अद्भुत साम्य होते हुए भी, वह अलग अपनी ही प्रतिष्ठा में मान्य है।

कृष्ण रथारूढ़ हैं और राम विरथी हैं।

(रावनु रथी विरथ रघुबीरा) —लं० कां०, 1 । 80

कृष्ण का प्रण है कि वे युद्ध में अस्त्र नहीं उठाएँगे इधर राम ही रावण वध के निमित्त हैं।।

कृष्ण का रथ इतना साकार है कि पूरी गीता की पृष्ठभूमि है, राम का रथ केवल भावात्मक कल्पना है। वह कृष्ण के रथ के समान भौतिक नहीं है; भौतिक रूप सें अस्तित्व विहीन होकर भी मानसिक रूप से अस्तित्वमान है।

उपनिषद् व गीता का रथ कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर बने, इस शरीर का रूपक है; रथ का भावार्थ शरीर के रूप में निकलता है (शरीर कर्मेन्द्रिय व ज्ञानेन्द्रियों का जगत है) मानस का वर्णित रथ कर्मेन्द्रिय व ज्ञानेन्द्रिय के परे उठ जाता है। वहाँ गुणात्मक स्वरूपों के साथ रथ का रूपक बाँधा जाता है। सौरज, धीरज, सत्य, शील, विवेक, दया, संतोष, दान, विज्ञान ये सब गुण मानस रथ के गुण हैं। ये सब बौद्धिक गुण हैं (वे कर्मेन्द्रिय व ज्ञानेन्द्रिय जगत के परे की वस्तु हैं)।

दूसरी उल्लेखनीय बात है मानस रथ की प्राप्ति क्षमता। यह वह रथ है, जिसे प्राप्त करने की सामर्थ्य सब में है। जन सुलभ यह रथ, अजेय संसार को विजित करने के लिए, मानस ने, पाठकों के द्वार पर ही लाकर खड़ा कर दिया है।

साहित्य की दृष्टि से देखो तो मानस में श्री राम द्वारा वर्णित यह रथ उत्कृष्ट साहित्यमय है, कविता की दृष्टि से देखो, तो उत्कृष्ट कवित्वमय है; आध्यात्म चिंतन के दृष्टिकोण से देखो, तो पूर्णतः शास्त्रवित है। मानस में जन हिताय भाव से औपनिषदिक तत्त्व इस रूप सें प्रकट हुए हैं कि साधारण से साधारण प्राणी भी उनको आत्मसात् कर सकता है। यह मानस की सार्वभौमिकता का एक सुन्दर उदाहरण है।

०००

दीपक की उपमा

'दीपयति इति दीपक'। प्रज्वलित दीपक अन्धकार को दूर करता है, प्रज्वलित बुद्धि तमस व्याप्त अन्धकार को दूर करती है। दीपक ऐन्द्रिय अन्धकार को दूर करता है तो प्रदीप्त बुद्धि बौद्धिक अन्धकार को।

तैल उस आयु के समान है जो दीपक व साधक का जीवन काल निर्धारित करती है। अन्धकार में कोई भी कार्य करने के लिये जिस प्रकार दीपक को प्रज्वलित करना पड़ता है उसी प्रकार साधना में क्रियाशील होने के लिए बुद्धि को प्रदीप्त करना होता है।

उपासना में दीपक को प्रज्वलित कर पूजन आरम्भ करना एक विशेष महत्त्व रखता है। पूजन उसी समय से प्रारम्भ माना जाता है जब दीपक प्रज्वलित हो जाय। यह एक सांकेतिक भाव है। बुद्धि में प्रकाश की किरण फूटने पर ही मनुष्य साधना की ओर अग्रसर होता है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का भाव साधना का दीपक है।

दीपक की लौ से ध्यान की एकाग्रता की तुलना की जाती है। इन कारणों से अध्यात्म साहित्य में दीपक उपमा ने एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। अध्यात्म ग्रन्थ होने के नाते मानस ने भी इस उपमा को उसी रूप में अपनाया है जिस प्रकार उपनिषद् वाक्यों ने।

दीपक उपमा के वाक्य—

(1) यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥15॥

—श्वेता० उ०, अ० 2

भावार्थ—जब योगी, दीप के समान, निर्मल प्रकाशमय आत्मतत्व के द्वारा ब्रह्मतत्व को भलीभाँति देख लेता है, तब वह जन्म आदि समस्त विकारों से रहित शुद्ध स्वरूप परमेश्वर को जानकर सर्व प्रकार के बन्धनों से छूट जाता है।

(2) वासना विलये चेतः शम-मायाति दीपवत् ॥17॥
वासनां संपरित्यज्य मयि चिन्मात्रविग्रहे।
यत्तिष्ठति गत व्यग्र सोऽहं शच्चित्सुखात्मकः ॥18॥

—गीता

भावार्थ—वासना के नाश से चित्त उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जैसे तेल के समाप्त होने से दीपक बुझ जाता है।

'वासनाओं का त्याग करके मुझ चैतन्य स्वरूप में जो निर्वात दीप-शिखा के समान निश्चल होकर स्थित रहता है, वह मुझ सच्चिदानन्दस्वरूप को एक भाव से प्राप्त होता है।'

(3) यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥19॥

—गीता, अ० 6

भावार्थ—जिस प्रकार से वायु रहित स्थान पर रखे हुए एक दीपक की लौ कम्पायमान नहीं होती है। परमात्मा में लगे हुए योगी का उचित रूप से जीता हुआ चित्त भी उसी प्रकार स्थिर हो जाता है।

(4) बाह्यानित्य सुखासक्ति हित्वात्मसुखनिर्वृतः।
घटस्थदीपवत्स्वस्थः स्वान्तरेव प्रकाशते ॥

—आत्मबोध, 51

भावार्थ—जीवनमुक्त पूर्णतः निष्काम होकर आत्म सुख में इस प्रकार सन्तुष्ट और तल्लीन रहता है, जैसे घर में रखा हुआ दीपक।

(5) आत्मावभासयत्येको बुद्ध्यादीनीन्द्रियाण्यपि।
दीपो घटादिवत्स्वात्मा जडैस्तैन विभास्यते ॥

—आत्मबोध, 28

भावार्थ—जिस प्रकार दीप घट को प्रकाशित करता है, घट स्वयं जड़ होने के कारण प्रकाशित नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा भी इस जड़ शरीर को प्रकाशित करती है।

स्वबोधे नान्यबोधेच्छा बोधरूपतयात्मनः।
न दीपस्यान्यदीपेच्छा यथा स्वात्मप्रकाशते ॥

---आत्मबोध, 29

एक दीपक को प्रकाश करने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार आत्मा को भी, जो स्वयं ज्ञान है, किसी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती।

मानस में प्राप्त दीप दृष्टांत—

तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि ॥117॥ (ग)
एहि बिधि लेसै दीप तेज रासि बिग्यानमय।
जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब ॥118॥ (घ)

सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा।
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल भेद भ्रम नासा ॥1॥
प्रबल अविद्या कर परिवारा। मोह आदि तुम मिटइ अपारा ॥
तब सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा। उर गृहँ बैठि ग्रंथि निरुआरा ॥2॥
छोरन ग्रन्थि पाव जौं सोई। तब यह जीव कृतारथ होई ॥
छोरत ग्रन्थि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया ॥3॥

रिद्धि-सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई।
कल बल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा।।4।।
होइ बुद्धि जौं परम सयानी। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी।।
जौं तेहि बिघ्न बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी।।5।।
इन्द्री द्वार झरोखा नाना। तँह तँह सुर बैठे करि थाना।।
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी।।6।।
जब सो प्रभंजन उर गृहँ जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई।।
ग्रन्थि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भई बिषय बतासा।।7।।
इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई।।
बिषय समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी।।8।।

तब फिरि जीव बिबिधि बिधि पावइ संसृति क्लेस।
हरि माया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहगेस।।118।। (क)

—उ० कां०

भावार्थ—तीनों अवस्थाओं व तीनों गुणों से तुरीय अवस्था रूपी रुई को निकालकर और उसको सँवारकर उसकी सुन्दर कड़ी बत्ती बनावे, इस प्रकार तेज की राशि विज्ञानमय दीपक को जलावे, जिससे समीप जाते ही मद आदि सब पतंगे जल जायें। 'सोहमस्मि' यह जो वृत्ति अखंड है, वही परम प्रचण्ड दीप शिखा है। जब आत्मानुभव के सुख का सुन्दर प्रकाश फैलता है, तब संसार के मूल भेद रूपी भ्रम का नाश हो जाता है, और महान बलवती अविद्या के परिवार मोह आदि का अपार अंधकार मिट जाता है। तब वही बुद्धि प्रकाश को पाकर हृदय रूपी गृह में बैठकर उस जड़ चेतन की गाँठ खोलती है। यदि वह विज्ञान रूपी बुद्धि उस गाँठ को खोल पावे तब यह जीव कृतार्थ हो। परन्तु हे पक्षीराज गरुड़ जी! गांठ खोलते हुए जानकर, माया फिर अनेक विघ्न डालती है। हे भाई! वह बहुत-सी ऋद्धि-सिद्धियाँ भेजती है, जो आकर बुद्धि को लोभ दिखाती हैं। वे ऋद्धि-सिद्धियाँ कल, बल, छल, करके समीप आती हैं और आँचल की वायु से उस ज्ञान रूपी दीपक को बुझा देती हैं। सयानी बुद्धि उनको अहितकर जानकर उनकी ओर नहीं देखती है। बुद्धि विघ्न नहीं कर पाती तो फिर देवता विघ्न करते हैं। इन्द्रियां के द्वार अनेक झरोखे हैं, वहाँ देवता ध्यान किये बैठे हैं। ज्यों ही वे विषयरूपी हवा को आते देखते हैं, त्यों ही वे हठपूर्वक किवाड़ खोल देते हैं। जब तेज बयार हृदय रूपी घर में आ जाती है, तब यह विज्ञान रूपी दीपक बुझ जाता है। गाँठ भी नहीं छूटी और वह प्रकाश भी मिट गया; विषयरूपी हवा से बुद्धि व्याकुल हो गयी। इन्द्रियों और उसके देवता को ज्ञान नहीं सुहाता। क्योंकि उनकी विषय भोगों में सदा ही प्रीति रहती है। बुद्धि को विषयरूपी हवा ने बावली बना दिया है, तब फिर उस ज्ञान-दीपक को दुबारा कौन जलाये। इस प्रकार ज्ञान-दीपक के

जुझ जाने पर जीव अनेक प्रकार के जन्म-मरण के क्लेश पाता है। हे पक्षिराज ! हरि की माया अत्यन्त दुस्तर है, वह सहज ही में तरी नहीं जा सकती।

उपनिषद् के वाक्यों में दीपक की जो उपमायें अंकित हैं, उन उपमाओं को देखकर इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि दीपक के दो स्वरूप उपमा में बाँधे गये हैं; एक है दीपक का 'ज्योति स्वरूप' और दूसरा है उसका 'निश्चल स्वरूप'। दीपक के इन दोनों स्वरूपों को ही भाँति-भाँति से भिन्न-भिन्न उपमाओं में बाँधा गया है। उसके ज्योति स्वरूप में ब्रह्म की कल्पना से लेकर आयु और जीवन की कल्पना निहित है। उसके निश्चल दीप-शिखा स्वरूप में, ध्यान का एकाग्र-भाव तथा भगवान के निश्चल स्वरूप की स्थापना है। मूलतः दीपक के दो ही रूप निरूपित किये जाते हैं—प्रथम है दीप शिखा का ज्योति स्वरूप, और द्वितीय है दीप-शिखा का निश्चल स्वरूप।

मानस में प्रस्तुत रूपक की उपमा 'श्वेताश्वेतर उपनिषद्' के दीप-रूपक से विशेष साम्य रखती है। मानस में रूपक की प्रथम चौपाई में दीपक की प्रदीप्त अवस्था पर प्रकाश है[14] तथा द्वितीय चौपाई में दीपक के निश्चल स्वरूप पर।[15]

वाक्य का कथन है कि योगी जब दीप के समान निर्मल प्रकाशमय आत्मतत्व में, ब्रह्मतत्व को भलीभाँति देख लेता है तब अचल, विकार रहित, विशुद्ध परमात्मा को जानकर उसके सर्व प्रकार के बन्धन छूट जाते हैं।

मानस का कथन है—सुगाढ़ बाती विग्यान मय तेजरासि दीप जलाकर जब उसकी परम प्रचंड दीपशिखा में 'सोहमस्मि की अखंड वृत्ति' देख ली जाती है तब आत्म अनुभव के सुख के प्रकाश में समस्त मूल भेद भ्रमों का नाश हो जाता है।

मानस की 'सोहमस्मि की अखंड वृत्ति' ही वाक्य का 'अचल विकार रहित विशुद्ध' परमात्म स्वरूप है।

मानस का 'समस्त मूल भेद भ्रमों का नाश' होना ही सर्व प्रकार के बन्धनों का नष्ट हो जाना है।

मानस वर्णित 'तीन अवस्था तीन गुणों में से कपास को काढ़ना तुरीय अवस्था में उसकी सुगाढ़ बाती बनाना और तत्पश्चात् विज्ञानमय दीप जलाने की ओर जो संकेत है, वास्तव में वह संकेत वाक्य के उस भाव पर प्रकाश डालता है, जिसको वाक्य में 'दीप के समान निर्मल प्रकाशमय आत्म तत्व'[16] कहकर सम्बोधित किया गया है। इस निर्मल आत्मतत्व के प्रकाश के द्वारा ही योगी परमात्मा के विशुद्ध स्वरूप का दर्शन करता है ऐसा वाक्य का कथन है। योगी के हृदय की अवस्था को वाक्य ने 'निर्मल आत्मतत्व' कहकर वर्णित किया है। उपनिषद् को इतना ही कहकर उससे तुष्टि हो गयी है; मानस को नहीं हुई। मानस को अपने पाठकों का ध्यान है। निर्मल आत्मवस्तु क्या है ? उसको किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ? यदि यह स्पष्ट न किया जाये तो यह विषय मानस-पाठकों के हृदय से अछूता ही

बना रह जाता है। अतः मानस ने वाक्य के कथन को अधिक स्पष्ट करके लिखा है और यह दर्शाया है कि वाक्य वर्णित 'निर्मल आत्मतत्व' की प्राप्ति साधक को किस प्रकार होती है—

तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास तें काढ़ि
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करैं सुगाढ़ि

तीनों अवस्थाओं[17], तीनों गुणों[18] में से मन को हटाकर उसको तुरीय अवस्था में डालकर जो बाती बनेगी, वह निर्मल मन की बनेगी। तीनों अवस्थाओं तथा तीनों गुणों का प्रभाव मन को चचंल बनाता है और उसकी निश्चलता को भंग करता है। तुरीय अवस्था[19] में उसको यह निश्चलता प्राप्त होती है। अतः मन की एकाग्रता प्राप्त करने के जिस भाव को वाक्य ने सांकेतिक रूप से लिखा है, मानस ने जन हिताय भावना से प्रेरित होकर उसको स्पष्ट करके लिखा है, जिससे कि जनसाधारण उसको जीवन में उतार सके। यह मानस के सार्वभौम होने का सुन्दर उदाहरण है।

उपनिषदों में प्राप्त दीप की उपमाएँ साधक को ज्ञान की ओर प्रेरित करती हैं। 'मानस की दीप उपमा का निरूपण तो उपनिषद् उपमाओं के समान ही हुआ है, परन्तु उसका प्रभाव ज्ञान के स्थान पर भक्ति प्रदीप्त करता है।' इस विशिष्टता के कारण मानस की यह दीप उपमा अपना एक अलग अस्तित्व रखती है।[20]

०००

घृत

अन्तरनिहित परब्रह्म, चैतन्य रूप से प्रत्येक भूत पदार्थ में उसी प्रकार व्याप्त है—जिस प्रकास घृत दुग्ध में। परम तत्व पर विचार करना दुग्धमंथन के समान है। मंथन एक बार प्रारम्भ कर दिया जाये तो कार्यक्रम उस समय तक निरन्तर चलता रहता है जिस समय तक कि घृत की प्राप्ति न हो जाये। उसी प्रकार, विचार व मंथन का नियम, निरन्तर बिना अवरुद्ध हुए, उस समय तक क्रमबद्ध रूप से चलना चाहिए, जब तक कि घृत के समान परम तत्व की प्राप्ति न हो जाये।

दुग्ध के अन्दर घृत व्याप्त होता है, परन्तु इन्द्रिय जगत के लिए तब तक दृश्यमान नहीं होता जब तक कि उसको प्राप्त करने के लिए मंथन का प्रयास न किया जाये। दुग्ध का समस्त सार घृत गुणों में है, यदि दुग्ध में घृत गुण न हो तो वह वस्तु दुग्ध नहीं होती वरन् केवल जल होती है। इस उपमा से जिस भाव की ओर संकेत मिलता है, वह है—जिस प्रकार दुग्ध का समस्त सार घृत है, उसी

प्रकार जगत के समस्त पदार्थों का सार वह परम तत्व है जिसकी चैतन्यता के कारण वे चैतन्य हैं। घृत गुण न होने से जिस प्रकार दुग्ध दुग्ध न होकर जल हो जाता है, उसी प्रकार चैतन्य भाव न रहने पर भूत पदार्थ चैतन्य रूप न होकर अचेतन मृत रूप हो जाते हैं।

दीपक उपमायें जिस रूप में उपनिषद् वाक्य व मानस चौपाइयों में आयी हैं वे नीचे वर्णित हैं।

पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम्।
तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव काञ्चनम् ॥ 5 ॥

—ध्या० बि० उ०

जैसे पुष्प में गन्ध व्याप्त होती है, जैसे दूध में घृत व्याप्त होता है, जैसे तिल में तेल अनुस्यूत रहता है, जैसे सोने की खान के पत्थरों में सोना अव्यक्त रहता है उसी प्रकार वह आत्मा समस्त प्राणियों में छिपी है।

(2) तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्यनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ 15 ॥

—श्वेताश० उ०, अ० 1

तिलों में तेल, दही में घी, स्रोतों में जल, और अणियों में अग्नि आदि जिस प्रकार छिपे रहते हैं उसी प्रकार वह परमात्मा अपने हृदय में छिपा हुआ है। जो कोई साधक इनको सत्य के द्वारा, संयम तप रूप से देखता है, तथा उसका चिन्तन करता है वह उसको ग्रहण करता है।

(3) घृतमिव पयसि निगूढं भूते-भूते च वसति विज्ञानम्।
सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थान भूतेन ॥ 20 ॥
ज्ञाननेत्रं समादाय चरेद्वह्निमतः परम्।
निष्कलं निर्मलं शान्तं तद्ब्रह्माहमिति स्मृतम् ॥ 21 ॥

—ब्रह्म० बि० उ०

जैसे दूध में घी छिपा रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी के भीतर विज्ञान निवास करता है, जिस प्रकार दूध के लिए घी का मंथन किया जाता है, वैसे ही विज्ञानमय ब्रह्म की प्राप्ति के लिए मन की मथानी बनाकर सदा मन्थन करते रहना चाहिए। तदन्तर ज्ञान-दृष्टि प्राप्त करके अग्नि के समान तेजोमय ब्रह्म का इस प्रकार अनुभव करे कि वह कला शून्य, निर्मल एवं शान्त परब्रह्म में है।

(4) तद्युक्तमखिल वस्तु व्यवहारस्तदन्वितः।
तस्मातसर्वगत ब्रह्म क्षीरे सर्पिरिवाखिले ॥ 59 ॥

—आत्मबोध

ब्रह्म सबमें व्याप्त है। सर्व व्यवहार उसी के कारण हो सकते हैं। इस कारण ब्रह्म सबमें व्याप्त है जैसे दूध में घृत।

मानस में प्राप्त दुग्ध उपमा—

जीव···

अस संजोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई ॥
सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपां हृदयँ बस आई ॥
जप तप व्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा ॥
तेई तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाई पेन्हाई ॥ 5 ॥
नोइ निवृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा ॥
परम धर्ममय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई ॥
तोष मरुत तब छमां जुड़ावै। धृति सम जावनु देइ जमावै ॥ 6 ॥
मुदितां मथै बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी ॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता ॥
जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत ममता मल जरि जाइ ॥ 117 ॥ (क)
तब बिग्यानरूपनी बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिआ भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ ॥ 117 ॥ (ख)

—उ० कां०

ईश्वर के ऐसा संयोग उपस्थित कर देने पर भी यह ग्रन्थि कदाचित् ही छूट पाती है। श्रुति वर्णित असंख्यों जप-तप-व्रत-यम और नियम आदि शुभ कर्मरूपी तृणों को खाने वाली, सात्विक श्रद्धारूपी गौ, हृदयरूपी घर में बस जाये, तथा आस्तिक भावरूपी बछड़े द्वारा पिन्हाने पर निर्मल मन-रूपी अहीर द्वारा; विश्वास रूपी बर्तन में, निवृत्त नोई की सहायता से दुही जाये। इस प्रकार धर्ममय दुग्ध प्राप्त करके उसको निष्काम भावरूपी अग्नि पर औटावे; फिर क्षमा और सन्तोष-रूपी हवा से उसको ठंडा करे और धैर्य तथा रामरूपी जामन देकर उसको जमाए, मुदिता रूपी कमोरी में तत्व विचाररूपी मथानी से दम के आधार पर सत्य और सुन्दर वाणी रूपी रस्सी लगाकर उसे मथे और मथकर तब उसमें से निर्मल, सुन्दर तथा अत्यन्त पवित्र वैराग्य रूपी मक्खन निकाल ले। तब योगरूपी अग्नि प्रकट करके उसमें समस्त शुभाशुभ कर्म-रूपी इंधन लगा दे, जब ममता रूपी मल जल जाये, तब ज्ञान रूपी बुद्धि को घी से ठंडा करे। तब विज्ञान रूपी बुद्धि उस निर्मल घी को पाकर, चित्त रूपी दिये में भरकर, समता की दीवट बनाकर, उस पर उसे दृढ़तापूर्वक रखे।

ऊपर उद्धृत समस्त वाक्यों के भाव मानस चौपाइयों में आ गये हैं।

(1) ध्यानबिन्दु उपनिषद् के वाक्य का 'पयो मध्ये यथा घृतम्' मानस व वाक्य उपमा साम्य का विषय ही है।

(2) (क) श्वेताश्वेतर उपनिषद् के वाक्य में जिस भाव को 'सत्यनैनं तपसा

योऽनुपश्यति' (सत्य, संयम, तप तथा चिन्तन) के द्वारा प्राप्त करने को कहा गया है। मानस ने उसको 'जप तप व्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा'[21] कहकर प्राप्त करने को कहा है। जप-तप तथा अपार व्रत, तपस की आशा से किये जाते हैं। अतः ये सब तपस के अन्तर्गत आते हैं, यदि किसी जिज्ञासु की जिज्ञासा हो कि तपस क्या है और किस प्रकार किया जा सकता है तो उसका समाधान होगा, जप-तप तथा भिन्न-भिन्न व्रतों का पालन करना ही तपस करना है। वाक्य में वर्णित 'तपसा' शब्द के अन्दर जो निहित भाव हैं उनको जन सुलभ करने के उद्देश्य से 'तपसा' शब्द के स्थान पर, मानस ने तपस की एक छोटी-सी व्याख्या दे दी है, जिससे कि कोई भी जनसाधारण उसको अपने जीवन में उतार सके। 'जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा' में 'श्रुति कह' शब्द इस कथन के, श्रुति द्वारा प्रमाणित होने का समर्थन करता है।

(ख) 'तेइ तृन हरित चरै जब गाई' यह अर्ध चौपाई भी उपरोक्त भावों का समर्थन कर रही है, तथा वाक्य में प्राप्त तपसा शब्द के आन्तरिक अर्थ से ओतप्रोत है। 'गो' शब्द के दो ही अर्थ लेते हैं* एक गाय, दूसरा इन्द्रियाँ। इस प्रकार उपर्युक्त अर्ध चौपाई का अर्थ हुआ 'इन हरे तृणों को जब गाय, खाय' और दूसरा अर्थ हुआ 'जब इन्द्रियाँ श्रुति वर्णित आचार तप, जप, यम, नियम पर भलीभाँति पल जायँ'। इस प्रकार गाय के रूप में लिये हुए लौकिक अर्थ के अन्दर इन्द्रियों का लाक्षणिक अर्थ छिपा है। इस लाक्षणिक अर्थ में उपनिषद् का भाव निहित है।

(3) (क) ब्रह्म विन्दु उपनिषद् के 'सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थान भूतेन' का भाव मानस में 'मुदिता मथै विचार मथानी दम अधार रजु सत्य सुबानी' की चौपाई में व्यक्त है।

(ख) सततं-वाक्य में सततं[22] शब्द का प्रयोग किया गया है। वहाँ उस शब्द के प्रयोग का एक उद्देश्य है। सततं—अर्थात् सदैव मथते रहो। किसी कार्य को सदैव करने से चिन्तनधारा एक बनी रहती है। एक चिन्तनधारा बनी रहने से विकारी भाव हृदय में उठना बन्द हो जाते हैं, विकारी भावों के हृदय में न उठने से हृदय मुदित होता है, इस मुदित मन को जब दम, सत्य तथा इन्द्रिय निग्रह (सुबानी)[23] का सहारा मिल जाता है, तब ज्ञान प्राप्ति सुलभ हो जाती है। वाक्य में प्राप्त यह 'सततं' शब्द बहुत सारगर्भित है। 'सततं' शब्द के गर्भ में जो भाव निहित है मानस ने उन भावों को स्पष्ट करके लिख दिया है। इस प्रकार वाक्यों के सारगर्भित शब्दों के भावों को स्पष्ट करने में मानस का जो उद्देश्य है, वह ऊपर लिखा ही जा चुका है।

रामचरितमानस में प्रयुक्त इस 'दुग्ध-घृत' उपमा में कुछ अपनी अलग

* गो शब्द के अनेक अर्थों में से वेद, इन्द्रिय, पृथ्वी, गाय आदि।

विशेषताएँ हैं।

० वाक्य जिन सिद्धान्तों को विचार क्षेत्र में लेकर चल रहे हैं, मानस उन्हें व्यवहार क्षेत्र में उतार रहा है। 'क्षीरे सर्परिव' तथा 'घृतामिव पयसि' आत्मा की सर्वव्यापकता तथा आत्मा के अन्तर्निहित होने का सिद्धान्त व्यक्त कर रहे हैं। मानस सिद्धान्तों के गर्भ में जो भाव छिपे हैं, उन्हें व्यवहारोचित रूप से स्पष्ट कर रहा है कि इसे छिपे घृत की उपलब्धि किस प्रकार हो सकती है।

० साधन की प्रक्रिया बताना दर्शनशास्त्र का एक अनिवार्य अंग है अतः मानस में वाक्यों के सारगर्भित अर्थों का भाव स्पष्ट कर, यह रूपक दर्शनशास्त्र के उस अनिवार्य अंग की पूर्ति कर रहा है।

जहाँ दार्शनिक ग्रन्थों में यह अनिवार्य अंग क्लिष्ट तथा अरोचक हो जाता है, वहाँ मानस में कथा तथा अन्तर्कथाओं व संवादों द्वारा वर्णित यह दार्शनिक प्रक्रिया अति सरस व रोचक रूप में आयी है।

वाक्य में प्रयुक्त उपमायें ज्ञान प्राप्ति की प्रेरक हैं, मानस में ये उपमायें ज्ञान मार्ग से विमुख हो, भक्ति की प्रेरणादायक हैं।

चौपाई में प्रयुक्त हुए 'संजोग' और 'कदाचित्' इन दो शब्दों ने ज्ञान-मार्ग की दृष्टान्तस्वरूप व्यक्त की हुई इस उपमा को भक्ति-पक्ष के समर्थन में बदल दिया है। मानस की यह एक विशेषता रही है कि वह उपनिषदों के दृष्टान्तों को उसी रूप में वर्णित करती है जैसे कि वे उपनिषद् में प्राप्त हैं, परन्तु इस वर्णन-शैली में ही इन दृष्टान्तों में यह अन्तर आ जाता है कि वे उपनिषदों के ज्ञान-मार्ग के समर्थक दृष्टान्त, अपने प्रभाव में भक्ति मार्ग के समर्थक बन जाते हैं।

मानस की ये उपमायें हिन्दी साहित्य में भी अद्वितीय हैं—अध्यात्म क्षेत्र में तो वे महत्वपूर्ण हैं ही। ०००

वृक्ष की उपमा

अध्यात्म साहित्य में रथ, दीपक, आदि उपमाओं के समान ही वृक्ष की उपमा का उपयोग भी आता है। 'वृष्छनात् वृक्ष' जो काटा जा सके वह वृक्ष है। वृक्ष के समान ही संसार भी काटा जा सकता है। इसको काटने का अस्त्र है अनासक्ति। संसार में कर्म में रत रहकर भी यदि कर्म भाव में अनासक्ति है तो संसार वृक्ष जड़ से कट जाता है। वृक्ष उपमा जिस रूप से मानस व वाक्यों में प्राप्त है वह नीचे अंकित हैं।

(1) अहं वृक्षस्य रेरिवा। —तै० उ०, अनु० 10, वल्ली 1

अर्थ—मैं संसार रूपी वृक्ष का उच्छेद करने वाला हूँ।

(2) ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वेतदुनात्येति कश्चन । एतद्वैतत् ॥1॥

—कठो॰ उ॰, अ॰ 2, वल्ली 3

भावार्थ—यह सनातन अश्वत्थ वृक्ष है। उसकी जड़ें ऊपर आकाश में हैं और शाखा नीचे धरातल में हैं। वही शुद्ध है, वही ब्रह्म है, वही अमृत कहलाता है। वही सारे जगत का आधार है, उसके परे कोई नहीं जा सकता। अवश्य यह ही वह परब्रह्म है।

(3) यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥9॥

—श्वेत॰ उ॰, अ॰ 3

भावार्थ—जिससे श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है, उससे अधिक कोई सूक्ष्म नहीं है, उससे अधिक कोई महान नहीं है; वह एक अकेला ही वृक्ष की भाँति निश्चल भाव से प्रकाशमय आकाश में अवस्थित है, उस पुरुषोत्तम से यह सम्पूर्ण जगत परिपूर्ण है।

(4) यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः।
त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः
तस्मात्तदा तृण्णात् प्रैति रसो वृक्षादिवाऽऽहतात् ॥
माँ सान्यस्य शकराणि किनाटँ स्नाव तत्स्थिरम्।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥8॥

--वृ॰ उ॰, अ॰ 3, ब्रा॰ 9

भावार्थ—वृक्ष जैसा जिन धर्मों से युक्त होता है, पुरुष जीव का शरीर भी वैसा ही होता है। वृक्ष के पत्ते होते हैं, और पुरुष के शरीर में पत्तों की जगह रोएँ होते हैं। उसके शरीर में जो त्वचा है उसकी समता में वृक्ष के बाहरी भाग में छाल होती है। उस पुरुष की त्वचा से भी रक्त निकलता है और वृक्ष की त्वचा से गोंद चूता है। वृक्ष और पुरुष की इस समानता के कारण ही जिस प्रकार आघात लगने पर वृक्ष से रस निकलता है, उसी प्रकार चोट खाये हुए पुरुष के शरीर से रक्त प्रवाहित होता है। पुरुष के शरीर में मांस होता है, और वृक्ष में किनाट; वह किनाट स्नायु ही की भाँति स्थिर होता है; पुरुष में स्नायु जाल के भीतर जैसे हड्डियाँ होती हैं, वैसे ही वृक्ष में किनाट के भीतर काष्ठ है, तथा मज्जा तो दोनों में मज्जा के समान ही निश्चित की गयी है। हे भगवान ! मैं आपमें प्रविष्ट हो जाऊँ। हे भगवान ! तू मुझमें प्रविष्ट हो जा, उस सहस्रों शाखा वाले आपमें मैं अपने को विशुद्ध कर लूँ।

(5) ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।।1।।
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुण प्रवृद्धा विषयप्रवालाः
अधश्च मूलान्यनुसंततानि, कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।।2।।

—गीता, अ० 15

भावार्थ—इस संसार रूपी वृक्ष का मूल आदि पुरुष परमेश्वर है, ब्रह्म रूप इसकी मुख्य शाखा है, इस वृक्ष को अविनाशी मानते हैं। वेद इसके पत्ते हैं, इस संसार रूप वृक्ष को जो पुरुष मूल सहित तत्व से जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है। इस संसार रूपी वृक्ष की अहम व ममता में बांधने वाली शाखाएँ व वासना रूपी जड़ें, तीनों गुणों द्वारा वृद्धि पाकर, मनुष्य योनि में कर्मों के अनुसार ऊपर व नीचे फैली है।

मानस में प्राप्त वृक्ष की उपमा—

अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने ।।
फल जुगल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे ।।5।।

—उ० कां०, 13

भावार्थ—वेद शास्त्र कहते हैं कि संसार रूपी वृक्ष की जड़ अव्यक्त है। यह अनादिकाल से है। इसमें चार त्वचाएँ हैं, छः स्कन्ध हैं, पच्चीस शाखाएँ, अनेक पत्ते व सघन फूल हैं। कड़वे व मीठे दोनों प्रकार के फल लगे हैं। इस पर एक ही बेल है जो इस पर आश्रित रहती है, जो नित्य फूलती-फलती व पत्तों से युक्त रहती है। ऐसा संसार वृक्ष रूप मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

उपनिषदों में प्राप्त वृक्ष के दृष्टान्तों का अवलोकन करने से उनको इस रूप में विभाजित किया जा सकता है।

(क) संसार को वृक्ष रूप में देखना।[24]

(ख) 'ऊर्ध्व मूल अध शाखा' के रूप से संसार पुरुषोत्तम में किस रूप से आवारित है। वृक्ष के साथ इसका रूपक बांधना।[25]

(ग) पुरुषोत्तम के अकेले निश्चल प्रकाशमय स्वरूप में आकाश में अवस्थित होने का दृष्टान्त वृक्ष की उपमा से देना।[26]

(घ) मनुष्य शरीर के साथ शरीर का साम्य बांधना। त्वचा, रुधिर, हड्डी, मज्जा आदि से छाल पत्ते, रस व गोंद, किनाट व मज्जा का साम्य ठहराना।

वाक्यों में प्राप्त उपर्युक्त भावों को ध्यान में रखते हुए, मानस की चौपाइयों में जो वृक्ष का रूपक मिलता है, वह बहुत कुछ गागर में सागर भरे होने का भाव

देता है। मानस में प्राप्त वृक्ष रूपक में वाक्यों के चारों भावों से साम्य स्थापित होता है। चार चौपाइयों के गागर में चार उपनिषदों के भाव संग्रहीत होकर आ जायें तो यह मानना पड़ेगा कि वे भाव सूत्र रूप व बूंद रूप से ही समा सकते हैं। जैसे कोई संगीतज्ञ कवि अपनी कथा-गत की लय में एक मीड़ में उपनिषद् भाव दर्शाकर फिर अपनी कथा-लय में मिल जाय। राग तो राम कथा का बजना है, उपनिषद् तो डूबते-उतराते अन्तरतल में गुंजरित हो रहे हैं। अतः इस साम्य को हमको ध्यान से देखना है।

उपनिषद्	मानस
(क) 'अहम वृक्षस्य रेरिवा'[27] (मैं संसार रूपी—वृक्ष का उच्छेदन करने वाला हूँ)	'संसार विटप नमामहे।' (हे संसार रूपी विटप तुझको नमस्कार है) संसार विटप है यह भाव दोनों में एक समान आया है।
(ख) 'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्—शाख[28] एषोऽश्वत्थ सनातनः'	'अव्यक्त मूल अनादि' मानस चौपाई के प्रारम्भ में उसी रूप में आया है जिस रूप में कि 'ऊर्ध्वमूल' वाक्य में।
'ऊर्ध्वमूल'[29] अधः शाखमश्वत्थं प्राहुर अव्ययम्'।	
० दोनों वाक्यों के अनुसार इस वृक्ष का उर्ध्व मूल है जड़ें ऊपर हैं जो आदि पुरुष परमेश्वर में होने के कारण अव्यक्त हैं।	वाक्य में 'ऊर्ध्वमूल' वृक्ष की जड़ों के अव्यक्त स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए लिखा है। मानस ने सीधे वृक्ष की जड़ों को 'अव्यक्त' कहकर लिख दिया है। सीधे-सीधे अव्यक्त लिख देना व घुमाकर 'ऊर्ध्वमूल' कहने का भाव एक ही है।
	सनातनः अव्ययम् = जो वृक्ष सनातन तथा अव्ययम् है।
	कठोपनिषद् ने सनातन शब्द का प्रयोग किया है—मानस ने अनादि का। अनादि शब्द का अर्थ सनातन शब्द का ही भाव रखता है। अनादि का भाव हुआ 'जो इतना सनातन है कि उसके आदि का ही पता नहीं।'

इस प्रकार वाक्य का 'सनातन' शब्द तथा मानस का 'अनादि' शब्द समभावी हैं।

(ग) श्वेताश्वेतर उपनिषद् के वाक्य का भाव : कि ऐसा वृक्ष अपने प्रकाशमय निश्चल स्वरूप में अकेला ही खड़ा है—'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक'

मानस ने वाक्य का यह भाव यद्यपि शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया है, तथापि उसका जो शाब्दिक चित्रण किया है, वह इतना सजीव व अनोखा है कि ऐसा सजीव अलौकिक वृक्ष अपनी महिमा में अलग ही खड़ा दिखाई पड़ता है। जिस प्रसंग में वृक्ष का यह दृष्टांत मानस में आया है वह भी उल्लेखनीय है।[30] प्रभु के प्रकाशमय स्वरूप के प्रति बंदी : चारण रूपी वेद इस वृक्ष को नमस्कार कर रहे हैं।[31] मानो वह पुरुषोत्तम भगवान का प्रतीक हो। (उपनिषद् उद्धृत अंश में भी प्रतीक भाव ही लिया गया है) जो अकेला ही 'भगवान की भांति' खड़ा है अतः अकेले खड़े वृक्ष में भगवान की प्रतीति हो रही है। इस प्रकार वाक्य वर्णित भाव को मानस ने प्रतीक रूप से व्यक्त किया हैं।

(घ) 'यथा वृक्षो··· स्वाहा'

मानस ने भी पुरुष जीव का स्वरूप वृक्ष में खींचा है, चार त्वचाएँ, तरुत्वच षट् स्कन्ध इसके प्रमाण हैं।

(ङ) पुरुष जीव का शरीर जैसा है, वैसा ही यह वृक्ष है (बृहदा० उ०)

मानस में प्रस्तुत वृक्ष-उपमा में, गीता के श्लोक का 'छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्' अधिक स्पष्ट होकर प्रस्तुत किया गया है। गीता का कथन है कि इस वृक्ष के पर्ण वेद के छन्द हैं; मानस का कथन है कि इसकी चार त्वचाएँ चार वेद हैं; छः स्कन्ध छः शास्त्र हैं; पच्चीस शाखाएँ 25 तत्व हैं, अनेक पत्ते जप, तप, नियम, प्राणायाम हैं। बहुत से फूल कर्मकांड की ओर संकेत करते हैं। कर्म-कांड वे विविध फूल हैं जिनके समापन पर फल की प्राप्ति होती है। वे फल अपने परिणाम में मधुर व कटु हैं—वेद के छन्दों में उन्हीं का वर्णन है। इस प्रकार वेद के छन्द इस वृक्ष के पर्ण हैं, यह भाव[32] भी अप्रत्यक्ष रूप से उभर कर आया है।

मानस की इस वृक्ष-उपमा में, वृक्ष के साथ भक्ति की बेल[33] का चित्रण, नवीनता भर देता है। एक ओर मानस की इस वृक्ष-उपमा में वाक्यों के साथ समानता है; दूसरी ओर भक्ति बेल के चित्रण द्वारा यह उपमा इतनी विभिन्नता लिये हुए है कि वाक्यों की वृक्ष-उपमा से सर्वथा पृथक् प्रतीत होती है।

अग्नि

अध्यात्म साहित्य में सगुण व निर्गुण के निरूपण के हेतु अग्नि का दृष्टांत उपयोग में लाया जाता है। काष्ठ सगुण रूप है, और उसके अन्दर व्याप्त अग्नि निर्गुण रूप है, जो दृष्टिगोचर नहीं होती परन्तु काष्ठ में व्याप्त होती है। चेष्टा करने पर उसको काष्ठ में ही प्राप्त किया जा सकता है।

जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि व्याप्त है, उसी प्रकार सचराचर में परमेश्वर व्याप्त है। अभ्यास रूपी प्रयास करने से परमेश्वर की प्राप्ति उसी प्रकार हो सकती है जिस प्रकार प्रयास करने से काष्ठ में से अग्नि निकाली जा सकती है। इस दृष्टांत का उपयोग उपनिषद् व मानस में जिस रूप में आया है वह नीचे दिया गया है :

1. अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥6॥

—श्वेता० उ०, अ० 2

भावार्थ—परमात्मा रूपी अग्नि को प्राप्त करने के लिए, ओंकार के जप और ध्यान द्वारा मन्थन किया जाता है; जहाँ प्राणवायु का विधिवत् निरोध किया जाता है, जहाँ आनन्द रूप सोमरस अधिकता से प्राप्त होता है, वहाँ मन सर्वथा विशुद्ध हो जाता है।

2. वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिंगनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥13॥

—श्वेता० उ०, अ० 1

भावार्थ—जिस प्रकार अपने आश्रयभूत काष्ठ में स्थित अग्नि का रूप नहीं दिखता, और उसके चिह्न का नाश भी नहीं होता, वह चेष्टा करने पर ईंधन रूप में ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार इस शरीर में ॐ द्वारा जीवात्मा व परमात्मा ग्रहण किया जा सकता है।

3. स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥14॥

भावार्थ—अपने शरीर को नीचे की अरणि और प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान के द्वारा साधक निरन्तर मन्थन करता रहे और इस प्रकार छिपी हुई अग्नि के समान आत्मा में छिपा हुआ है···अपने हृदय में परमेश्वर को देखें।

4. अरणीषु चाग्निः। सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥15॥ श्वेता० उ०, अ० 1

भावार्थ—भगवान को अरणि में छिपी हुई अग्नि के समान सत्य और तप के द्वारा योगी लोग देखते हैं।

5. अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥8॥

—कठ उ०, अ० 2, व० 1, 8

भावार्थ—जो सर्वज्ञ अग्नि देवता गर्भिणी स्त्री के सुभृत गर्भ के समान दोनों अरणियों में सुरक्षित है; जो सावधानी व हवन करने योग्य सामग्री से मनुष्यों द्वारा स्तुति करने योग्य है।

मानस में प्राप्त अग्नि उपमा सम्बन्धी चौपाइयाँ :

1. जाके हृदयँ भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती॥
तेहिं समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ॥2॥
हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥3॥
अग जग मय सब रहित बिरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥4॥
—बा० कां०, 185

भावार्थ—जिसके हृदय में जैसी भक्ति और प्रीति होती है, प्रभु सदा उसके लिए उसी रीति से प्रकट होते हैं। हे पार्वती ! उस समाज में मैं भी था, मैंने वहाँ अवसर पाकर एक बात कही, हरि सर्वत्र व्यापक हैं, वह कहाँ नहीं हैं, वह चराचर में व्याप्त होते हुए भी विरक्त हैं। जिस प्रकार अरणि मन्थनादि करने से अग्नि प्रकट हो जाती है, प्रभु भी प्रेमवश उसी प्रकार प्रकट हो जाते हैं।

2. एक दारुगत देखिए एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥
—बा० कां०, 2-23

भावार्थ—दोनों प्रकार के ब्रह्म का ज्ञान अग्नि के समान है। निर्गुण उस अप्रकट अग्नि के समान है जो दिखती नहीं है, और सगुण उस प्रत्यक्ष अग्नि के समान हैं जो दिखती है।

अग्नि दृष्टान्त के उपनिषद् वाक्य एवं मानस चौपाइयों का साम्य—

उपनिषद् वाक्यों के भावार्थ	मानस
1. परमात्मा रूपी अग्नि को प्राप्त करने के लिए, ओंकार का जप और ध्यान द्वारा मन्थन किया जाता है।	1. उपनिषद् वाक्यों का भावार्थ है कि परमेश्वर सर्वत्र व्याप्त है; चेष्टा द्वारा उनकी प्राप्ति की जा सकती है। मानस की चौपाई का भाव भी यही है, "अग जगमय सब रहित विरागी, प्रेम ते प्रभु प्रगटई जिमि आगी" जिस प्रकार अग्नि जो काष्ठ में दिखती नहीं, परन्तु रगड़ने से व्यक्त हो जाती है। मानस में प्रेम के भाव के साथ, प्रेम की क्रियाओं के होने का भाव भी उसी 'प्रेम' शब्द में निहित है।
2. चेष्टा करने से जिस प्रकार	2. प्रेम की ये क्रियाएँ वे चेष्टाएँ कहलायेंगी जिनमें निरन्तर प्रयास करने से परमात्मा रूपी अग्नि को

	ईंधन रूपी अग्नि काष्ठ से ग्रहण की जा सकती है, उसी प्रकार परमात्मा भी ओंकार द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।	प्रज्वलित करने की शक्ति होती है। प्रेम की ये क्रियाएँ नौ हैं, और नवधा भक्ति के रूप में वे शास्त्र वर्णित है।
3.	शरीर को नीचे की अरणि व प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर मन्थन करने से हृदय में छिपी हुई अग्नि के समान परमेश्वर को देखो।	3. साम्य के लिए उल्लिखित मानस की इस चौपाई की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह दर्शाना है कि भगवत्-प्राप्ति की इन चेष्टाओं में जो सबसे आवश्यक वस्तु है, वह है लगन और प्रेम। 'प्रेम ते प्रगु प्रगटई जिमि आगी' की अर्ध चौपाई में मानस ने इस निहित भाव को उभार कर सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है। कितना भी जप क्यों न किया जाय, कितना भी शरीर व प्रणव को ऊपर व नीचे की अरणि क्यों न बनाया जाए, जब तक उस मन्थन में प्रेम व लगन की भावना नहीं है, तब तक परमात्मा प्राप्ति रूपी अग्नि प्रज्वलित नहीं होती। साधना तभी सफल होती है जब उसके पीछे प्रेम होता है। इस प्रकार मानस की चौपाइयों ने भगवत्-प्राप्ति की चेष्टाओं के पीछे जो मूल भाव था, उसे उजागर कर सम्मुख रख दिया है। काष्ठ से परमेश्वर रूपी अग्नि को प्राप्त करने के लिए 'प्रेम' भाव की अनिवार्यता सर्व-विदित है।
4.	अरणि में छिपी अग्नि के समान सत्य और तप के द्वारा भगवान् को देखा जा सकता है।	4. उपनिषद् वाक्य एवं मानस चौपाइयों का भाव एक होते हुए भी; मानस की रीति से वर्णित भाव को जन साधारण सुगमता से जीवन में उतार सकते हैं। जन साधारण अपने हृदय में प्रीति का उदय करके भगवत्-प्राप्ति कर सकता है। शरीर व प्रणव को नीचे व ऊपर की अरणि बनाना, व जप-तप करने का उचित अर्थ न समझने वाला भी हृदय की प्रीति का अर्थ समझता है तथा उसे जीवन में उतार सकता है।

उपर्युक्त भाव को अधिक महत्ता देने के लिए ही कथा-प्रसंग में उसे श्री शंकर जी के मुख से कहलाया गया है।

दूसरी मानस चौपाई का साम्य कठोपनिषद् के वाक्य से बैठता है :

वाक्य भाव	चौपाई
एक ही अग्नि निराकार रूप से गर्भिणी के गर्भ के समान छिपी हुई है परन्तु जब वह सावधानी से हवन-सामग्री आदि से साकार रूप से प्रज्वलित होती है, तब वह पूज्य होती है।	मानस में यह चौपाई ब्रह्म के निर्गुण व सगुण रूपों की व्याख्या के बीच आई है।[34] चौपाई का कथन है कि पहला निर्गुण स्वरूप गर्भिणी के गर्भ के समान अप्रकट रूप की अग्नि के समान है, दूसरा सगुण रूप प्रत्यक्ष अग्नि के समान है। भगवान का सगुण रूप नाना रूपात्मक है; जीवात्मा के रूप में वह प्रत्येक आधारभूत वस्तु का रूप है।

०००

रज्जु-सर्प भ्रान्ति

'अध्यास' का भाव व्यक्त करने के लिए रज्जु-सर्प भ्रान्ति का उपयोग अध्यात्म साहित्य में किया जाता है। जिस प्रकार अन्धकार में पड़ी रज्जु सर्प का भ्रम उत्पन्न कर देती है, फिर भ्रमित दृष्टिकोण से देखने से उसमें फन आदि अंग-प्रत्यंगों की भी प्रतीति होने लगती है। प्रकाश लाकर देखने पर ही उस भ्रम का निवारण होता है।

उसी प्रकार परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप पर अज्ञान के अन्धकार के कारण जो सांसारिक रूप सत्य प्रतीत होने लगता है, वही रज्जु में सर्प की भ्रान्ति है। ज्ञान का प्रकाश ही इस भ्रम का निवारण करता है।

1. अज्ञानं चेति वेदान्तैंस्तस्मिन्नष्टे क्व विश्वता।
यथा रज्जुं परित्यज्य सर्पं गृह्णाति वै भ्रमात् ॥26॥

—नादबिन्दु उप०

भावार्थ—अध्यस्त पदार्थ की उत्पत्ति कहाँ होती है? जिसकी उत्पत्ति नहीं हुई, उसकी स्थिति कहाँ? जैसे रज्जु में सर्प का अध्यास होने पर रज्जु में न सर्प पैदा होता है और न वहाँ सर्प की स्थिति ही होती है।

2. तस्य च परोपाधिनिमित्तः संसारः यथा रज्जु परशुक्तिका गगनादिषु।
सर्पोदकरजतमलिनत्वादि पराध्यारोपण निमित्तमेव न स्वतः य तथा ॥1॥

—बृ० उ०, अ० 4, ब० 3

भावार्थ—उसे अन्या उपाधि के कारण संसार की प्राप्ति हुई है, जिस प्रकार कि रज्जु में सर्प, रजत और आकाशादि में मलिनता की प्रतीति दूसरों के आरोप करने के कारण ही है।

3. ब्रह्मभूतात्मनस्तस्मादेतस्माच्छक्तिमिश्रितात्।
अपंचीकृत आकाशसंभूतो रज्जुसर्पवत् ॥13॥
—कठ० रुद्र उप०,

भावार्थ—पूर्वोक्त शक्तियुक्त इस ब्रह्मस्वरूप आत्मा से उसी प्रकार अपंचीकृत आकाश, अर्थात् शब्द तन्मात्र उत्पन्न हुआ, जैसे रज्जु में सर्प का ज्ञान होता है।

4. अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः ॥17॥
निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्माविनिश्चयः ॥18॥
—मा० कारिका, वैतथ्य प्रकरण,

भावार्थ—जिस प्रकार रज्जु का वास्तविक स्वरूप न जानने पर अन्धकार में सर्प, धारा, रेखा आदि का भ्रम होता है, उसी प्रकार आत्मा में भी जगत की प्रतीति होती है। ॥17॥

रज्जु का वास्तविक स्वरूप जानने के पश्चात् अन्य सभी भ्रम दूर हो जाते हैं और यह ज्ञान होता है कि यह रज्जु ही है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानने के पश्चात् भी ऐसा ही होता है। ॥18॥

मानस—

1. यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।—वा० कां०, मंगलाचरण

भावार्थ—जिनकी सत्ता से रस्सी में सर्प के भ्रम की भाँति यह सारा जगत सत्य ही प्रतीत होता है।

2. झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहचाने ॥ 1 ॥
—वा० कां०, 1-112

भावार्थ—बिना जाने सत्य भी झूठ लगता है, जैसे रस्सी का ज्ञान न होने पर वही रस्सी भुजंग प्रतीत होती है।

साम्य

प्रथम तीन वाक्यों का साम्य मानस के मंगलाचरण के श्लोक से होता है। उपर्युक्त वाक्यों का भावार्थ है कि जिस प्रकार रज्जु में सर्प का अध्यास होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत का। यही भाव मानस के उपर्युक्त श्लोक में है कि रस्सी में सर्प के भ्रम की भाँति उसकी सत्ता में जगत सत्य प्रतीत होता है।

अन्तिम उपनिषद् वाक्य का साम्य मानस चौपाई से है। दोनों का भावार्थ है कि जब तक वास्तविक ज्ञान नहीं होता, तभी तक भ्रम बना रहता है। वास्तविक ज्ञान होने पर भ्रम दूर हो जाता है। भाव की अभिव्यक्ति करने की रीति में थोड़ा अन्तर मात्र है। मानस कहती है बिना जाने सत्य भी झूठ लगता है; वाक्य कथन है कि सत्य जानने पर झूठ तिरोहित हो जाता है। यहाँ शब्दों का थोड़ा हेर-फेर है, पर भावों में समानता है। ०००

भ्रमर कीट

ऐसी एक कल्पना अध्यात्म-साहित्य में प्रचलित है कि भ्रमर कीट नामक एक कीट दीवाल आदि पर एक छोटा सा मिट्टी का घरौंदा बनाता है। उस घरौंदे में किसी दूसरे कीट का अंडा डाल देता है। वह छोटा सा घरौंदा अन्दर से बिल्कुल अंधेरा होता है, उसके द्वार पर भ्रमर कीट स्वयम् बैठा होता है। अन्दर पड़ा जीव द्वार पर बैठे भ्रमर के अन्यथा और कुछ देख नहीं पाता। द्वार पर बैठे भ्रमर कीट को ही निरन्तर देखते रहने के कारण, अन्दर पड़ा जीव भ्रमर कीट के रूप के अनुरूप होने लगता है, और अन्त में भ्रमर कीट बनकर उड़ जाता है। इस उपमा का अभिप्राय 'तद्रूपता' पर प्रकाश डालने के लिए किया जाता है।

उपनिषद् वाक्य

....

सदाचाररतो भूत्वा द्विजो नित्यमनन्यधीः ॥22॥
मयि सर्वात्मके भावो मत्सामीप्यं भजत्ययम्
सैव सालोक्य सारूप्य सामीप्या मुक्तिरिष्यते ॥23॥
गुरूपदिष्टमार्गेण ध्यायन्मद्गुणमव्ययम्।
मत्सायुज्यं द्विजः सम्यग्भजेद्भ्रमरकीटवत् ॥24॥ —मुक्ति उ०, अ० 1

भावार्थ—जो द्विज सदाचार-रत होकर नित्य एकमात्र मेरा ध्यान करता है, और मुझे सर्व आत्मस्वरूप चिन्तन में देखता है, उसे मेरा सामीप्य प्राप्त होता है। वह सदा मेरे समीप निवास करता है, वही सारोप्य, सामीप्य, सालोक्य मुक्ति कहलाती है। जब गुरु के द्वारा उपदिष्ट मार्ग से वह मेरे अव्यय, निर्विकार स्वरूप का ध्यान करता है, तब वह द्विज भ्रमर कीट के समान सम्यक् रूप से मेरे सायुज्य को प्राप्त होता है।

मानस

भइ मम कीट भृंग की नाई। जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई॥
—अर० कां०, 4-25

भावार्थ—मेरी दशा भृंगी के कीट के समान हो गई है, अब मैं जहाँ-तहाँ श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाइयों को ही देखता हूँ।

साम्य—उपनिषद् वाक्य में जिस भृंगी कीट की अवस्था की व्याख्या प्राप्त है, मानस में वही भृंग-कीट अवस्था दृष्टान्त के रूप में प्राप्त है।

सन्दर्भ

1. ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
   माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥14॥ —गीता, अ० 1
2. क्लाइमैक्स व ऐंटी-क्लाइमैक्स।
3. अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
   प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥20॥
   हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
   सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥21॥ —गीता, अ० 1
4. एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
   विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥47॥ —गीता, अ० 1
5. सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
   पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥—गीतामाहात्म्य
6. लं० कां०, 45
7. सु० कां०, 1/44
8. वही, 1/48
9. वही, 6/80
10. लं० कां०, 80
11. अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
    पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥10॥ —गीता, अ० 1
    'देखउँ बनरन्ह केरि ढिठाई, बिहँसि निसाचर सेन बुलाई ॥—लं०कां., 1/40
    वानरों की ढिठाई तो देखो, हँसकर रावण ने सेना बुलायी।
    नानायुध सर चाप धर, जातुधान बल बीर।
    कोट-कँगूरन्हि चढ़ गये, कोटि-कोटि रनधीर ॥
    —लं० कां०, 40

    अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र धनुष-बाण धारण किये करोड़ों बलवान और रणधीर राक्षस वीर कोट के कँगूरों पर चढ़ गए।

12. सुं० कां०, 3/41
13. वही, 5/49
14. तीन अवस्था…एहि विधि जैसे द्वीप ॥ —उ०कां, 118 (घ)
15. तेजरासि बिग्यानमय…दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा ॥ —उ० कां०, 118 (घ)
16. 'यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेहयुतः प्रपश्येत्'
    इसके बाद जब वह योगी यहाँ दीप के सदृश आत्मतत्त्व के द्वारा ब्रह्मत्व को भली भाँति प्रत्यक्ष देख लेता है।
17. जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति।
18. रज, तम, सत्व गुण।
19. चौथी ध्यान की अवस्था।
20. 'राम भगति सोइ मुकुति गोसाईं, अनइच्छित आवइ बरिआई ॥
    'तथा मोच्छ सुख खगराई, रहि न सकइ हरि भगति बिहाई ॥
    अस बिचारि हरि भगति सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने ॥
    भगति करति बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा ॥'
21. जप तप व्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति का सुभ धर्म अचारा ॥
    तेई तृन हरित चरै जब गाई… —उ०कां०, 5।6/117
22. मन को मथानी बनाकर सदा मथते रहना चाहिए।
23. वाणी निग्रह—वाणी का निग्रह करने में क्रोध, ईर्ष्या का दमन, सहनशक्ति, आदि अनेक गुणों के उदय का भाव निहित है।
24. अहं वृक्षस्य रेरिव।
25. कठ उप०; गीता।
26. श्वेताश्वेतर उप०।
27. तै० उप०, 10।1
28. कठ उप० 1। अ० 2। व० 3
29. 1।15 अ०
30. जो अकेला ही वृक्ष की भाँति निश्चल भाव से प्रकाशमय आकाश में स्थित है।
31. राज्याभिषेक के पश्चात् देवतागणों के अलग-अलग स्तुति करके चले जाने के पश्चात् वेद बाकी या चारण का रूप रखकर श्रीरामचन्द्रजी की स्तुति कर रहे हैं। उपरोक्त विषय इस स्तुति का भाग है।
32. मधुर बेलि अकेली जेहि आश्रित रहे।
33. अनेक पर्ण सुमन घने फल जुगल बिधि कटु मधुर।

34. अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा । अकथ, अगाध, अनादि अनूपा ॥
मोरें मत बड़ नाम दुहूँ तें । किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें ॥
प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की । कहहुँ प्रतीत प्रीत रुचि मन की ॥
एकु दारुगत देखिअ एकू । पावक सम जुग ब्रह्म विवेकू ॥
—बा० कां०, 23

कथा-साम्य

महत् शक्ति

भगवान की शक्ति ही महत् शक्ति है, अन्य देवताओं में जो शक्ति देखी जाती है वह वस्तुतः सर्वेश्वर परमेश्वर की ही शक्ति है। केवल अज्ञानवश ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि वह शक्ति देवताओं की है। इस अभिप्राय को बहुधा कथाओं द्वारा अध्यात्म साहित्य में व्यक्त किया गया है। मध्यम बुद्धि के साधकों की बुद्धि आख्यायिकों के दृष्टान्त से ही विषय के महत्व को पूर्ण रूप से हृदय में उतार पाती है। कथाओं की रोचकता व नाटकीयता मन पर पड़ी रह जाती है, और विषय का विस्मरण होने से रोकती है। इस प्रकार की कथाएँ जिस रूप में मानस व उपनिषद् में प्राप्त हैं वे यहाँ अंकित हैं। केनोपनिषद् से प्राप्त कथा—

परम ब्रह्म की कृपा से शक्ति प्राप्त कर देवता असुरों पर विजयी हुए। गर्व-विजय में मत्त देवताओं के सम्मुख यक्ष प्रकट हुए। उनका परम अलौकिक रूप देखकर देवगण आश्चर्य में पड़ गये। परन्तु उनको पहचान न सके। वे दंभ में भर कर उनके सम्मुख पहुँचे, वहाँ उनके सम्मुख एक तृण पर भी, वे अपना प्रभाव न डाल सके। वायु व अग्नि देवताओं के लज्जित होकर लौटने पर, इन्द्र विनीत भाव से उस अलौकिक यक्ष के सम्मुख गये। उनके जाने पर यक्ष अन्तर्धान हो गए, उस समय एक बहुशोभनीय स्त्री रूप में 'हेमवती' प्रकट हुई। इन्द्र की विनीत प्रार्थना पर उन्होंने यक्ष का परिचय दिया, कि वह परब्रह्म परमात्मा हैं। उन्होंने कहा कि असुर-विजय परमात्मा की महिमा के कारण हुई थी परन्तु तुम लोग परमात्मा की महिमा को अपनी महिमा समझकर गर्वान्वित हो रहे थे।

छान्दोग्य उपनिषद से प्राप्त कथा

प्राणों ने प्रजापति से प्रश्न किया कि हम सब देवताओं में सबसे श्रेष्ठ कौन हैं ? प्रजापति ने उत्तर दिया जिसके उत्क्रमण से शरीर पापिष्ठ सा दिखाई पड़े,

वही सबसे श्रेष्ठ है। इस पर क्रम से प्रत्येक इन्द्रिय ने बारी-बारी से शरीर से उत्क्रमण किया। परन्तु लौटने पर अपने बिना भी प्राणी का शरीर जीवित पाया। जिस प्रकार एक इन्द्रिय विहीन शरीर जीवित रहता है, उसी प्रकार वे जी रहे थे। अन्त में प्राणों ने उत्क्रमण करने की इच्छा प्रकट की। अपने उत्क्रमण करने के प्रयास में, जिस प्रकार अच्छा घोड़ा अपने पैरों की बांधने की कील को उखाड़ डालता है, उसी प्रकार अन्य इन्द्रियों को भी प्राण ने उखाड़ दिया। तब उन सबने प्राण के सामने जाकर निवेदन किया, 'भगवन्! आप हम सबसे श्रेष्ठ हैं। आप हमारे स्वामी रहें और आप उत्क्रमण न करें।'

98195

ऐतरेयोपनिषद से प्राप्त कथा

इस एक छोटे से अन्न के दाने को प्रत्येक इन्द्रिय ने ग्रहण करना चाहा, परन्तु वे उसे ग्रहण न कर सकीं। अन्त में प्राणों ने उसको ग्रहण किया, इसके पश्चात् तत्व के जिज्ञासु परस्पर ऐसा विचार करने लगे कि हमारी इन्द्रियों का संचालक कौन है? किस के सहयोग से प्राणी इन्द्रियों की क्रियाओं का ज्ञान करता है? उन्होंने मन की क्रियाशक्ति देखकर अन्तःकरण को सर्वव्यापी सत्ता का बोधक माना, उसको इन्द्र की संज्ञा दी। तथा सर्वशक्ति प्रदान करने वाले, सबके रक्षक ज्ञानस्वरूप परमात्मा को उपास्य देव माना। उन्होंने निश्चय किया कि ब्रह्म से शक्ति पाकर ही सब इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों में समर्थ होती हैं। अतः ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ है।

प्रश्नोपनिषद की कथा

पिप्पलादि ऋषि ने भार्गव से कहा कि निश्चय ही आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वाणी (कर्मेन्द्रियाँ), चक्षु, श्रोत्र, (ज्ञानेन्द्रियाँ) तथा अन्तःकरण (मन) भी देवता हैं। ये सब अपनी-अपनी शक्ति प्रकट करके अभिमानपूर्वक कहने लगे, हमने इस शरीर को आश्रय देकर धारण कर रखा है। जब वे परस्पर विवाद करके झगड़ने लगे तब सर्वश्रेष्ठ प्राण ने उनसे कहा, 'तुम लोग अज्ञानवश आपस में विवाद न करो, तुम में से किसी में भी इस शरीर को धारण करने व सुरक्षित रखने की शक्ति नहीं है। इसे तो मैंने ही अपने को प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान रूप पांच भागों में विभक्त करके आश्रय देते हुए धारण कर रखा है, और मुझ से ही यह सुरक्षित है। देवताओं ने इस पर विश्वास नहीं किया। तब अपना प्रभाव दिखा कर सावधान करने के लिए प्राण बाहर निकलने लगे, कोई भी स्थिर न रह सका। जब प्राण पुनः आकर स्थित हुआ, तब अन्य देवता भी स्थित हुए, जैसे मधुमक्खी का राजा जब अपने स्थान से उड़ता है तब मधुमक्खियां भी उड़ जाती हैं। और जब वह बैठ जाता है तब मधुमक्खियाँ भी बैठ जाती हैं। ऐसी ही दशा उन सबकी हुई। अतः वाणी, नेत्र, श्रोत्र, मन, ये सभी देवता प्रसन्न मन से प्राण की स्तुति करने

लगे।

थोड़े बहुत अन्तर के साथ, इन सभी कथाओं के प्रमुख भाव साम्य निम्नांकित रूप से झलकते हैं—

देवताओं का अहंकारी व जड़ बुद्धि होना।

प्रत्येक देवता का अपने को ही श्रेष्ठ समझना।

अन्त में प्राण व परब्रह्म की श्रेष्ठता स्वीकार करना।

परिणामस्वरूप विनीत भाव से परब्रह्म की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए उनकी स्तुति का गान करना।

इन कथाओं में से जो कथा केनोपनिषद में प्राप्त है, उसमें दो उल्लेखनीय विशेषताएँ और हैं।

यक्ष-रूप में परब्रह्म का सुन्दर अलौकिक रूप में प्रकट होना तथा पुनः उसी स्थान पर एक बहुशोभनीय स्त्री स्वरूप हेमवती का प्रकट होना।

तात्पर्य यह है कि केनोपनिषद् में प्राप्त कथा में वे सभी भाव साम्य तो हैं ही जो अन्य उपनिषद् कथाओं में हैं, साथ में उसमें उपर्युक्त वर्णित दो विशेषताएँ और हैं। केनोपनिषद् में प्राप्त कथा की ये दो विशेषताएँ इसलिए अधिक उल्लेखनीय हो जाती हैं, क्योंकि साम्य स्थापित करते समय मानस की पृष्ठ-भूमि में भी हम को दो ऐसे अलौकिक शोभनीय रूप प्राप्त हैं, जैसे कि केनोपनिषद् कथा में वर्णित हैं। श्रीराम, युद्ध-क्षेत्र में रावण-वध के पश्चात् एक अलौकिक दिव्य रूप से शोभनीय हो रहे हैं। केनोपनिषद् की कथा का रूप जिनके मानस पटल पर पड़ा है उनको राम के उस अलौकिक स्वरूप में यक्ष का दिव्य स्वरूप स्मरण हो आता है।[2] बहुशोभनीय हेमवती स्वरूप के समान श्री सीता जी का अग्निपरीक्षा के पश्चात् का तपा हुआ 'कनक पंकज कली' सा दिव्य स्वरूप[3] ऊपर उभरता है।

दोनों ही, यक्ष रूपी श्रीराम व हेमवती देवी स्वरूपिणी सीता उसी क्रम से कथा पटल पर प्रकट होते हैं, जिस क्रम से यक्ष व हेमवती आकाश में प्रकट हुए थे। प्रथम 'परब्रह्म' रूप में यक्ष, तत्पश्चात् हिमाचल पुत्री देवी उमा 'हेमवती' प्रकट हुई थीं। यहाँ भी प्रथम परमब्रह्म श्रीराम रूप में, तत्पश्चात् जगज्जननी हेमवती श्री सीता रूप में प्रकट होती हैं।

रावण ब्राह्मण था, ब्राह्मण महीसुर की संज्ञा को प्राप्त थे, देवरूप माने जाते थे। रावण कुल, गोत्र, वंश से देव तुल्य होते हुए भी प्रकृति से आसुरी व अभिमानी था। उपनिषद् कथाओं के देवगण भी, देव होते हुए भी इस समय प्रकृति से आसुरी हो रहे हैं। अभिमानी हो रहे थे। अभिमान आसुरी प्रकृति की जड़ है।

अतः इस पृष्ठभूमि में श्रीराम स्वरूप में यक्ष स्वरूप पूर्णरूपेण उतर आता है तथा मानस का श्रीराम स्वरूप में यक्ष रूप देखना मानस के रचयिता के हृदय पर पड़ी उपनिषद् दृष्टांत की छाप दर्शाता है।

यह पहले ही देखा जा चुका है कि मानस ने उपनिषद् के जिस किसी भाव को अपनाया है, उसको अपने रूप में ढाल कर, एक सूक्ष्म अंतर देकर व्यक्त किया है। वह सूक्ष्म अंतर यहाँ भी प्राप्त है। उपनिषद्-कथा में देवी हैमवती के प्रकट होने के पश्चात् परब्रह्म यक्ष अन्तर्धान हो गये थे, तथा देवी हैमवती आकाश में केवल अपने ही रूप में स्थित थी। मानस में जगज्जननी सीता अपने अलौकिक स्वरूप में अकेले ही स्थित नहीं हैं, वे परब्रह्म मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम के वाम अंग में स्थित हैं, यह 'सो राम वाम विभाग राजति के कथन से स्पष्ट ही है।'

यहाँ पुनः अति सूक्ष्म अंतर से ज्ञान पर भक्ति का प्रतिपादन किया गया है। युगल रूप स्थापना के दो कारण हैं, एक तो यह कि कथा का रूप ही यहां युगल-मूर्ति का बनता है, दूसरे यह भी प्रत्यक्ष है कि, श्रीराम-सीता की युगल-मूर्ति के उपासक, तथा श्रीराम के मर्यादा पुरुषोत्तमस्वरूप के आराधक, मानस के रचयिता को अपने उपास्य की सौंदर्य छटा का वर्णन करते समय उनके युगल-मूर्ति व मर्यादा पुरुषोत्तम स्वरूप का स्थापन करके ही पूर्ण संतुष्टि की प्राप्ति होगी।

अब हम मानस-प्रसंग पर आते हैं। मानस में उपनिषद् की कथाओं का भाव कथा के रूप में नहीं आता, वह स्तुति के रूप में आता है। रावण-वध के पश्चात्, युद्ध की पृष्ठ भूमि में, देवगण श्रीराम की अलौकिक छवि देखकर स्तवन करते हैं, उसी स्तवन में उपनिषद्-कथाओं का साम्य प्राप्त है। इस स्तुति के अंतिम व प्रारम्भिक भागों में ही मुख्य रूप से उपनिषद्-कथाओं के भाव प्रतिध्वनित होते हैं। अतः इस स्तुति का प्रारंभिक व अन्तिम भाग हमारे लिए महत्त्व का है। इस कारण उसी भाग का सारांश यहाँ दिया जा रहा है।[4] रावण-वध के बाद, इन्द्र के सारथी का रथ लेकर चले जाने के पश्चात सदा के स्वार्थी देवता आए, वे ऐसे वचन कहने लगे जैसे कि बड़े परमार्थी हों।[5] हम देवता परम अधिकारी होकर भी स्वार्थ-परायण होकर आप की भक्ति को भुला कर भव-सागर के प्रवाह में पड़े हैं, हम आपकी शरण में हैं, आप हमारी रक्षा कीजिये।[6]

उपनिषदों की कथाओं का भाव साम्य स्थापित करते समय देखा गया था कि चार भाव प्रमुख रूप से प्रत्येक उपनिषद् कथा में प्राप्त हैं। मानस में वे निम्न रूप में आए हैं।

उपनिषद्-कथाओं का सार भाव तथा मानस से साम्य

उपनिषद्-कथाओं में देवताओं का अहंकारी व जड़ बुद्धि होना, यही भाव मानस के दोहे 'स्वारथ रत प्रभु भगति बिसारी' में व्यक्त हो गया है।

उपनिषद् कथाओं में देवताओं का अपने को महत मानना, यह भाव मानस में 'हम देवता परम अधिकारी' के रूप में आया है।

उपनिषद् कथाओं में, अन्त में, प्राण एवं परब्रह्म की श्रेष्ठता स्वीकार करना,

मानस में यह भाव 'अब प्रभु पाहि सरन अनुसारे' में स्पष्ट है।

उपनिषदों में उल्लिखित देवताओं का विनीत हो कर 'परब्रह्म' की स्तुति करना यह भाव मानस के 'करि विनीत सुर सिद्ध सब रहे जहँ तहँ कर जोरि' में पूर्णतया झलकता है।

यह पहले ही देख चुके है कि मानस उपनिषद के भावों को अपने अनुरूप करके अभिव्यक्त करती है। यद्यपि उपनिषद् भावों एवं मानस की चौपाइयों में एक विशिष्ट भावसाम्य है तथापि उन दोनों में एक ऐसा सूक्ष्म अंतर बना रहता है जो दोनों में एक पृथक्ता बनाये रहता है। प्राय: मानस में उपनिषद् भाव अपने अतिरंजित स्वरूप में दिखाई देते हैं। यहाँ उसका एक सुन्दर उदाहरण है—

एक तो मानस में कथानक का कलेवर ही बदल गया है। उपनिषद् ने भावों की अभिव्यक्ति के लिए कथा का कलेवर अपनाया था; परब्रह्म की स्तुति कथा के परिणामस्वरूप आई थी। सुरों की स्वार्थपरता दर्शा कर, उन्हें परब्रह्म की शरण में ले जाना कथा का ध्येय था। कथा के अन्त में सुरों की स्तुति शरणप्राप्ति की द्योतक थी। मानस ने कथानक का कलेवर पूर्णतया बदल दिया; अब कथानक का कलेवर स्तुतिपरक हो गया। उपनिषदों में जो भाव कथा कलेवर में व्यक्त हो रहे थे, मानस में वे ही भाव स्तुति के कलेवर में व्यक्त होने लगे। उपनिषदों में कथा माध्यम थी और उसका ध्येय स्तुति थी; अब मानस में स्तुति माध्यम हो गई और कथा संदेश उसका ध्येय हो गया।

ऊपर यह देखा था कि मानस ने कथानक का कलेवर उलट दिया है। केवल कथा का कलेवर ही नहीं, कथा का क्रम भी पलट दिया गया है। उपनिषद् कथा में जो प्रारम्भिक भाग था, मानस ने उससे अपने भावों का अन्त किया है और उपनिषद् कथाओं का जो समापन-अंश था, मानस ने उससे अपने कथा भावों का श्रीगणेश किया है। उपनिषद् कथा में स्तुति, कथा के अंत में आती है; मानस का कथा-भाव प्रारंभ ही स्तुति से होता है,[7] उपनिषद् में सुरों की स्वार्थपरता कथा का आदि भाग था, तो मानस में स्तुति का वह अन्तिम कथन है।[8] जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है, स्तुति उपनिषद् कथाओं का ध्येय थी; मानस ने कथाओं के ध्येय को ही सर्वोपरि रखकर स्तुति रूप को ही भाव-अभिव्यक्त का माध्यम बना दिया है। मानस का उद्देश्य उपनिषद् भावों को प्रधानता देना रहा है, फलत: उपनिषद्-कथाओं के ध्येय को ही, मानस में कथा भाव का माध्यम स्तुति रूप में बना दिया है।

स्थान-स्थान पर यह देखा गया है कि जिस उपनिषद् भाव को मानस प्रधानता देना चाहती है, उसे वह उपनिषद् भाव से तिगुना अधिक महत्व देकर अभिव्यक्त करती है। इसी अनुपात से हमको यदाकदा इस प्रकार के उदाहरण प्राप्त होते रहते हैं, कि जहां कोई उपनिषद् कथन एक वाक्य अथवा एक मंत्र में है, तो मानस

ने उसे तिगुना करके तीन चौपाइयों में लिखा है; यदि उपनिषद् वाक्य ने किसी मुख्य भाव को तीन रूपों में अभिव्यक्त किया है, तो मानस ने उस तीन का तिगुना करके नौ चौपाइयों में उसको अभिव्यक्त किया है। यहाँ भी एक ऐसा उदाहरण है। उपनिषद् कथाओं का भाव साम्य रखने वाली यह स्तुति भी मानस में तीन आवृत्तियों में आती है—

प्रथम स्तुति देवगण कर रहे हैं।[9]

दूसरी स्तुति ब्रह्माजी कर रहे हैं।[10]

तीसरी स्तुति इन्द्र कर रहे हैं।[11]

यहाँ मानस में इन्द्र का अन्तिम प्रार्थी होकर जाना उल्लेखनीय है। यह भी ध्यान देने योग्य वस्तु है कि इन्द्र ही केनोपनिषद् की कथा में भी अन्तिम प्रार्थी है। यहाँ पुनः केनोपनिषद् की कथा से साम्य स्थापित होता है।

इन तीनों स्तुतियों के तारतम्य तथा भावना की एकात्मता से यह सिद्ध होता है कि ये तीनों स्तुतियाँ परस्पर सम्बन्धित हैं। इन तीनों स्तुतियों में प्रार्थी अपने मिथ्या अभिमान के कारण लज्जित होकर, शरणागत भाव से श्रीराम का स्तुति गान करते हैं तथा उनकी कृपा की आकांक्षा करते हैं। यह अंश भी उपनिषद् कथाओं के अनुरूप है। उन उपनिषद् कथाओं में भी देवगण व इन्द्र अपने मिथ्या अभिमान के लिए लज्जित हो, विनीत भाव से शरणागत हो, परब्रह्म की कृपा की आकांक्षा करते हैं। भावों की समानता से यह प्रतिपादित होता है कि मानस उपनिषद् भावों को ही पाठकों को हृदयंगम कराना चाहती है। उपनिषद् कथा भाव की, तीन आवृत्तियों द्वारा, मानस का उद्देश्य पुनरावृत्ति द्वारा पाठकों के हृदय में उन भावों को पैठाना ही था।

मानस में प्राप्त तीनों स्तुतियों के अंतिम भाग का सारांश कुछ इस रूप में प्राप्त होता है—

देवताओं की स्तुति का अंतिम भाग—आपकी कृपा के परम अधिकारी होकर भी स्वारथ-रत होकर हमने प्रभु की भक्ति विसार दी; हम भव-प्रवाह में बहकर कष्ट पाने लगे। अब प्रभु, हम आपकी शरण में हैं। ऐसा कहकर देवतागण जहाँ तहाँ हाथ जोड़कर खड़े हो गये।[12]

ब्रह्मा जी की स्तुति का अंतिम भाग—'देव शरीर रखकर उस जीवन को धिक्कार है, जिस शरीर में भगवान की भक्ति न हुई। हे प्रभु! अब दया कीजिए, मेरी विभेदभरी बुद्धि को हर लीजिए, जिससे मैं विपरीत क्रिया करता हूँ। मुझे यह वरदान दीजिये कि आपके शुभ चरणों का प्रेम मुझे प्राप्त हो।[13]

इंद्र की स्तुति का अंतिम भाग—मुझको अति अभिमान था और मैं अपने सामने किसी को नहीं समझता था। आपके पदकंज को देखकर दुःख-समूहों को देने वाला मेरा अभिमान जाता रहा। अब आप मेरे हृदय में लखन वैदेही समेत निवास

कीजिए। मुझे अपना दास समझिये तथा अपनी भक्ति दीजिए।[14]

उपनिषद् कथाओं का सार है, देवता अभिमानी व स्वार्थी थे। उनका मद चूर हुआ, और वे परब्रह्म की शरणागत हुए। वास्तव में यह देखा जाय तो उपर्युक्त मानस में प्राप्त स्तुति सारांशों में ही उपनिषद् कथा का संक्षिप्त रूप से पूर्ण सार आ जाता है। यही वह भाव साम्य है जिसकी तीन आवृतियाँ देकर मानस को संतोष हुआ है।

रावण-वध के पश्चात्, देवगण द्वारा गायी श्रीरामस्तुति पढ़ते समय इस बात का ध्यान आता है कि देवताओं के स्वार्थ की चर्चा किए बिना भी, बिना किसी अवरोध के भी स्तुति की जा सकती थी। साधारण रूप से देखा जाए तो, स्तुति के प्रारम्भ की अपने को स्वार्थी कहने वाली ये चौपाइयाँ कुछ अनावश्यक-सी जान पड़ती हैं। इन चौपाइयों से न कथा-प्रवाह में कोई सहायता मिलती है, और न स्तुति में ही श्रीराम-माहात्म्य का कोई विशेष भाव जुड़ता है। इससे ऐसा विचार आना स्वाभाविक है कि कथा एवं भाव की दृष्टि से अनावश्यक होते हुए भी उन चौपाइयों को इतनी चरमस्थिति के स्थान पर रखने का मानस का कोई उद्देश्य अवश्य रहा होगा। इन चौपाइयों में उपनिषद् कथा-साम्य का प्रतिबिम्ब झलकते ही उनका उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। साम्य के दृष्टिकोण से देखने पर उनमें एक सार्थकता आ जाती है। अब वे पहले के समान अनावश्यक नहीं जान पड़तीं, वरन् अब वे मानस व उपनिषदों के भाव सूत्रों के बीच की एक ऐसी कड़ी लगती हैं, जिसने दोनों को परस्पर आबद्ध कर दिया है।

मानस में देवताओं के स्वार्थी स्वरूप पर यत्र-तत्र प्रकाश पड़ता है। कुछ स्थानों पर उनको मानस ने सांकेतिक रूप से स्वार्थी, जड़, मलिनमल, कहा है। परन्तु इस स्थान पर उनका स्वार्थभाव स्पष्ट व तीखेपन के साथ है और उसके प्रति सुरों के मन में आत्मग्लानि तथा लज्जा भी है। आत्मग्लानि द्वारा कहा हुआ कथन शंका-विहीन हो जाता है। जब चोर ही अपनी चोरी स्वीकार करने लग जाय, तो उसके चोर होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। इस प्रकार प्रमाणित रूप से देवगण के मुख से स्वयम् को स्वार्थी कहलाकर, तथा उनके कथन में आत्मग्लानि का तीखापन भरकर मानस ने राम-कथा की चरम स्थिति (रावण-वध) पर जब इन भावों को अंकित किया है, तब अवश्य ही मानस का उसमें कुछ विशेष अभिप्राय है। मानस का यह अभिप्राय उस समय स्पष्ट झलक जाता है, जब देवगण की यह स्तुति केनोपनिषद् की कथा के आधार पर देखी समझी जाती है। मानस ने स्थान-स्थान पर जो उपनिषद्-मणियाँ अपने पाठकों के सम्मुख प्रकट की हैं, उनमें से यह श्रीरामविजय स्तुति भी एक उल्लेखनीय अंश है।

सन्दर्भ

1. इन कथाओं का पूर्ण उद्धरण पुस्तक के परिशिष्ट में मिलता है।
2. संग्राम अंगत: राम अनंग बहु सोभा लही। 1।

   भावार्थ—रणभूमि में श्री रामचन्द्रजी के अंगों ने बहुत से कामदेवों की शोभा प्राप्त की है।

   सिर जटा मुकुट प्रसून बिच बिच अति मनोहर राजहीं।
   जनु नीलगिरि पर तड़ित पटल समेत उडुगन भ्राजहीं।।
   भुजदंड सर कोदंड फेरत रुधिर कन तन अति बने।
   जनु रायमुनीं तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने ।।2।:
3. सो राम वाम विभाग राजति रुचिर अति सोभा भली।
   नव नील नीरज निकट मानहुँ कनक पंकज की कली ।।2।।

   —लंका काण्ड, 109
4. देवताओं द्वारा की गयी पूर्ण रामस्तुति इस रूप में है—इन्द्र के सारथी मातलि के रथ लेकर चले जाने के पश्चात् सदा के स्वार्थी देवता आए, वे ऐसे वचन कहने लगे जैसे कि बड़े परमार्थी हों—आपने हम पर बड़ी दया की है। दुष्ट रावण अपने पापों से नष्ट हो गया है। आप राम रूप, ब्रह्म अविनाशी, नित्य, एक रस, आदि-आदि अनेक गुणों की खान व दयामय हैं। जब-जब देवताओं के दुःखों का नाश किया है। रावण ने अधम शिरोमणि होने पर भी आपका परम पद पा लिया। इसका हमको बहुत आश्चर्य है। हम देवता परम अधिकारी होकर भी स्वार्थ-परायण होकर आपकी भक्ति को भुलाकर भवसागर के प्रवाह में पड़े हैं। हे प्रभो ! अब हम आपकी शरण में हैं। हमारी रक्षा कीजिए।
5. आए देव सदा स्वारथी, बचन कहहिं जनु परमारथी।

   —लंका काण्ड, 1।110
6. हम देवता परम अधिकारी, स्वारथ रत प्रभु भगति बिसारी।
   भव प्रवाह संतत हम परे, अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे ।।

   —लंका काण्ड, 6-110
7. लंका काण्ड, 6-110
8. दीनबंधु दयाल रघुराया···करुनामय।

   लंका काण्ड, 3।110
9. करि बिनती सुर सिद्धि सब, रहे जहँ तहँ कर जोरि।
   अति सप्रेम तन पुलकि विधि, अस्तुति करत बहोरि ।।

   —लंका काण्ड, 117

10. विनय कीन्ह चतुरानन, प्रेम पुलक अति गात।
सोभा सिंधु बिलोकत, लोचन नहीं अघात॥

—लंका काण्ड, 111

11. अब करि कृपाविलोक मोहि, आयसु देहु कृपाल।
कहा करौं सुनि प्रिय बचन, बोले दीनदयाल॥

—लंका काण्ड, 113

12. लंका काण्ड, 6-110

13. धिग जीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे॥9॥
अब दीन दयाल दया करिये। मति मोरि बिभेद करी हरिऐ।
जेहि ते बिपरीत क्रिया करिऐ। दुख सो सुखमानि सुखी चरि॥10॥
नृप नायक दे वरदानमिदं। चरनांबुज प्रेमु सदा सुभदं॥11॥

14. मोहि कहा अति अभिमान। नहिं कोउ मोहि समान॥
अब देखि प्रभु पद कंज। गत मान प्रद दुख पुंज॥6॥
बैदेहि अनुज समेत। मम हृदयं करहु निकेता।
मोहि जानिऐ निज दास। दे भक्ति रमानिवास॥8॥

—लंक. काण्ड, 113

15. (क) सुर नर मुनि सब कै यह रीती, स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

—कि० काण्ड, 12।1

(ख) स्वारथ बिबस बिकल तुम्ह होहू; भरत दोसु नहि राउर मोहू।

—अयो० काण्ड, 220।1

(ग) बिबुध बिनय सुनि देबि सयानी, बोली सुर स्वारथ जड़ जानी॥

—अयो० काण्ड, 299।2

(घ) सुर स्वारथी मलीन मन, कीन्ह कुमन्त्र कुठाटु॥

—अयो० काण्ड, 295

द्वितीय प्रकरण

साधना तत्त्व

ब्रह्मज्ञान का अधिकारत्व
गुरु-परम्परा
कर्मकाण्ड
भजन
ध्यान
नाम-स्मरण
साधना के परिणाम

ब्रह्म-ज्ञान का अधिकारत्व

जीवन का व्यावहारिक ज्ञान, अधिकारी के ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता तोल लेने के पश्चात् ही दिया जाता है। भिन्न-भिन्न परीक्षाएँ अधिकारी के अधिकारत्व की क्षमता तोलने की कसौटी हैं। खरा उतरने पर वे ज्ञान प्राप्ति के लिए उपयुक्त ठहरा दिये जाते हैं, और सफल न होने पर अयोग्य की श्रेणियों में आ जाते हैं। जब साधारण ज्ञान में, योग्यता परखने पर इतना ध्यान दिया जाता है, तब ब्रह्म-ज्ञान जैसे सूक्ष्म विषय के ज्ञान के लिए अधिकारी की अधिकारत्व क्षमता तोलना कितना आवश्यक है! इस भाव को सम्मुख रखकर ही, शास्त्र बारंबार अधिकारी को ही ब्रह्मज्ञान देने का आग्रह करते हैं।

इस विषय पर मानस व उपनिषद् में जो साम्य है वह नीचे अंकित है।

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥2॥

—प्रश्नोपनिषद, प्रथम प्रश्न

एक बार छह सांगोपांग वेदपारायण तथा ब्रह्मनिष्ठ ऋषि परब्रह्म की खोज करते-करते पिप्पलाद ऋषि के आश्रम में यह आशा लेकर आए कि, निश्चय ही पिप्पलाद ऋषि ब्रह्म के ज्ञाता हैं अतः ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान दे सकेंगे? वे ब्रह्मज्ञाता हैं, अतः हाथ में समिधा लेकर, वे पिप्पलाद ऋषि के समीप प्रश्न पूछने की इच्छा से गए। उनके प्रश्न के उत्तर में, पिप्पलाद ऋषि ने, उपर्युक्त अंकित वाक्य का उत्तर दिया। उन्होंने उन लोगों से कहा कि, "तुम पुनः श्रद्धा के साथ, ब्रह्मचर्य्य का पालन करते हुए, एक वर्ष तक आश्रम में निवास करो। इसके बाद, अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार प्रश्न पूछना। यदि, मुझको उसका उत्तर विदित होगा, तो निस्संदेह ही मैं वह तुम लोगों को समझाऊँगा।"

इस संदर्भ से कई भावार्थ निकलते हैं—

(1) उपरोक्त उद्धृत वाक्य से प्रथम भावार्थ तो यह निकलता है कि, प्रश्न-कर्त्ता को अधिकारी होने पर ही ब्रह्म सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर मिलना

चाहिए ।[1] (वेदपारायणी, ब्रह्मनिष्ठ के अधिकारी थे)

(2) दूसरा भावार्थ 'श्रद्धया' शब्द को प्रधानता देता है। और श्रद्धा को ब्रह्मज्ञान अधिकारत्व का एक प्रधान अंग माना जाता है।[2] (ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया...)

(3) तीसरा भावार्थ समय की उस अवधि का है जिसमें श्रद्धा, ब्रह्मचर्य्य के साथ, आचार-नियमित जीवन व्यतीत करने पर अधिकारत्व की प्राप्ति होती है।[3] (संवत्सरम्)

उपर्युक्त सन्दर्भ में सन्निहित भावार्थों को ध्यान रखते हुए, जब हम मानस से उसका साम्य देखते हैं, तब यह प्रतीत होता है जैसे भावार्थों की एक के पश्चात् दूसरी परत बड़ी सूक्ष्मता से खुलती चली जा रही है।

'सव······

ब्रह्मज्ञान रत मुनि बिग्यानी। मोहि परम अधिकारी जानी ॥
लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा ॥
(उ. कां. 111/1-2)

यह कथन काकभुशुण्डि जी का है। मानस के उत्तरकाण्ड में काकभुशुण्डि जी का चित्र उन प्रश्नकर्त्ताओं के समान उभरता है जो प्रश्नोपनिषद् की पृष्ठभूमि है।[4]

(4) प्रश्नोपनिषद् की पृष्ठभूमि में प्रश्नकर्त्ता स्वयं 'ऋषि' हैं। तो उन्हीं के समान काकभुशुण्डि जी एक 'परम रामभक्त' हैं कई। जन्मों की प्रगाढ़ रामभक्ति उनमें बसी है। ज्ञानयोग में जो स्थान ऋषि का है, भक्तियोग में वही स्थान एक परम भक्त का है।

(5) प्रश्नोपनिषद् के जिज्ञासु ऋषि 'अधिक ज्ञान की अभिलाषा' से पिप्पलाद ऋषि के समीप गये थे, तो काकभुशुण्डि जी 'अधिक भक्ति की अभिलाषा' से, मेरु पर्वत पर, वट वृक्ष की छाया में आसीन, लोमश मुनि के समीप जाते हैं।[5]

(6) जिस प्रकार प्रश्नोपनिषद् में ऋषिगण, पिप्पलाद ऋषि से 'ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी प्रश्न' पूछते हैं, उसी प्रकार काकभुशुण्डि जी लोमश मुनि से 'सगुण ब्रह्म आराधना सम्बन्धी प्रश्न' पूछते हैं।[6]

(7) प्रश्नोपनिषद् के प्रश्नकर्त्ता, ब्रह्मज्ञान के अधिकारत्व के गुणों की प्राप्ति के लिए, पिप्पलाद ऋषि के आश्रम में, समय की एक अवधि व्यतीत कर रहे है, तो काकभुशुण्डि जी अपने अधिकारत्व की अवधि, भिन्न-भिन्न जीवन जीकर व्यतीत कर रहे हैं। जीवन के इन क्रमों में वे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के अधिकारत्व की प्राप्ति कर रहे हैं। इन जन्मों के द्वारा जब उनकी 'गाढ़ी त्रिविधि ईषना[7]' छूट गई है तब, वे लोमश

मुनि के समीप 'सगुन ब्रह्म आराधना' की प्रक्रिया पूछने के लिये आये हैं। 'छूटी त्रिबिधि ईषना गाढ़ी' से यह स्पष्ट हो जाता है कि, काकभुशुण्डि जी प्रत्येक जन्म में, ब्रह्मज्ञान के अधिकारत्व की प्राप्ति कर रहे थे।[7]

(४) काकभुशुण्डि जी के पूर्व उद्धृत निम्नांकित कथन में :

'ब्रह्म ज्ञान रत मुनि बिग्यानी, मोहि परम अधिकारी ज्ञानी'

इस स्थान पर 'परम' शब्द अत्यन्त उल्लेखनीय है। मानस के 'परम' शब्द में वाक्य के 'श्रद्धा'[8] शब्द का भाव निहित है। काकभुशुण्डि जी व प्रश्नोपनिषद् के प्रश्नकर्त्ता ऋषियों पर विवेचना की जाय, और यह देखने का प्रयास किया जाय कि, क्या कारण था, कि, एक तो 'परम' अधिकारी था (काकभुशुण्डि), कि उन्हें तत्काल ब्रह्मज्ञान का उपदेश मिल गया; और दूसरों को (प्रश्नकर्त्ता ऋषि) अभी एक वर्ष तक और श्रद्धा के साथ ब्रह्मचर्य्य का पालन करते हुए, तपस्यापूर्ण जीवन व्यतीत करने का आदेश दिया गया, और तत्पश्चात् ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी प्रश्न पूछने की अनुमति दी गयी। ये प्रश्नकर्त्ता ऋषि, ऋषिगण थे। उनके गुरु पिप्पलाद ऋषि ने यह भी माना है कि उन लोगों ने ब्रह्मचर्य्य के साथ सांगोपांग वेद-पठन भी किया था।[9] इन दोनों में जो अन्तर था वह वाक्य के श्रद्धा शब्द से स्पष्ट हो जाता है। काकभुशुण्डि जी में जो श्रद्धा थी, वह श्रद्धा उपनिषद् के प्रश्नकर्त्ताओं को अपने में अभी उत्पन्न करनी थी। ब्रह्मज्ञान का परम अधिकारी होने के लिए श्रद्धा का भाव अत्यन्त आवश्यक है। श्रद्धा से, अधिकार के परम पद का सीधा नाता है। जिसमें जितनी अधिक श्रद्धा है, वह उतना ही परम अधिकारी है।

मानस में यह श्रद्धा का भाव 'सादर'[10] शब्द से प्रकाश में आ जाता है। 'श्रद्धा व सादर' शब्द पर्यायवाची न होते हुए भी सम-भाववाही दो शब्द हैं। श्रद्धा गुण है, सादर उसमें तत्रस्थ भाव है; उसकी परिणति है। 'सादर सुनहि परम अधिकारी' इस प्रकार की चौपाइयां मानस में बिखरी पड़ी हैं। छिन्न मुक्तावली के समान, समस्त मानस में 'सादर' शब्द का यह बिखराव, इस बात का सुन्दर दृष्टान्त है कि, किस प्रकार बारम्बार 'सादर' शब्द का प्रयोग करके, संकेत व चेतावनी द्वारा श्रद्धा के भाव की ओर, पाठकों का ध्यान आकर्षित करके प्रत्येक मानस-परायण के साथ पाठक को परमतत्व के ज्ञान का अधिकारी भी बनाती जा रही है। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति, अधिकारोचित गुण होने के पश्चात् ही की जा सकती है। उपनिषद् तत्व के ज्ञान के लिए, साधक को पहले ज्ञान ग्रहण करने का अधिकारी बनना पड़ता है; तब ज्ञान ग्रहण करने का अधिकारी बनने के पश्चात् उसे

गुरु द्वारा ब्रह्मज्ञान का उपदेश मिलता है। मानस में, प्रत्येक मानस-पारायण के साथ, उत्तरोत्तर पाठक में, ज्ञान के अधिकारोचित गुणों का विकास होता जाता है। बारम्बार, मानस-पारायण के साथ-साथ पाठक में वे गुण प्रस्फुटित होने लगते है, जिनके कारण वह ब्रह्मज्ञान के अधिकारियों में परिणत होता जाता है। उपनिषद् काल में, एक वर्ष की अवधि आश्रम में, संयम से व्यतीत करने पर, तथा गुरु सेवा करने ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी प्रश्न करके की पात्रता शिष्य को प्राप्त होती थी। इसी पात्रता का गुण मानस-पठन मात्र से, पाठकों में प्रस्फुटित होता है। बारम्बार मानस-पाठ से, हृदय में वैसी ही सात्विकता प्राप्त होती है, जैसी गुरु-सेवा आश्रमवास से प्राप्त होती है। मानस भावना से पढ़ी जाती है; मानस पारायण से मन की भावनाएं सात्विक भावनाओं में परिवर्तित होने लगती हैं; अतः, मन में, सात्विक प्रधान गुणों का अभ्युदय होता है। उपनिषद् पढ़ने के पूर्व ही साधक को, सात्विक होना आवश्यक है। मानस में, यह प्रक्रिया ग्रन्थ पढ़ने के पश्चात् व साथ होती है।

मानस एक अध्यात्म साहित्य है अतः आध्यात्मिक ग्रन्थ होने के नाते उसमें तात्विक विवेचना साहित्य में संवर्तित होकर आई है। फलतः इससे प्रसंबुद्ध पाठकों की संख्या बढ़ती जाती है। जो वस्तु हमें प्राप्त नहीं थी वह प्राप्त हो गयी, या हममें नये गुण प्रस्फुटित हो गये, तो हम भी संबुद्ध अधिकारी की श्रेणी में आ गये। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के अधिकार का संकुचित क्षेत्र, कुछ प्राणियों तक ही सीमित न रहकर अधिक विस्तृत हो गया, और अधिक प्राणी ज्ञान प्राप्त करने के अधिकारी हो गये।

मानस तथा उपनिषद् दोनों ही सार्वभौम हैं परन्तु शास्त्रीयता के कारण उपनिषद् की सार्वभौमता सीमित है। भावनाओं और हृदय को ग्राह्य होने के कारण मानस का क्षेत्र अधिक व्यापक है। मानस का वस्तु गौरव मानवीय संवेदनाओं के आवर्त्त में डूबा रहता है, इस कारण उसकी ग्राह्य शक्ति का रूप बहुत सहज है। जब तक बुद्धि से उपनिषदों के पास न जायें, तब वे हमारे पास नहीं आते। मानस, भावनाओं के धरातल से, हमारे निकट अनेक तात्विक संदर्भ पहुँचा देती है। भावना के उद्रेक के द्वारा, रामायण में समाविष्ट दार्शनिक तत्व सरलता से बुद्धि ग्राह्य हो जाते हैं। 'अधिकार प्राप्त कर साधक उपनिषद् पढ़ता है, मानस पढ़ने के पश्चात्, अनधिकारी भी अधिकारी हो जाता है।' रामायण के पारायणों के पश्चात्, उपनिषद् के अनुशीलन का अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाता है। यह मानस का वैशिष्ट्य है कि दर्शनशास्त्र की उत्कृष्ट सामग्री इस रूप में आत्मसात् होकर मानस में आई है कि सभी इसके पढ़ने के अधिकारी हैं। उत्तरोत्तर मानस-पारायण के साथ मानस स्वयम् पाठक को उसे समझने का अधिकार देती है।

अनधिकारी—मानस व उपनिषद् दोनों ने ही एक वर्ग के प्राणियो को ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का अनधिकारी बताया है। अनधिकारियों के वर्णन में मानस व उपनिषद् दोनों की ही सूचियों में बहुत समानता है।

दोनों ही किन्हीं व्यक्ति विशेष को अनधिकारी नहीं मानते। ये सूचियां उन अवगुणों की हैं, जिनके कारण कि प्राणियों की गणना अनधिकारियों में होने लगती है। यहां पहले उपनिषद् भाग उद्धृत किये जाते हैं :

(1) इदं परम तत्वं रहस्यं न वाच्यंगुरु भक्तिविहीनाय।
ना चाशुश्रूपवे वाच्यम्। न तपोविहीनाय न नास्तिकाय।
न दाम्भिकाय मद्भक्ति विहीनाय। मात्सर्याधि-ततनवे न वाच्यम्।
न वाच्यं मद्सूयापराय कृतघ्नाय ॥20॥

—पादिभूति महा० उ० प्र०, अ० 8, त्रि०

अर्थ—मेरा यह परम रहस्य गुरुभक्ति-विहीन को नहीं बतलाना चाहिए। जो सुनना न चाहता हो उसे भी नहीं बतलाना चाहिए, न तपस्या-विहीन नास्तिक को और न मेरी भक्ति से रहित दाम्भिक को बताना चाहिए। मेरी निन्दा में लगे कृतघ्न को भी नहीं बताना चाहिए।

(2) मयोपदिष्टं शिष्याय तुभ्यं पवननन्दन इदं शास्त्रं मयादिष्टं गुह्यमष्टोत्तरं शतम् ॥45॥ ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि पठतां बन्धमोचकम्। राज्यं देयं धनं देयं याचतः कामपूरणम् ॥46॥ इदमष्टोतरशतं न देयं यस्य कस्यचित्। नास्तिकाय कृतघ्नाय दुराचाररताय वै ॥47॥ मद्भक्तिविमुखायापि शास्त्रगर्तेषु मुह्यते। गुरुभक्तिविहीनाय दातव्यं न कदाचन ॥48॥

—मुक्ति उ०, प्रथम अध्याय

भावार्थ—पवनकुमार, तुम मेरे शिष्य हो अतएव, मैंने तुम्हारे लिए इस शास्त्र का वर्णन किया है। मेरे द्वारा वर्णित यह अष्टोत्तरशत उपनिषद् रूप शास्त्र अत्यन्त गोपनीय है। ज्ञान से, अज्ञान से और प्रसंगवश भी इसका पाठ करने से संसार रूपी बन्धन से मुक्ति मिल जाती है। जो तुम से राज्य व धन मांगे, उसे उसकी कामना पूर्ति के लिये राज्य अथवा धन दे सकते हो; परन्तु इन 108 उपनिषदों को जिस किसी को देना ठीक नहीं। निश्चयपूर्वक जो नास्तिक हैं, कृतघ्न हैं, दुराचारी हैं, मेरी भक्ति से मुंह मोड़े हुए हैं, शास्त्र रूपी गड्ढों में गिर कर मोहित हो रहे हैं तथा जो गुरु-भक्ति से विहीन हैं, उनको तो कदापि नहीं देना चाहिये।

(3) नानूचानाय। नायज्ञशीलाय। नावैष्णवाय। नायोगिने। न बहुभाषिणे। नाप्रियवादिने। नासंवत्सरवेदिने। नातुष्टाय। नानधीतवेदायोपदिशेत् ॥11॥

—मुद्गल० उ०, खं० 4

अर्थ—जो विद्वान होने पर भी जिज्ञासु भाव से प्रश्न न करे, उसे भी इसका

उपदेश न करे, जो यज्ञ न करता हो, जो अवैष्णव हो, जो अयोगी हो, जो बहु-भाषी हो, जो अप्रियभाषी हो, जो वर्ष भर में एक बार वेदों का स्वाध्याय न कर ले, जो असंतोषी हो, जिसने वेदों का अध्ययन न किया हो, उनको इस पुरुषसूक्त का उपदेश न करे।

(4) तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्ण व्रतोऽधीते ॥11॥

—मु० उ०, खं० 2

अर्थ —इसी सत्य को पहले अंङ्गिरा ऋषि ने कहा था कि जो ब्रह्मचर्य्य व्रत का पालन नहीं किया है, वह इसे नहीं पढ़ सकता।

ऊपर उद्धृत उपनिषद् वाक्यों का निष्कर्ष एक ही है। पहले इसको स्थापित करने के पश्चात्, कि किस प्रकार प्रत्येक उपनिषद् वाक्य एक ही वस्तु की पुष्ट कर रहे हैं, हम मानस से उसका साम्य देखेंगे।

मानस की अनधिकारी सम्बन्धित चौपाइयों में भी इन्हीं छह अवगुणों की सूची है—

मति अनुरूप कथा मैं भाषी। श्रव्यपि प्रथम गुप्त करि राखी॥
तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तव मैं रघुपति कथा सुनाई॥
यह न कहिअ सठ ही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि॥
कहिअ न लोभिहि, क्रोधिहि, कामिहि। जो न भजइ सचराचर स्वामिहि॥
द्विज द्रोहिहि न सुनाइअ कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप जब हूँ॥

—उ० कां०, 1-3 128

मानस की उपर्युक्त चौपाइयों में जो छः अवगुण वर्णित हैं, वही 6 अवगुण, अनधिकारियों के अवगुण हैं, जो हमको उपनिषदों में प्राप्त है।

उपनिषद् वर्णित अनधिकारियों के दोष तथा मानस-वर्णित अनधिकारियों के दोषों का साम्य—

उपनिषद्	मानस
(1) गुरुभक्ति-विहीन	'द्विज द्रोहिहि न सुनाइअ कबहूँ', गुरु शब्द का भाव विस्तृत रूप से 'द्विज' के रूप में आया है। मानस काल में द्विज ही गुरु हुआ करते थे। इस प्रकार उस समय के लौकिककार्य के अनुसार, मानस में वर्णित द्विज शब्द का भाव, उपनिषद् के गुरु शब्द के अर्थ में लिया जायेगा।
(2) (क) तपस्या-विहीन (ख) दुराचारी	'कहिअ न लोभिहिं, क्रोधिहिं, कामिहिं'। लोभ, क्रोध व काम मन के रिपु है। अतः जिनमें ये तीनों रिपु स्वतंत्र रूप से विराजते हैं, वे तपस्या से विहीन हैं। तपस्यावान् पुरुष इनके आधीन नहीं होता। तपस्या-

उपनिषद् वाक्यों में अनधिकारियों के छह मुख्य दोष गिनाये गये हैं :

त्रि० महा० उ०	मुक्ति उप०	मुद्० उप०
(1) गुरुभक्ति-विहीन	(1) गुरुभक्ति-विहीन	
(2) तपस्या-विहीन	(2) दुराचारी (दुराचार शब्द का अर्थ अत्यन्त विस्तृत है। तपस्या-विहीन होना भी दुराचरण है)	(2) यज्ञ न करना, वेदों का अध्ययन न करना, वैदिक काल का दुराचरण है।
(3) नास्तिक	(3) नास्तिक	(3) अवैष्णव (अवैष्णव व नास्तिक में भावों की एकता है)
(4) भक्ति-रहित	(4) भक्ति-रहित	(4) विद्वान होने पर भी जो जिज्ञासु भाव से प्रश्न न करे (भक्तिविहीन ही हृदय की कोरी विद्वत्ता से प्रश्न करेगा)
(5) दाम्भिक	(5) शास्त्र रूपी गड्ढे में पड़े जो मोहित हो रहे हैं। (दाम्भिक प्राणी ही शास्त्र रूपी गड्ढे में उलझा रहता है।)	(5) बहुभाषी व अप्रियभाषी (ये दोनों भी दाम्भिक प्राणी के गुण हैं)
(6) कृतघ्न	(6) कृतघ्न	(6) असंतोषी (असंतोष कृतघ्नता का दोष है)

वान होता। तपस्यावान प्राणी का हृदय इनसे मुक्त होता है, अतः जिनके हृदय में इनका साम्राज्य है, वह तपस्या-विहीन है।

दुराचरण सम्बन्धी मूल अनधिकारी की गणना के सिद्धांत के पीछे भी, ये ही अवगुण विशेष रूप से सक्रिय माने जाते हैं। लोभ से काम की उत्पत्ति, तथा काम की प्राप्ति न होने पर क्रोध का जन्म; तथा क्रोध के कारण बुद्धि भ्रम[11], तथा बुद्धि भ्रम से अन्य समस्त दुराचरणों का जन्म।

ऐसा प्रतीत होता है जैसे मानस ने 'तपस्या-विहीन' व 'दुराचारी' की परिभाषा व व्याख्या स्वरूप ही यह चौपाई लिखी हो 'कहिअ न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि।

(3) (क) नास्तिक
(ख) अवैष्णव

(क) **'जो न भजहि सचराचर स्वामिहिं'** वहाँ 'सचराचर-स्वामी' शब्द परमेश्वर का द्योतक है, जो परमेश्वर को नहीं मानता, वह नास्तिक है। अतः अनधिकारी है।

(ख) विष्णु को जगत का पालनकर्ता माना गया है; इस रूप से सचराचर स्वामी शब्द का दूसरा अर्थ विष्णु भी हो जाता है। अतः इस प्रकार जो सचराचर स्वामी (विष्णु) को नहीं मानता, वह 'अवैष्णव' है। भगवान् राम विष्णुतत्व के अवतार माने जाते हैं। मानस के रचयिता के वे आराध्य देव थे। अतः इस भाव को दृष्टिकोण में रखकर देखने से 'अवैष्णव' वाले अर्थ में सार्थकता आ जाती है।

(4) (क) भक्ति-विहीन

(क) मति अनुरूप कथा मैं भाषी।
जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी॥
तव मन प्रीति देखि अधिकाई।
तव मैं रघुपति कथा सुनाई॥

'तव मन प्रीति देख अधिकाई' चौपाई का यह अंश तो हृदय की अतिशय भक्ति की ओर संकेत करता है। उपनिषद् वर्णित अनधिकार के दोषों में भक्ति-रहित होना एक दोष है। यहाँ संकेत द्वारा गिरिराज किशोरी के मन में भक्ति की अभिव्यक्ति दर्शाकर

मानस ने संकेत द्वारा उस दोष का निराकरण किया है।

(ख) विद्वान न होने पर भी जो जिज्ञासु भाव से प्रश्न न करे, वह ब्रह्मज्ञान का अनधिकारी है।	(ख) इस स्थान पर प्रश्नकर्त्ता गिरिराज किशोरी हैं; रामकथा की महिमा का गुणगान करने वाले स्वयं शंकर भगवान हैं। पार्वती जी की प्रगाढ़ भक्ति व जिज्ञासु भाव दर्शाकर ही वे गोपनीय मानस पर प्रकाश डाल रहे हैं।[12] उपनिषद् का जो कथन है, मानस उस कथन का ही दृष्टांत प्रस्तुत कर रही है। जब प्रश्न जिज्ञासु भाव से हो, तभी उसका समाधान होना चाहिये। जिज्ञासा न हो तो यह विषय प्रकट नहीं करना चाहिये। इस दृष्टांत से मानस का संकेत है कि पार्वती जी के समान श्रद्धा, भक्ति व जिज्ञासा से सुनने वाला ही ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी होता है।
(5) (क) दाम्भिक	(क) 'जो मन लाइ न सुन हरिलीलहिं' दम्भ के कारण जो हरि की लीला मन लगाकर नहीं सुनते। अतः हरिलीला मन लगा कर न सुनने वाला दाम्भिक हुआ।
(ख) बहुभाषी, अप्रियभाषी	(ख) हरि की लीला में जिसका मन नहीं लगता, वे ही उसके ऊपर टिप्पणियाँ व आलोचनाएँ व शंकाएँ करके अपने आपको **बहुभाषी व अप्रियभाषी** की श्रेणी में ले आते हैं। अतः हरिलीला मन लगाकर न सुननेवाला ही बहुभाषी व अप्रियभाषी हुआ।
(ग) शास्त्र-रूपी गड्ढे में पड़ा मोहित होनेवाला	(ग) हरि की लीला भक्ति का विषय है। कोरे शास्त्रीय प्राणियों के हृदय के नीचे वह नहीं उतरती। वे अपनेको पंडित समझकर हरि-लीला का रसास्वादन करने में संकोच करते हैं। अतः वे शास्त्र रूपी गड्ढे में ही पड़े रहते हैं। इस प्रकार जो 'मन लाइ न सुन हरिलीलहि, की अर्ध चौपाई में वाक्य के तीनों भाव आ जाते हैं।
(6) (क) कृप्तन	(क) 'यह न कहिअ सठ ही सठ सीलहिं' जो धूर्त व हठी स्वभाव के हों, उनको भी राम-कथा नहीं

सुनानी चाहिए। धूर्तता क्रिया है, उसका परिणाम है 'कृतघ्नता।' धूर्त प्राणी सदैव अपनी चतुराई को समस्त कार्यों के सिद्ध होने का श्रेय देता है। किसी दूसरे ने कृपा करके उसका कार्य किया, ऐसा वह कभी स्वीकार नही करता। अतः कृतघ्नता उसका स्वभाव बन जाता है। **उपनिषद् का कृतघ्न मानस का 'सठ' है।**

(ख) निन्दा करने वाला व असंतोषी

(ख) निन्दा व असंतोष हठ का परिणाम है। ऐसे प्राणी हठ का औचित्य नहीं देखते, जगत को दोषी ठहराते हैं। असंतोष उनके हठ की जड़ है। हृदय में उठे हुए असंतोष को पूरा करने में हठ का सहारा लेते हैं! **उपनिषद् का असंतोषी व निन्दा करने वाला ही मानस का 'हठी' है।**

ऊपर लिखे उपनिषद् के वाक्यों तथा मानस की चौपाइयों का भाव साम्य ऊपर स्थापित किया गया। यह ध्यान देने की वस्तु है कि मानस की इन चौपाइयों में किस प्रकार प्रत्येक उपनिषद् वाक्य का भाव साम्य पूर्णतः उतर आया है। इन चौपाइयों ने अपने गागर में उपनिषदों का सागर भर लिया है।

मुक्तिकोपनिषद्[13] की उक्ति है, **'राज्य देयं धनं देयं याचतः कामपूरणम्। इदभष्टोतरशतं न देये यस्य कस्यचित्।'**

अर्थात् —'जो राज्य व धन मांगे उसको राज्य व धन दो, परन्तु इन 108 उपनिषदों को जिस किसी को भी देना ठीक नहीं।

इस भाव को लेकर मानस की यह चौपाई अंश····**'न सुनाइअ कबहूं। सुरपति सरिस होइ नृप जबहूं॥'**

केवल नृप ही नहीं, यदि इन्द्र के समान भी कोई नृप आ जाये तो भी अनधिकारी होने पर उसको भी राम-कथा नहीं सुनानी चाहिए। उपनिषद् का कथन है कि याचक को राज्य दे दो। धन दे दो, राज्य देकर राजा बना दो, परन्तु उपनिषद्-ज्ञान सब को न दो। मानस का कथन है सुरपति-सा राजा भी क्यों न हो, यदि वह राम-कथा सुनने का अनधिकारी है तो उसे कथा न सुनाओ। चौपाई व वाक्य दोनों का भाव साम्य इसमें है कि अनधिकारी को राम कथा न सुनाई जाये। इस प्रकार दोनों की वस्तु विशेष व उद्देश्य की साम्यता प्रत्यक्ष है। इस साम्य के साथ उपनिषद्-वाक्यों व मानस की चौपाइयों का अनधिकारियों को लेकर प्रारम्भ किया गया साम्य समाप्त हुआ।[14]

अधिकारियों के गुणों का वर्णन करते हुए उपनिषद् वाक्य—

(1) सेवापराय शिष्याय हितपुत्राय मारुते:
मद्भक्ताय सुशीलाय कुलीनाय सुमेधसे ।।49।।

— मुक्ति उप०, अ० 10

हे मारुति ! सेवापरायण परम शिष्य के प्रति, हितैषी पुत्र के प्रति, परम भक्त, सुशील, कुलीन तथा बुद्धिमान को ही उपनिषद्-ज्ञान देना चाहिए ।

(2) क्रियावन्तः श्रोत्रिया: ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षि श्रद्धयन्तः ।
तेषामेवैषां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ।।10।।

—मुण्डक उप०, मुं० 3, खं० 2

जो निष्काम भाव से कर्म करने वाले हों, वेदों के अर्थ के ज्ञाता हों, श्रद्धालु तथा स्वयम् 'एकर्षि' नामक अग्नि में नियमानुसार हवन करने वाले हों, तथा जो विधिपूर्वक सर्व-श्रेष्ठ व्रत का पालन करने वाले हों, उन्हीं को ब्रह्मविद्या बतलानी चाहिए ।

(3) नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ।।9।।

—कठ उप०, अध्याय 1, वल्ली 2

यमराज नचिकेता की प्रशंसा करते हुए कहते हैं : तुम्हारी बुद्धि सराहनीय है; ऐसी बुद्धि तर्क से प्राप्त नहीं होती । महापुरुषों से तत्व विवेचना सुनने पर भगवत्-कृपा से ही ऐसी धीर बुद्धि प्राप्त होती है । हे नचिकेता ! हमें तुम्हारे जैसे ही पूछने वाले मिला करें ।

(4) भगवज्ज्ञानमुपदिश्य पुनरपि सूक्ष्मश्रवणाय प्रणतायेन्द्राय ।
परमरहस्यभूतं पुरुषसूक्ताभ्यां खण्ड द्वयाभ्यामुपादिशत् ।।1।।

—मुद्गल उप०, खंड 2

उसी भगवदीयज्ञान का भगवान वासुदेव ने इन्द्र को उपदेश देकर, पुनः सूक्ष्म तत्व सुनने के लिए नम्र होकर शरण में आये हुए उन्हीं इन्द्र के लिए उस परम रहस्य-स्वरूप ज्ञान का पुरुष सूक्तमय दो खंडों के द्वारा उपदेश दिया ।

(5) यताहारो जितक्रोधो जितसङ्गो जितेन्द्रियः । निर्द्वन्द्वो निरहंकारो
निराशीरपरिग्रहः ।।3।। अगम्यागमकर्त्ता यो गम्याऽगमनमानसः ।।3।।

—तेजोबिन्दु उ०प, अ० 1

आहार को जीतकर (मिताहारी), क्रोध को वश में करके, समस्त सङ्गों से तटस्थ होकर, इन्द्रियों पर विजय करके, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से रहित होकर, अहं-कार को त्याग कर, समस्त आशाओं को छोड़कर, एवं संग्रहहीन होकर, तथा दूसरों को जो अगम्य है, उसे प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय करके, केवल गुरु सेवा का ही प्रयोजन रखने वाला साधक इस ध्यान का मुख्य अधिकारी है ।

(6) इत्थंभूतमतिः शास्त्रगुरुसज्जनसेवाय सरहस्यमशेषेण
यथावदधिगच्छति ।।12।। —अक्ष्युप०

ऐसी बुद्धि वाला साधक शास्त्र, गुरु व संतजनों की सेवा से इस समस्त रहस्य की प्राप्ति कर लेता है।

अब हम एक-एक उपनिषद्-वाक्य लेकर उसके साथ मानस चौपाइयों का साम्य स्थापित करते हैं। ऊपर उद्धृत उपनिषद्-वाक्यों में से प्रथम, द्वितीय तथा अन्तिम वाक्यों (1, 2, 6) का भावार्थ मानस की एक ही चौपाई में आ जाता है।

'राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह कै सतसंगति अति प्यारी ॥'
गुरु पद प्रीति नीति रत जेई। द्विज सेवक अधिकारी तेई ।।
—उ० कां०; 3।4।128

अक्षि उपनिषद् वाक्य का भावार्थ है कि शास्त्र, गुरु तथा संतों की सेवा करने वाला साधक ब्रह्मविद्या का अधिकारी होता है।

मानस का कथन है कि 'जिनको सतसंगति अति प्यारी' तथा जिनमें 'गुरु पद प्रीति' है तथा जो नीतिरत हैं तथा जो द्विज-सेवक हैं, ऐसे प्राणियों की गणना ब्रह्मविद्या के अधिकारियों में होती है।

चौपाई का	सत संगति अति प्यारी	वाक्य का	'सज्जन सेवाय' है
चौपाई का	गुरु पद प्रीति	वाक्य का	'गुरु सेवाय' है
चौपाई का	नीति रत जेई	वाक्य का	'शास्त्र सेवाय' है

चौपाई के द्विजसेवक का अर्थ वाक्य के 'गुरु व सज्जन सेवक' दोनों के अर्थों में लिया जा सकता है।

मुंडक उपनिषद् का भाव है : निष्काम कर्म करनेवाला तथा वेदार्थ का ज्ञाता, ब्रह्म-उपासक, श्रद्धालु, नियमानुसार 'एकर्षि' नामक हवन करना तथा सर्वश्रेष्ठ व्रत का पालन करने वाला प्राणी ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी है। आचरणों की यह सूची 'नीतियुक्त' आचरणों की सूची के अन्तर्गत आती हैं—'नीति-युक्त' आचरण का अर्थ हुआ, जैसा आश्रम वैसा आचरण। ब्रह्मविद्या का अभिलाषी उस नीति का आचरण करेगा जिससे उसमें सात्विक गुणों का उदय हो, और उसके द्वारा वह ब्रह्मज्ञान को सुगमता से समझ सके। मानस ने ब्रह्मज्ञान-अधिकारी की कोई नैतिक आचरण की सूची नहीं दी है। केवल संक्षेप में 'नीति रत जेई' कह कर समाप्त कर दिया है। इसका कारण है कि नीति बहुधा सामाजिक अवस्था पर आधारित होती है। समय के साथ अथवा यों कहिये कि, काल के परिवर्तन के साथ आश्रमों की आधारित नीति में भी परिवर्तन आ जाता है (दृष्टांततः अग्निहोत्र तथा एकर्षि आदि नामक हवन एक काल में ब्राह्मण जीवन के अभिन्न अंग थे) अतः मानस में हमें नीति की कोई वैसी सूची प्राप्त नहीं है, जैसी कि उपनिषद् वाक्य में उपलब्ध है। 'नीतिरत जेई' के रूप में संकेत मिलता है कि उस समय के अनुसार

जो नीति युक्त आचरण कर रहा है वह राम-कथा का अधिकारी है। यहाँ 'रत' शब्द विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह शब्द साधक के दृढ़ संकल्प व लगन का द्योतक है। दृढ़ संकल्प व सच्ची लगन का साधक ही नीति में रत हो सकता है। किसी वस्तु का अधिकारी कहलाने के लिये सबसे आवश्यक वस्तु है उस ध्येय के प्रति निष्ठावान होना। साधक के लिये यंत्रवत् किसी सूची का क्रम पूरा करने के स्थान पर हृदय में उस विषय के लिये निष्ठा व दृढ़ संकल्प का रखना अधिक आवश्यक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानस व उपनिषद् का 'नीति' सम्बन्धी साम्य तो स्थापित है ही, परन्तु इस साम्य में भी मानस ने आवश्यक वस्तु ले ली है और अनावश्यक छोड़ दी हैं।'

1. मुक्ति उपनिषद् के वाक्य का भाव है कि 'परम शिष्य, हितैषी पुत्र, सुशील, कुलीन व बुद्धिमान को ही ब्रह्मज्ञान देना चाहिये।

'सेवापराय शिष्याय'	का भाव मानस में 'गुरु-पद-प्रीति' के रूप में आया है।
'मद्‌भक्ताय, सुशीलाय कुलीनाय'	ये वाक्य वर्णित गुण उनके हैं जिनको 'सत्-संगति' प्रिय होती है। अतः मानस के 'सतसंगति अति प्यारी' के कथन के अन्तर्गत ये भाव आ जाते हैं।
'सुमेधसे'	सुमेध होने का वाक्य वर्णित भाव 'नीतिरत जेई' के रूप में मानस में आया है, क्योंकि बुद्धिमान प्राणी ही नीतिरत होता है।

वाक्य संख्या (3)	पहले उद्धृत उपनिषद् श्लोकों में तीसरा श्लोक कठोपनिषद् का है।[15] इस श्लोक में यमराज बालक नचिकेता की बुद्धि की सराहना करते हैं, क्योंकि वरदान द्वारा प्राप्त अन्य सांसारिक प्रलोभनों में न फँस कर नचिकेता ने अडिग रूप से आत्मज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा व्यक्त की है।

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥9॥

—कठ उप०, अध्याय 1, वल्ली 2

भावार्थ—तुम्हारी बुद्धि सराहनीय है, ऐसी बुद्धि तर्क से प्राप्त नहीं होती है; महापुरुषों से तत्व विवेचना सुनने पर भगवत्-कृपा से ऐसी धीर बुद्धि प्राप्त होती है। हे नचिकेता, हमें तुम्हारे जैसे ही प्रश्न पूछने वाले मिलें।

इस वाक्य का साम्य निम्नांकित चौपाई के साथ पूरा उतरता है :

'नरवर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी ॥'

— अयो० कां०, 1-72

साम्य—(1) यमराज का नचिकेता के प्रति कथन है कि तुम्हारी बुद्धि अपनी धीरता के लिये सराहनीय है। ऐसी बुद्धि भगवत्-कृपा से या चिरकाल तक तत्व-विवेचना सुनने से ही प्राप्त होती है। सारांश है कि नचिकेता की बुद्धि साधारण कोटि की प्राणियों से श्रेष्ठ है। वे साधारण नरों की श्रेणी में नहीं, अपितु वे श्रेष्ठ नरों की श्रेणी में आते हैं। वाक्य का यह भावार्थ मानस में 'नरवर' शब्द द्वारा स्पष्ट रूप में आया है।

(2) नचिकेता के प्रति यमराज का कथन है कि तुम्हारी बौद्धिक मान्यता का सिद्धान्त कोई अकाट्य तर्क मात्र नही है।[16] कोई अकाट्य तर्क इसकी स्थिरता का आधार नहीं है। तुम्हारी बुद्धि की स्थिरता का आधार है आत्मतत्व में तुम्हारी एकाग्र निष्ठा व उसे प्राप्त करने का अडिग संकल्प। इसका अभिप्राय है तुम्हारे जैसा 'धर्म की धुरी' को धारण करने वाला प्राणी ज्ञान का अधिकारी है। यहाँ पर 'धुरी' शब्द महत्व का है, तथा पूरा साम्य, अधिक रूप से इस एक शब्द पर ही आधारित है। नचिकेता का ध्यान आत्मतत्व की धुरी पर है, इसी कारण वह वाह्य परिधि के आस-पास चक्रित होने वाली वस्तुओं से अप्रभावित है। निरर्थक तर्क व सांसारिक प्रलोभनों को धुरी से दूर, वाह्य परिधि पर चक्रित होने वाली वस्तुएँ कहा जायेगा। जिसका ध्यान धुरी पर होगा, वह परिधि पर क्या घटित हो रहा है, इस ओर से अप्रभावित रहेगा। अतः मानस की अभिव्यक्ति 'धरम धुर धारी' शब्द व्यंजना अनुप्रास से रंजित भले ही हो, परन्तु उसका संकेत नचिकेता जैसे निष्ठावान दृढ़ संकल्प वाले साधकों की ओर है।

(3) उपनिषद् का कथन है कि महापुरुषों से तत्व विवेचना सुनने से तथा भगवत् कथा से ऐसी धीर बुद्धि प्राप्त होती है। मानस ने केवल 'धीर' शब्द लिख कर, धीर बुद्धि की आवश्यकता पर प्रकाश डाला है। वह किस प्रकार से प्राप्त होती है, उस ओर से वह मौन है। बुद्धि में धीरता आने के कारण अनेक हो सकते हैं। आवश्यक वस्तु है बुद्धि में धीरता का होना। वाक्य ने जिसे 'धृति' कहा है, मानस ने उसे 'धीर' कहा है।

(4) 'हे नचिकेता! हमको तुम्हारे जैसे ही पूछने वाले मिलें'—इस कथन का तात्पर्य निकला कि नचिकेता ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है—वाक्य ने इस भाव को 'त्वादृक् प्रष्टा नः भूयात्' कहकर जिस भाव को लोकोक्ति द्वारा व्यक्त किया है, मानस ने उसी भाव को 'निगम नीति कहुँ ते अधिकारी' कहकर स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है।

मानस व उपनिषद् दोनों ही प्रथम उन गुणों पर प्रकाश डालते हैं जो अधि-

कारत्व के लिए आवश्यक हैं, उसके पश्चात् निष्कर्ष रूप में उन्होंने यह व्यक्त किया है कि इन गुणों को धारण करने वाला प्राणी ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है। दोनों के भावों में समानता है, केवल भाव को अभिव्यक्त करने की शैली में अन्तर है। वाक्य ने प्रथम वचन में व्यक्तिगत रूप से जो भाव-अभिव्यक्ति की है, वही भाव-अभिव्यक्ति मानस ने एक सिद्धान्त के रूप में की है।

उपर्युक्त चौपाई का प्रसंग भी नचिकेता-कथा से बहुत-कुछ साम्य रखता है। पूर्ण[17] चौपाई तथा उसका प्रसंग नचिकेता पर एक चोट है। पूर्ण चौपाई जो भाव प्रतिध्वनित कर रही है वह यह है, मुझे क्या नीति सिखा रहे हो! मैं तो कायर हूँ! मैं नीति का अधिकारी नहीं। नीति के अधिकारी तो नरवर, धीर धरम धुर धारी ही हुआ करते हैं। इन शब्दों की चोट नचिकेता पर है। भक्त हृदय भावुक हुआ करता है; अपने भावों के अतिरेक में वह सदैव ज्ञानियों पर व्यंग कसता रहा है। मानस में स्थान-स्थान पर ज्ञान पर, भक्ति की श्रेष्ठता का प्रसंग प्राप्त होता ही है। वास्तव में तो यह कहना उचित होगा कि मानस कोई ऐसा अवसर नहीं चूकती जहाँ वह भक्ति की श्रेष्ठता न स्थापित करती हो—फिर भला वह यह अवसर कैसे चूक सकती थी। लक्ष्मण राम से वन-गमन में साथ चलने की अनुमति माँग रहे हैं, और राम उनको यह नीति का उपदेश दे रहे हैं, कि उनके वन गमन के बाद लक्ष्मण के क्या कर्त्तव्य हैं; उसके प्रत्युत्तर में लक्ष्मण के मुँह से उपर्युक्त चौपाई एक व्यंग के रूप में आई है, कि "हे गोसाईं, आपने सीख तो मुझको बहुत भली दी है, परन्तु मेरी कायरता के कारण वह मेरी समझ के परे है। नीति के अधिकारी तो धीरवान, धरम धुर धारी, श्रेष्ठ नर होते हैं।" साधारण लोकरीति में बिना नाम के व्यंग भरकर बोलना एक प्रचलित रीति है। व्यंग में वर्णित गुणों के आधार पर किस प्रकार के गुण व अवगुण लागू होते हैं, उसका अभ्यास कर प्राणी जान लेता है कि व्यंग्य का यह कटाक्ष किस पर है। यह हम पहले देख चुके हैं कि कठोपनिषद् में यमराज द्वारा वर्णित नचिकेता के गुण किस प्रकार इस चौपाई के कथन के साथ पूरे उतरते हैं। गुण साम्य के पश्चात्, यह कटाक्ष स्पष्ट करता है कि कटाक्ष का निशाना कौन है।

दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि उपर्युक्त श्लोक कठोपनिषद् का प्रसिद्ध श्लोक है। यमराज की प्रशंसा व नचिकेता के आत्मज्ञान प्राप्त करने की निष्ठा इस श्लोक को अमरत्व प्रदान करती है। मानस इस अमूल्य श्लोक के भावों को अछूता छोड़ देगी, ऐसी आशा उससे उस समय नहीं की जा सकती जब वह चुन-चुन कर उपनिषदों के अमूल्य भाव मानस पाठकों तक पहुँचा रही हो।

सिंहावलोकन में यदि वन-गमन के पूर्व का 'लक्ष्मण-राम-प्रसंग' व 'यमराज-नचिकेता-प्रसंग' के दोनों स्थल देखे जायें, तो दोनों में बहुत समानता है।[18]

(1) नचिकेता ने सर्व सुखों का 'त्याग' कर दिया है; उसी के समान

लक्ष्मण भी राजमहल के सब सुखों को त्याग कर राम के साथ वन जाने को प्रस्तुत हैं।

(2) नचिकेता यम के 'द्वार' पर खड़ा है, लक्ष्मण भी वन-रूपी यम के द्वार पर खड़े हैं।

(3) अन्त में यमराज नचिकेता की 'प्रशंसा' अद्वितीय शब्दों में करके उसको सस्नेह स्वीकार करते हैं, तो अन्त में रामजी भी लक्ष्मण को स्वीकार करके हृदय से लगाते हैं, 'समुझाए उर लाइ प्रभु, जानि सनेह सभीत ॥' — अ० कां०, 72

(4) यमराज के सम्मुख आने पर नचिकेता व यमराज के बीच संवाद होता है, उसी प्रकार श्रीराम के सम्मुख आ जाने पर श्रीराम व लक्ष्मण के मध्य भी संवाद होता है।

(5) यमराज के द्वार पर जाने के पूर्व जो मनोदशा नचिकेता की है, श्रीराम से मिलने के पूर्व वही मनोदशा लक्ष्मण की है—दोनों ही एक समान 'घोर चिन्ता' में निमग्न मन में विचार करते हैं। नचिकेता की चिन्ता है कि 'स्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति'; लक्ष्मण को इस बात की चिन्ता है "सोचु हृदयँ बिधि का होनिहारा। सबु सुखु सुकृतु सिरान हमारा ॥[19]

इस समय दोनों की मानसिक दशा समान रूप से उद्विग्न है, इस बात पर ध्यान देना चाहिये, प्रसंग भिन्न-भिन्न होने के कारण, कथा-प्रसंग के अनुकूल शब्दों में जो विभिन्नता है उस पर ध्यान नहीं देना चाहिये।

(6) नचिकेता के प्रति यमराज का कथन है—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुष सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाध उ प्रेयोवृणीत ॥1॥

—कठो० उ०, वल्ली 2

भावार्थ—'श्रेय विद्या' (श्रेयस्) 'प्रेय विद्या' (प्रेयस्)—ये दो भिन्न-भिन्न साधन हैं, दोनों भिन्न-भिन्न फल देने वाले हैं, तथा दोनों ही मनुष्यों को बांधते हैं। उन दोनों में कल्याण के साधन को ग्रहण करने वाले का कल्याण होता है, और प्रेयस् को अपनाने वाला यथार्थ लाभ से भ्रष्ट हो जाता है।

इसी प्रसंग में लक्ष्मण के प्रति जो श्रीराम का कथन है, वह उपर्युक्त श्लोक के भाव का सारांश प्रतीत होता है। श्रीराम जी लक्ष्मण को समझाते हुए कहते हैं :

'तात प्रेम बस जनि कदराऊ। समुझि हृदय परिनाम उछाहू ॥'

—अयो० कां०, 4-70

"हे तात ! परिणाम में होने वाले आनन्द को हृदय में समझकर तुम प्रेमवश अधीर मत होओ।" श्रेयस् व प्रेयस् का भेद व उसकी व्याख्या को अनावश्यक समझ कर केवल उसके सार को मानस ने श्रीराम के श्रीमुख से कहलाया है, कि प्रेयस् आनन्ददायक व प्रिय तो लगता है परन्तु वह श्रेयस्कर नहीं हैं।

(7) नचिकेता के पिता उद्दालक फल की कामना से विश्वजित यज्ञ कर रहे हैं, जिसमें यज्ञकर्त्ता को सर्वस्व दान करना होता है। पिता को अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता मिले यह सोचकर वह पिता से कहते हैं, "मैं भी आपकी सम्पत्ति हूँ, आप मुझे किसे देते हैं? 'पितर तत कस्मै मां दास्यसीति' ? 'पिता जी मुझको मृत्यु को दे रहे हैं' सुनकर वह अपने जन्म का लोभ गँवा कर यमराज के द्वार पर आ जाता है। पितृ सेवा के लिए प्राण न्यौछावर कर देने वाला भाव इसी प्रसंग में श्रीराम के मुख से भी प्राप्त है। श्रीराम लक्ष्मण को समझाते हुए कहते हैं :

मातु पिता गुरु स्वामि सिख, सिर धरि करहिं सुभायें।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर, नतरु जनमु जग जायें ॥70॥

—अयो० कां०

भावार्थ—उन्हीं लोगों ने 'जन्म का लाभ पाया है जो जो माता-पिता, गुरु व स्वामी की शिक्षा को सादर पालन करते हैं' नचिकेता इस कथन के दृष्टांत के रूप में सम्मुख आते हैं।

(8) दोनों ही प्रसंगों में कथानक को दुःखद घटनाचक्र में घुमाने का कार्य दोनों के पिताओं ने किया है। (उद्दालक तथा राजा दशरथ)

इस प्रकार हम देखते हैं कि वन जाने की आज्ञा मांगते हुए लक्ष्मण नचिकेता की पृष्ठभूमि के समान उभरते हैं। श्री राम के मुख से नीति की व्याख्या सुनकर उनका भावातिरेक हृदय नचिकेता पर कटाक्ष करके कहता है कि मैं तो कायर हूँ, नीति का अधिकारी तो धीर, धरम धुर धारी नरवर होता है।

(4) वासुदेव इन्द्राय—

1 भगवज्ज्ञानमुपदिश्य पुनरपि सूक्ष्मश्रवणाय प्रणतायेन्द्राय परमरहस्यभूतं पुरुषसूक्ताभ्यां खंडद्वयाभ्यामुपादिशत् ॥1॥ —मुद्गल उप०2

इस वाक्य का भावार्थ है कि पुनः सूक्ष्म तत्व सुनने के लिए शरण में आए उन्हीं इन्द्र के लिये उस परम रहस्य स्वरूप का उपदेश भगवान् वासुदेव ने किया। इस उपनिषद् वाक्य का साम्य निम्नांकित चौपाई से होता है—

श्रोता सुमति सुसील सुचि, कथा रसिक हरि दास॥
पाइ उमा अति गोप्यमपि, सज्जन करहिं प्रकास॥

—उ० कां०, 69(ख)

उपर्युक्त वाक्य के अनुसार इन्द्र एक बार सूक्ष्म तत्व का उपदेश सुन चुके हैं। अब वे विनम्र भाव से उसी उपदेश को सुनने के लिये पुनः शरण में आये हैं। उन के इस प्रकार विनम्र होकर शरण में आने पर उन्हें परम रहस्यमय तत्व ज्ञान का

उपदेश प्राप्त होता है। इस कथन में तीन बातों पर ध्यान देना है—

1. एक तो है इन्द्र का विनम्र भाव; शरण में आना स्वयम् एक विनम्र भाव है। इन्द्र विनीत भाव लेकर स्वयम् शरण में आये हैं, यह उनकी विनम्रता की पराकाष्ठा का द्योतक है।

2. दूसरी बात है उनका पुनः आना, जब किसी प्राणी को किसी वस्तु में रस आता है, तब ही वह प्राणी उस काम को दूसरी बार करता है।

3. तीसरी बात इन्द्र का उस सूक्ष्म तत्व ज्ञान को प्राप्त करना जो कि अपने स्वरूप में परम रहस्यमय है। इस प्रकार उपर्युक्त उपनिषद्-वाक्य में ये तीन बातें उल्लेखनीय हुई।

1. श्रोता की अति विनम्रता (इन्द्र यहाँ श्रोता रूप में हैं; विनम्र होकर शरण में आना, अति विनम्र भाव का द्योतक है।)
2. श्रोता का कथारसिक होना (इन्द्र का पुनः तत्व उपदेश प्राप्त करने आना, उनके कथारसिक होने का द्योतक है।)
3. उस सूक्ष्म तत्व का उपदेश करना, जो कि उपनिषदों में 'परम रहस्य स्वरूप ज्ञान' माना गया है।

वाक्य के समान उक्त चौपाई में भी इन्हीं तीनों भावों पर प्रकाश डाला है।

1. श्रोता सुमति, सुसील, सुचि, हरिदास

सुशीलता एक भाव है, विनम्र होना इस भाव का एक अंग है। सुमति प्राणी भी विनम्र होता है। इस प्रकार 'सुसील व सुमति' विनम्रता का भाव प्रदर्शित करते हैं।

'हरिदास' में शरणागत का भाव आ जाता है। वाक्य में इन्द्र विनम्र होकर शरण में आते हैं। चौपाई में इन्द्र की मानसिक अवस्था का वर्णन है। इस मानसिक भाव से साधक को तत्व ज्ञान की प्राप्ति के लिए अग्रसर होना चाहिए।

2. कथारसिक

कथारसिक बार-बार कथा को सुनता है। वाक्य ने यह भाव 'पुनः' शब्द लिख कर व्यक्त किया है (इन्द्र पुनः विनम्र व शरणागत होकर ज्ञान-प्राप्ति के लिए गये थे) 'पुनः' शब्द से इन्द्र का ज्ञानरसिक होना प्रमाणित होता है। मानस का माध्यम राम-कथा है, अतः यहाँ **'कथा-रसिक' शब्द** से वाक्य के 'पुनः' शब्द की अभिव्यक्ति की गयी है।

3. अति गोप्यमपि

वाक्य के 'परम रहस्य स्वरूप' व चौपाइयों के 'अति गोप्यमपि' शब्दों का अर्थ एक ही है।

उपनिषद् का भाव है 'विनम्र हरिकथा रसिक अधिकारी, गोपनीय रहस्यमय

तत्वज्ञान की प्राप्ति कर लेता है'; वाक्य ने यह भाव इन्द्र का दृष्टांत देकर प्रकट किया है। मानस ने उसी 'दृष्टांत' को 'सिद्धान्त' रूप में व्यक्त किया हैं तथा काक-भुशुण्डि-गरुड संवाद को उसका माध्यम बनाया है। दोनों में ही भावों का साम्य है; केवल भावों की अभिव्यक्ति में अन्तर है।

यह भावसाम्य केवल मानस की चौपाई व उपनिषद् तक ही सीमित नहीं है। मानस के जिस स्थान से यह चौपाई उद्धृत की गई है, तथा उपनिषद् के जिस भाग से वाक्य लिया गया है, दोनों की पृष्ठभूमि में समानता है। मानस व उपनिषद् की पृष्ठभूमि की समानता इस वाक्य व चौपाई-साम्य को और अधिक दृढ़ता प्रदान करती है।

जिस प्रकार उपनिषद् में इन्द्र पुनः सूक्ष्म तत्व के उपदेश के लिए आये हैं, उसी प्रकार मानस में गरुड़ जी पुनः रामकथा सुनकर अपने भ्रम का निवारण कर रहे हैं।[20] इन्द्र को जो उपदेश प्राप्त हुआ, वह परम रहस्यमय ज्ञान का पुरुष-सूक्तमय उपदेश है। इस पुरुष सूक्त के उपदेश को यदि संक्षेप में रखा जाये तो इसमें सृष्टि की समस्त रचना, ब्रह्मा, विष्णु, महेश के स्वरूपों का आविर्भूत होना, तथा सम्पूर्ण स्थावर एवं जंगम जगत की सृष्टि रचना का सार आ जायेगा। अर्थात् ज्ञान की दृष्टि से 'परिपूर्ण' ज्ञान उसके अन्तर्गत आ जायेगा। गरुड़ जी की जो कथा काक-भुशुण्डि जी ने सुनाई है, वह सम्पूर्ण मानस की कथा है, केवल राम-कथा नहीं है[21]। राम-चरित्र-मानस में प्राप्त सरोवर के रूपक से लेकर, नारद के अपार मोह, रावण का जन्म, राम-अवतार का वर्णन करते हुए, राम-राज्यभिभिषेक तथा अयोध्या की राजनीति तक की कथा उन्हें सुनाई है।

जिस रूप में कथा का वर्णन ऊपर दिया गया है, उससे ज्ञात होता है कि जो कथा गरुड़ जी ने सुनी है, वह पुरुषसूक्त के समान अपने में ही कितनी 'परिपूर्ण' है। भक्ति व ज्ञान के भेद से दृष्टि हटा कर हमको इस समय यह देखना है कि दोनों पात्र इन्द्र व गरुड़ जी अपने-अपने उद्देश्यों में एक समान ही सफल रहे हैं। एक को परिपूर्ण ज्ञान मिला है, तो एक को परिपूर्ण राम-भक्ति।

संदर्भ

1. प्रश्नकर्त्ता ऋषिगण सांगोपांग वेदों के ज्ञाता एवं ब्रह्मनिष्ठ थे।
2. पिप्पलाद ऋषि का आदेश है कि श्रद्धा के साथ आश्रम में निवास करो।
3. पुनः तप व ब्रह्मचर्य्य का पालन करते हुए आश्रम में एक वर्ष तक निवास करो।

4. प्रश्नोपनिषद् की आधार भूमि में छह ऋषि प्रश्नकर्त्ता के रूप में प्राप्त है। ये ऋषि पिप्पलाद ऋषि के सम्मुख परब्रह्म की जिज्ञासा लेकर जाते है। उन प्रश्नकर्त्ता ऋषियों के नाम इस प्रकार हैं: भारद्वाज-पुत्र सुकेश, शिविकुमार सत्यकाम, गर्ग गोत्र में उत्पन्न सौर्यायणी, कोसल देस निवासी आश्वलायन, विदर्भदेशीय भार्गव और कत्य के प्रपौत्र कबन्धी।

5. (क) गुर के बचन सुरति करि, राम चरन मनु लाग।
रघुपति जस गावत फिरउँ, छन छन नव अनुराग॥
—उ० कां०, 110 (क)

(ख) मेरु सिखर बट छाया, मुनि लोमस आसीन।
देखि चरन सिर नायउँ, बचन कहेउँ अति दीन॥
—उ० कां०, 110 (ख)

(ग) तब मैं कहा कृपानिधि, तुम्ह सर्बग्य सुजान।
सगुन ब्रह्म अवराधन, मोहि कहहु भगवान॥
—उ० कां०, 110 (घ)

6. त्रिजग देव नर जोइ तनु धरऊँ।
तहँ तहँ राम भजन अनुसरऊँ॥ —उ० कां०, 110/1
छूटी त्रिविधि ईषना गाढ़ी।
एक लालसा उर अति बाढ़ी॥ —उ० कां०, 110/7

7. पिप्पालाद ऋषि के आश्रम में एक वर्ष ब्रह्मचर्य्य व तप से रहने का उद्देश्य यही था कि प्रश्नकर्त्ता ऋषियों के हृदय निर्मल हो जायें और उनके हृदय में व्याप्त 'त्रिविध एषणायें' शान्त हो जायें।

8. 'तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया' अध्याय के प्रारंभ में उद्धृत।

9. 'भूय एव' (तुम लोग पुनः) पुनः शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है कि उनको विदित था कि एक बार वेद-पठन के लिए वे आश्रमों में निवास कर चुके हैं।

10. (1) तब मुनीस रघुपति गुन गाथा। कहे कछुक सादर खगनाथा॥111॥
—उ० कां०

(2) सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुरबर मानस अधिकारी॥38॥
—बा० कां०

11. ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥62॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥63॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥64॥ —गीता

12. जिज्ञासु व श्रद्धावान को ही इस विषय का ज्ञान देना चाहिए (पूर्ण उद्धरण आगे दिये जा चुके हैं।)

13. छान्दोग्योपनिषद् में भी इसी भाव की श्रुति प्राप्त है—

नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः
परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव
ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥6॥

भावार्थ—किसी दूसरे को नहीं बतावे, यद्यपि आचार्य को यह समुद्र परिवेष्टित और धन से पूर्ण सारी पृथ्वी दे (तो भी किसी दूसरे को इस विद्या का उपदेश न करे) क्योंकि उससे यही बढ़कर है, यही बढ़कर है।

14. जदपि जोषिता नाहिं अधिकारी। दासी मन क्रम वचन तुम्हारी॥
गूढ़उ तत्व न साधु सा दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥110

—बा० कां०

एतैं दोषैर्विहीनाय ब्रह्मयाय प्रियाय च।
साधवे शुचये दद्याद्भक्तिः स्याच्छूद्रयोषिताम्॥31॥

—स्कन्द 11, अ० 20 श्रीमद्भागवत

दोषों से रहित ब्राह्मण भक्त को, पवित्र साधु को ,शूद्र तथा स्त्री को भी सुना सकते हो।

15. कठोपनिषद् में नचिकेता की कथा प्रसिद्ध है। विश्वजित यज्ञ सें अपने पिता उद्दालक को अनुपयोगी वृद्ध गौएं दान में देते समय नचिकेता के हृदय में क्षोभ हुआ। इस यज्ञ में पिता सर्वस्व दान देना चाहते हैं। उसने यह विचार कर पिता से प्रश्न किया, 'आप मुझे किसे दान में दे रहे हैं?' उसके बारंबार प्रश्न करने पर पिता ने खीझ कर कहा, 'मृत्यु को।' यह सुन करनचिकेता तीन दिन तक मृत्यु के द्वार पर खड़ा रहा। यम के सम्मुख प्रवेश पाने पर तीन दिन खड़े रहने के निमित्त यम ने उसे तीन वर मांगने को कहा। नचिकेता का प्रथम वर था : पिता मेरे प्रति शांत हो जाएं; दूसरा वर था, स्वर्ग-प्राप्ति के लिये अग्नि-विज्ञान को जानना, और उसका तीसरा वर था, एक प्रश्न—मृत्यु के पश्चात् आत्मा रहती है या नहीं ? यमराज ने उसके दो वर तो स्वीकार कर लिये और तीसरे वर के लिए उसको अत्यन्त प्रलोभन दिये, कि तुम कोई अन्य वर मांग लो, जिसमें तुमको सैकड़ों आयु वाले बेटे व पोते प्राप्त हों, तथा सहस्रों गौ, अश्व, हाथी व अतुलित स्वर्ण प्राप्त हो, तथा तुम दीर्घ आयुवान हो। परन्तु नचिकेता अपने प्रश्न पर ही अडिग रहा। अन्त में, उपर्युक्त वाक्य को नचिकेता की प्रशंसा में कहकर यमराज ने उसको आत्म ज्ञान देना प्रारंभ किया।

16. यह स्मरण रहे कि शास्त्रार्थ के युग में जब पूर्वपक्षी शास्त्रार्थ में हार जाता

था, तो पूर्व पक्षी को विजेता का मत स्वीकार करना पड़ता था।

17. दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसांईं। लागि अगम अपनी कदराई॥
नरवर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥
—अ० कां०, 1-72

18. यम का कौन-सा कार्य है, जिसे पिताजी आज मेरे द्वारा पूरा करेंगे।

19. हे भगवान्! क्या होने वाला है! क्या हमारा सब सुख व पुण्य पूरा हो गया?

20. व्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा॥
सो अवतार सुनहुँ जग माँहीं। देखउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥
—उ० कां०, 58

21. उ० कां०, 4-64—3-68

गुरु-परम्परा

उपनिषदों के प्रारम्भ में वर्णित शांति पाठ इस बात के द्योतक हैं कि ब्रह्म विद्या का उपदेश शिष्य को गुरु के सान्निध्य में समीप बैठकर परस्पर सहयोग की भावना से प्राप्त होता था। इन शांति पाठों[1] से स्थापित होता है कि सहयोग की भावना के साथ गुरु-शिष्य पठन-पाठन का क्रम अत्यन्त प्राचीन है।

प्रायः उपनिषदों के अन्त में गुरु-शिष्य परम्परा की एक श्रृंखला उपलब्ध होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में समस्त प्रवचन श्रृंखला की परम्परा इस प्रकार दी गयी है।

1. "अब वंश परम्परा का वर्णन किया जाता है—पौतिमाषी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से, कात्यायनी पुत्र ने गौतमी पुत्र से, गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने औपस्वस्ती पुत्र से, औपस्वस्ती पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से, कात्यायनी पुत्र ने कौशिकी पुत्र से, कौशिकी पुत्र ने आलम्बी पुत्र से और वैयाघ्रपदी पुत्र से, वैयाघ्रपदी पुत्र ने काण्वी पुत्र से और कापी पुत्र से, कापी पुत्र ने आत्रेयी पुत्र से, आत्रेयी पुत्र ने गौतमी पुत्र से, गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने वात्सीपुत्र से, वात्सीपुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने वार्कारुणी पुत्र से, वार्कारुणी पुत्र ने आर्तभागी पुत्र से, आर्तभागी पुत्र ने शौंगी पुत्र से, शौंगी पुत्र ने सांकृती पुत्र से, सांकृती पुत्र ने आलम्बायनी पुत्र से, आलम्बायनी पुत्र ने आलम्बी पुत्र से, आलम्बी पुत्र ने जायन्ती पुत्र से, जायन्ती पुत्र ने माण्डूकायनी पुत्र से, माण्डूकायनी पुत्र ने माण्डूकी पुत्र से, माण्डूकी पुत्र ने शाण्डिली पुत्र से, शाण्डिली पुत्र ने राथीतरी पुत्र से, राथीतरी पुत्र ने भालुकी पुत्र से, भालुकी पुत्र ने दो क्रौञ्चिकी पुत्रों से, दोनों क्रौञ्चिकी पुत्रों ने वैदभृती पुत्र से, वैदभृती पुत्र ने कार्शकेयी पुत्र से, कार्शकेयी पुत्र ने प्राचीन योगी पुत्र से, प्राचीन योगी पुत्र ने साञ्जीवी पुत्र से, साञ्जीवी पुत्र ने आसुरिवासी प्राश्नी पुत्र से, प्राश्नी पुत्र ने आसुरायण

से, आसुरायण ने आसुरि से, आसुरि ने याज्ञवल्क्य से, याज्ञवल्क्य ने उद्दालक से, उद्दालक ने अरुण से, अरुण ने उपवेशि से, उपवेशि ने कुश्रि से, कुश्रि ने वाजश्रवा से, वाजश्रवा ने जिह्वावान् वाध्योग से, जिह्वावान् वाध्योग ने असित वार्षगण से, असित वार्षगण ने हरित कश्यप से, हरित कश्यप ने शिल्प कश्यप से, शिल्प कश्यप ने कश्यप नैध्रुवि से, कश्यप नैध्रुवि ने वाक् से, वाक् ने अम्भिणी से, अम्भिणी ने आदित्य से, आदित्य से प्राप्त हुई ये शुक्लयुजःश्रुतियाँ वाजसनेय याज्ञवल्क्य द्वारा प्रसिद्ध की गई। साञ्जीवी पुत्र पर्यन्त यह एक ही वंश है। साञ्जीवी पुत्र ने माण्डूकायनि से, माण्डूकायनि ने माण्डव्य से, माण्डव्य ने कौत्स से, कौत्स ने माहित्थि से, माहित्थि ने वामकक्षायण से, वामकक्षायण ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने वात्स्य से, वात्स्य ने कुश्रि से, कुश्रि ने यज्ञवचा राजस्तम्बायन से, यज्ञवचा राजस्तम्बायन ने तुर कावषेय से, तुर कावषेय ने प्रजापति से, और प्रजापति ने ब्रह्म से। ब्रह्म स्वयम्-भू है, स्वयम्-भू ब्रह्म को नमस्कार है।

—बृहदा० उ०, पंचम ब्राह्मण

2. स ब्रह्म विद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥1॥
अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचांगिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽगिरसे परावराम् ॥2॥

—मुण्डक उ० 1, खण्ड 1

भावार्थ—सर्वविद्याओं का आधार यह ब्रह्म विद्या उन्होंने अपने सबसे बड़े पुत्र अथर्व को बतलाई। ब्रह्मा ने यह ज्ञान अथर्व को दिया, प्राचीन काल में अथर्व ने यह अंगी को दिया, उसने भारद्वाज गोत्र के सत्यवह को सिखला दिया, सत्यवह ने यह ज्ञान अंगिरा को सिखा दिया।

3. इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।

—ई० उ०, 10

अर्थ—ऐसा हम धीर पुरुषों से सुनते आए हैं, जिन्होंने यह विषय हमें भली-भाँति समझाया है।

4. इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥3॥

—के० उ०, खण्ड 1

अर्थ—हम अपने पूर्व आचार्यों के मुख से, जिन्होंने हमें ब्रह्म तत्व को भली-भाँति व्यवस्था करके समझाया था, ऐसा सुनते आए हैं।

उपरोक्त उपनिषद् श्लोकों के साथ मानस की जिन चौपाइयों का साम्य स्थापित होता है, वे वाक्य व चौपाई साथ-साथ साम्य के लिए नीचे प्रस्तुत की जाती हैं।

प्रथम अंक के अन्तर्गत वृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित 'गुरु-शिष्य सम्बन्धी परम्परा' उद्धृत की गयी है। बृहदारण्यक उ० की उस गुरु-शिष्य परम्परा के अनुकूल मानस में ये चौपाइयाँ प्राप्त हैं :

जागबलिक जो कथा सुनाई। भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई॥
कहिहउँ सोइ संवाद बखानी। सुनहुँ सकल सज्जन सुखु मानी॥
संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥
सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा। राम भगति अधिकारी चीन्हा॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥
ते श्रोता बकता सम सीला। सँवदरसी जानहिं हरि लीला॥
जानहिं तीन काल निज ग्याना। करतल गत आमलक समाना॥
औरउ जे हरि भगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना॥

—बा० कां०, 30

वृहदारण्यक उपनिषद् में जो गुरु-शिष्य परम्परा प्राप्त है, उस पर, तथा मानस की उपर्युक्त चौपाइयों पर ध्यान देकर देखा जाय तो यह प्रतीत होता है कि उपनिषद् वाक्य में जो विषय विस्तृत होकर आया है, मानस की चौपाइयों में वही विषय संक्षेप में आया है। दूसरे शब्दों में, यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि चौपाइयाँ उपनिषद् वाक्य का संक्षेप हैं। संक्षिप्त वर्णन वह है जिसमें सब मुख्य भाव आ जाएँ, अमुख्य विषय छूट जायें। इस दृष्टिकोण से उपर्युक्त चौपाइयाँ संक्षिप्त शैली का एक सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। जिस रूप में ये चौपाइयाँ वाक्य का संक्षिप्त रूप प्रकट कर रही हैं, वह नीचे अंकित है :

औरउ जे हरि भगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना॥

उपर्युक्त चौपाई में मानो वे सभी ऋषि तथा मुनिगण संक्षिप्त रूप से आ गये हैं जो कि उपनिषद् वाक्य में नामावली के रूप में विस्तृत रूप से आये हैं। नाम के वर्णन से केवल नामधारी ही आता है। गुण के वर्णन से अनेक आ जाते हैं। 'हरि भगत सुजाना' तथा 'कहहि सुनहि समुझहि बिधि नाना' गुणों के रूप में आया है। अतः इस गुण के वर्णन में सबके नाम निहित रूप से आ जाते हैं। शैली का रूप संक्षिप्त रहा और भाव पूर्णरूपेण आ गये।

दूसरा कारण 'स्वयम्भू' व 'शंभु' शब्द से बनता है। उपनिषद्-वाक्य में 'स्वयम्भू' शब्द आया है तथा मानस में 'शंभु'। उपनिषद् वाक्य का कथन है कि कथा का श्रीगणेश 'ब्रह्मा ने किया तथा ब्रह्मा स्वयम्भू' है। मानस कहती है 'शंभु कीन्ह यह चरित सुहावा' अर्थात् श्रीगणेश शंभु ने किया। मानस में कथा प्रसंग शंभु का बनता है। 'स्वयम्भू' शब्द के समीप शिव का 'शंभु' नाम ही आ सकता है अतः यह प्रमाणित करता है कि मानस के रचयिता के मानस पटल पर उपनिषद् का उपरोक्त भाग छाया हुआ था।

इन्हीं चौपाइयों के साथ प्रारम्भ में उद्धृत वाक्य संख्या दो का साम्य भी बैठता है। गीता का समभावार्थी श्लोक का साम्य भी साथ ही दिया गया है :

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥1॥
अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचांगिरो ब्रह्मविद्याम् ।
स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽगिरसे परावराम् ॥2॥

—मु० उ०, खण्ड 1

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥1॥
एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥2॥

—गीता, अ० 4

साम्य

वाक्य—गुरु-शिष्य परम्परा	चौपाइयाँ
2. ब्रह्माजी-महर्षि अथर्व-अंगिरा ऋषि-भारद्वाज गोत्र उत्पन्न सत्यवहा ऋषि	मुनि याज्ञवल्क्य, मुनिश्रेष्ठ भारद्वाजजी शिवजी-उमा शिवजी-काकभुशुण्डि, याज्ञवल्क्य ऋषि, भारद्वाज ऋषि
5. ब्रह्मा-ब्रह्मपुत्र सनकादि मुनि, नारदजी कृष्ण, राधिका गीता—विवस्वान्, मनु-इक्ष्वाकु	

पूर्व उद्धृत तीन या चार संख्या के वाक्यों का साम्य निम्नांकित चौपाई के साथ स्थापित होता है :

3. इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥3॥

—के० उ०, खण्ड 1

हम अपने आचार्यों के मुख से, जिन्होंने हमें ब्रह्म तत्व भली-भाँति समझाया था; ऐसा सुनते आये हैं।

4. इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥3॥

—ईश० उ०

ऐसा हम धीर पुरुषों से सुनते आए हैं, जिन्होंने यह विषय हमें भली-भाँति समझाया है।

मैं पुनि निज गुर सन सुनी, कथा सो सूकरखेत ।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत ॥30॥

—बा० कां०

श्रोता बकता ग्याननिधि कथा राम कै गूढ़।
किमि समझौं मैं जीव जड़ कलि मल ग्रसित बिमूढ़ ॥30(ख)॥

तदपि कही गुर वारहिं वारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा।
भापावद्ध करव मैं सोई। मोरें मन प्रबोध जेहिं होई ॥1॥

—बा० कां० 3[illegible]

साम्य

वाक्य	चौपाई
3. पूर्वेषां	—पूर्व आचार्य गुरु की कोटि में आयेंगे अतः 'पूर्वेषां' शब्द में गुरु का 'भाव व्यक्त' है।
4. धीराणां	—धीराणां शब्द में गुरु का 'गुण व्यक्त' है। ये दोनों शब्द गुरु की ओर संकेत कर रहे हैं। मानस ने यही भाव 'निज गुरु' कहकर स्पष्ट रूप से लिखा है।
3. व्याचचक्षिरे 4. विचचक्षिरे	इन दोनों शब्दों का अर्थ है, 'भली-भाँति व्याख्या करके समझाया गया'। मानस में व्याख्या का यह भाव 'तदपि कही गुरु वारहिं वारा' शब्दावली में आया है। व्याख्या वारम्वार सविस्तार समझाकर कही जाती है। मानस में कथा का वारम्वार कहना यही समझाने व व्याख्या करने का भाव रखता है।

(क) 'समुझी नहिं तसि वालपन, तब अति रहेउँ अचेत'।
(ख) समुझि परी कछु मति अनुसारा ॥

—बा० कां०, 1-31

उपर्युक्त अर्ध-चौपाइयाँ विनीत भाव की द्योतक हैं विनीत होना भक्त का सबसे वड़ा गुण है। अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि मानस ने वाक्य भावों को भक्ति मार्ग के अनुरूप करके व्यक्त किया है।

केनोपनिपद् का उद्धृत वाक्य (संख्या 3) उपनिपद् के प्रारम्भ में जिस प्रसंग में आया है, उस प्रसंग में तया चौपाइयों के प्रसंग में अतीव समानता है।

- केनोपनिपद् में यह वाक्य उपनिपद् के प्रारम्भ में ही मिलता है; मानस में भी यह चौपाई राम-कथा प्रारम्भ होने के पूर्व ही मिलती है।
- उपनिपद् में गुरु द्वारा प्राप्त तत्व ज्ञान का स्मरण कर, 'पुनः ज्ञान का प्रतिपादन अपने रूप से किया जा रहा है।' मानस में भी तुलसी 'गुरु द्वारा सुनी गयी' राम-कथा का स्मरण कर, अव इस कथा को निज मति के अनुरूप 'रामचरितमानस' का रूप देने जा रहे हैं। अतः 'भापा वद्ध करव मैं सोई' की उक्ति मानस में प्राप्त होती है।

- कुछ अंशों में 'ब्रह्म तत्व का प्रतिपादन' होने के पश्चात् उपर्युक्त वाक्य उपनिषद् में प्राप्त होता है, उसी प्रकार प्रायः तीस चौपाई व दोहों में श्रीराम महिमा का प्रतिपादन वंदना के रूप में होने के पश्चात् ही उपर्युक्त चौपाई मानस में प्राप्त होती है।
- केनोपनिषद् की इस विवेचना का (जो कि उनको आचार्यों द्वारा प्राप्त हुई है) निष्कर्ष निकाला जाय तो वह यह निकलता है कि ब्रह्म तत्व इन्द्रियों का संचालक है, अतः इन्द्रियों से परे है। इन्द्रियों के परे होने के कारण वह इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता, अतः वह एक गूढ़ विषय है। मानस ने यही भाव उपर्युक्त चौपाई में 'कथा-राम कै गूढ़' कहकर व्यक्त किया है।
- वाक्य का निर्देश है कि तत्व ज्ञान इन्द्रियों द्वारा गोचर न होने के कारण लक्षण द्वारा जाना जा सकता है। ऐसा अर्थ वाक्यों की व्याख्याओं में प्राप्त है। लक्षणा द्वारा जाना ज्ञान, 'ज्ञाता की मति' की क्षमता के अनुपात में ही ग्रहण हो सकेगा। मानस का कथन क्योंकि निजी अनुभव के रूप में है, अतः

  (क) 'समुझि परी कछु मति अनुसारा'।

  (ख) किमि समुझौ मैं जीव जड़, कलि मलि ग्रसित विमूढ़ ॥

  (ग) समुझी नहिं तसि वालपन, तब अति रहेउँ अचेत ॥

  —की उक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

उपनिषद् वाक्यों की व्याख्याओं में, जो वाक्य के निहित भाव स्पष्ट किये गये हैं, मानस ने वे ही निहित भाव चौपाइयों में उतारकर पाठकों के सम्मुख स्पष्ट रूप से दिये हैं।

वह वाक्य केनोपनिषद् के प्रारम्भ में आता है और पाठक पर अमिट छाप छोड़ जाता है। पाठक को प्रथम वार यह आभास होता है कि जो हम सुन सकते हैं, वह ब्रह्म नहीं है; एक आश्चर्य के साथ उसकी बुद्धि खोजने लगती है कि ब्रह्म क्या है? ब्रह्म तत्व के इतना गूढ़ होने का आभास पहली वार बुद्धि की ग्राह्य शक्ति में आता है।[3] ऐसा नहीं हो सकता कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इतना आवश्यक वाक्य मानस में अछूता ही छूट जाय। 'गूढ़ तत्व' के भाव को व्यक्त करने के लिए उपनिषद् ने जिस रूप से वाक्य का उपयोग किया है मानस ने भी चौपाई का उसी रूप में उपयोग किया है। राम-कथा के अति गूढ़ होने का रहस्य यहीं से प्रारम्भ होता है। उपरोक्त चौपाई के आगे आनेवाली चौपाइयाँ व दोहे 'राम-कथा माहात्म्य' उसकी गूढ़ता ही पर अंकित हैं।[4]

(वाक्य-संख्या 19) 'ब्रह्मणो ब्रह्मपुत्रेभ्यो नारदात्तु श्रुतं यथा तथा प्रोक्तम्'।

— गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद्

भावार्थ—राधिके! मैंने ब्रह्मा, सनकादि मुनियों तथा नारदजी से जैसा सुना था, वसा यहाँ वर्णन किया है। इस वाक्य की ध्वनि निम्नांकित चौपाइयों में

प्रतिध्वनित है :

उमा कहिउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई ॥
कछुक राम गुन कहेउँ बखानी। अब का कहौं सो कहहु भवानी ॥

—उ० कां० 3-4-52

राधिका तथा अन्य गोपिकाओं के सम्मुख ब्रह्म का प्रतिपादन करके जिस प्रकार उपर्युक्त वाक्य प्राप्त है, उसी प्रकार राम-कथा समाप्त होने पर (उत्तर-काण्ड में) उपर्युक्त चौपाई प्राप्त है। दोनों का निष्कर्ष है कि यह कथा तथा वह ब्रह्मतत्व जो अभी सुनाया है, वह वही है जो कि हम रसिक प्रेमियों से सुनते चले आ रहे हैं।

इसके पश्चात् स्थान-स्थान पर उत्तरकाण्ड में गुरु-परम्परा का भाव ताने-बाने के समान चौपाइयों में गुंथा है।[5] मानस के उत्तर-काण्ड में, विश्वास को सुदृढ़ करने के हेतु ही, यह भाव ताने-बानों में जोड़ के समान पुनः आया है। जो वस्तु आवश्यक व महत्व की होती है, वही चेतावनी-रूप में अन्त में पुनः स्मरण करायी जाती है। ०००

इस अध्याय के प्रारम्भ में शान्ति पाठ की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। उनमें तथा मानस की चौपाई में किस प्रकार साम्य स्थापित होता है, यह यहाँ अंकित किया जाता है। इन शांति पाठों से यह दृष्टिकोण स्थापित होता है कि गुरु तथा शिष्य दोनों ही परम तत्व के चिंतन में एक-सा मानसिक स्तर लेकर अग्रसर होते थे। विद्या संहिता थी, गुरु व शिष्य ज्ञान के पूरक।

1. ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

—कठ उप०

भावार्थ—परम ब्रह्म परमात्मा हम दोनों की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजोमयी हो। हम दोनों परस्पर द्वेष न करें।

2. तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः!

—तैत्तिरीय उप०

भावार्थ—वे मेरी रक्षा करें, वे आचार्य की रक्षा करें; रक्षा करें मेरी व रक्षा करें मेरे आचार्य की।

3. सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः संहिताया उपनिषदं
व्याख्यास्यामः। —तै० उ०, व 1, अनु० 3

भावार्थ—हम दोनों का तेज व ब्रह्मतेज बढ़े।

4. अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या संधिः।
प्रवचनं ँ संधानम् इत्यधिविद्यम्।

—तै० उ०, व 1, अनु० 3

भावार्थ—अब विद्या विषयक संहिता का आरंभ करते हैं। गुरु पहला वर्ण है, समीप निवास करने वाला शिष्य दूसरा वर्ण है, विद्या उनकी संधि है। गुरु द्वारा दिया गया उपदेश संधि का हेतु है। इस प्रकार विद्या विषयक संहिता कही गयी।

उपरोक्त शान्ति पाठों के उद्धरण सें इस पर प्रकाश पड़ता है कि गुरु के समान शिष्य भी मानसिक रूप से प्रौढ़ थे, दोनों का मानसिक स्तर समान था। शिष्य भले ही एक विषय विशेष से अनभिज्ञ हो, परन्तु अपनी इस अनभिज्ञता के कारण वह मानसिक रूप से प्रौढ़ न हो, ऐसा न था। वास्तव में मानसिक प्रौढ़ता ही शिष्य को ब्रह्म ज्ञान का अधिकारी बनाती थी। उपरोक्त शांति पाठों से साम्य प्रस्तुत करने वाली चौपाई—

श्रोता बक्ता ग्याननिधि, कथा राम कै गूढ़।
किमि समुझौं मैं जीव जड़, कलि मल ग्रसित बिमूढ़ ॥30॥ (ख)

—बा० कां०,

भावार्थ—श्रीरामजी की कथा के वक्ता और श्रोता दोनों ज्ञान के खजाने होते हैं। मैं कलियुग के पापों से ग्रसा हुआ महामूढ़ जड़ जीव भला उसको कैसे समझ सकता हूँ!

साम्य—उपनिषद् वाक्यों में शिष्य व आचार्य की चर्चा का विषय परम तत्व है, जो कि गूढ़ विषय है। मानस ने 'कथा राम कै गूढ़' कहकर राम-कथा को भी परम तत्व के समान गूढ़ होने का संकेत दिया है।

वाक्य में शिष्य व आचार्य एक-सा मानसिक स्तर लेकर तत्व विषयक विद्या आरंभ करते हैं। मानस भक्ति ग्रन्थ है। भक्ति ग्रन्थ में वक्ता का स्थान श्रोता के स्थान से ऊँचा माना जाता है। वक्ता का मानसिक स्तर भी श्रोता के मानसिक

स्तर से ऊँचा समझा जाता है। अतः मानस का यह कथन 'श्रोता ग्याननिधि'— जिसमें उसने श्रोता व वक्ता को वाक्य के समान एक मानसिक स्तर पर रख दिया है, विशेष अर्थ रखता है। यह भाव वाक्य भावों को प्रतिबिंबित करता है।

'किमि समुझौं मैं जीव जड़, कलि मल ग्रसित विमूढ़' में पुनः हमको भक्त की विनम्रता के दर्शन होते हैं। ०००

गुरु की महत्ता

ततः सद्गुरुकटाक्षमन्तःकरणमाकांक्षति। तस्मात् सद्गुरु कटाक्ष लेशविशेषेण सर्वसिद्धय सिद्ध्यन्ति। यथा जात्यन्धस्य रूपज्ञानं न विद्यते तथा गुरूपदेशेन विना कल्पकोटिभिस्तत्वज्ञानं न विद्यते। तस्मात्सद्गुरु कटाक्ष लेशविशेषेणाचिरादेव तत्वज्ञानं भवति। यदा सद्गुरुकटाक्षो भवति तदा भगवत्कथाश्रवण-ध्यानादौ श्रद्धा जायते ॥7॥

—त्रि० महा० उप०, अ० 5

भावार्थ—तब अन्तःकरण सद्गुरु का कटाक्ष चाहता है। सद्गुरु के कटाक्ष के लेश से ही सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। सब बन्धन पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं। जैसे जन्मान्ध को रूप का ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार गुरु के उपदेश के बिना करोड़ों कल्पों में भी तत्व ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार सद्गुरु के कृपा कटाक्ष के लेश से अविलम्ब ही तत्व ज्ञान हो जाता है। जब सद्गुरु का कृपा कटाक्ष होता है, तब भगवान् की कथा सुनने एवं ध्यानादि करने में श्रद्धा उत्पन्न होती है।

बंदउँ गुरुपद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥
अमिअ मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू॥
सुकृति संभु तन विमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किएँ तिलक गुन गन बस करनी॥
श्री गुरु पद नख मनि गन जोती। सुमरत दिव्य दृष्टि हियँ होती॥
दलन मोह तम सो सप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥
सूझहिं राम चरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥
जथा सुअंजन अंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैल बन, भूतल भूरि निधान॥
गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिअ दृग दोष बिभंजन॥
तेहि कर बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ राम चरित भव मोचन॥

—बा० कां०, 1-1

साम्य

वाक्य	चौपाई
'तत सद्गुरु कटाक्षमंतः-करणमाकांक्षति'– तव अन्तःकरण सद्गुरु का कटाक्ष चाहता है।	'बंदउँ गुरुपद पदुम परागा'—जब अन्तःकरण में इच्छा जाग्रत होती है तभी उसका स्मरण व वंदन किया जाता है। मानस का प्रारंभ है अतः मानस का रचयिता सद्गुरु की कृपा-कटाक्ष का आकांक्षी है।
तस्मात् सद्गुरु कटाक्ष लेश विशेषेण सर्वसिद्धयः सिद्ध्यन्ति। सद्गुरु कटाक्ष के लेश से सर्व सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।	'जथा सुअंजन अंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान' कौतुक देखत सैल बन भूतल भूरि निधान'—यहाँ रामकथा की तुलना सिद्धांजन से की गयी है। यह साधक, सिद्ध व सुजानों का सिद्ध-अंजन है। वाक्य के सिद्धि प्राप्त होने के भाव को मानस ने दूसरे रूप से कहा है।
गुरूपदेशेन विना कल्पकोटिभिस्तत्वज्ञानं विद्यते। तस्मात्सद्गुरु लेशविशेषेणाचिरादेव तत्वज्ञानं भवति। गुरु के उपदेश के बिना करोड़ कल्पों में भी तत्वज्ञान नहीं होता। गुरु की कृपा कटाक्ष से वह तत्वज्ञान तत्काल हो जाता है।	1. अमिअ मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू ॥—संजीवनी जड़ी के समान यह समस्त भवरोगों का सपरिवार नाश कर देती है। संसार के मानसिक रोग ही तत्वज्ञान में बाधक होते हैं। समूल तथा सपरिवार उनका नाश हो जाने से तत्वज्ञान सहज रूप से आ जाता है। चौपाई का भावार्थ वाक्य से साम्य रखता है कि गुरु प्रभाव से इस तत्वज्ञान में बाधक मानसिक रोगों का नाश होता है। 2. उगरहिं विमल विलोचन हियके, मिटहिं दोष दुख भव रजनी के। सूझहिं रामचरित मनि मानिक, गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक ॥ हृदय के विमल विलोचन के खुल जाने से, तथा भव रात्रि के दोषों के मिट जाने से, राम-कथा के तत्व का ज्ञान हो जाता है, ऐसा मानस का कथन है। भक्ति ग्रन्थ होने के कारण मानस राम-कथा के तत्व की चर्चा कर रही है। ज्ञान ग्रन्थ जिसको परम तत्व कहते हैं, मानस उसको राम कथा तत्व

कहती है। वाक्य वर्णित भाव है कि गुरु कृपा कटाक्ष से तत्व ज्ञान शीघ्र ही हो जाता है। यहाँ मानस का कथन है कि गुरु की वंदना मात्र से ही तत्वज्ञान हो जाता है।

यदा सद्गुरु कटाक्षो
भवति तदा भगवत्कथा
श्रवण-ध्यानादी श्रद्धा
जायते—

सद्गुरु कटाक्ष होने पर भगवत् कथा के श्रवण-ध्यान में श्रद्धा उत्पन्न होती है।

गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन।
नयन अमिअ दृग दोष बिभंजन॥
तेहिं करि बिमल बिबेक बिलोचन।
बरनउं राम चरित भव मोचन॥

गुरु पद रज के अंजन का परिणाम है कि नेत्र के दोष मिट जाते हैं, विमल विवेक की प्राप्ति होती है। जब विवेक आता है, तभी श्रवण व ध्यान में श्रद्धा का उदय होता है।

न गुरोधिकं
न गुरोधिकं
न गुरोधिकं
शिव शासनतः
शिव शासनतः
शिव शासनतः
गुरौ रुष्टे न कश्चन
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरोराज्ञां वहेद् बुधः॥ (गुरुगीतायाम्)

भावार्थ—ऐसा शिव का विधान है कि गुरु से अधिक बढ़कर और कोई नहीं है। गुरु रुष्ट हो जाय तो कोई भी रक्षक नहीं है—इस कारण बुद्धिमान् प्राणी सदैव गुरु की आज्ञा को धारण करे।

एक बार हर मंदिर, जपत रहेउँ सिव नाम।
गुरु आयउ अभिमान तें, उठि नहिं कीन्ह प्रनाम॥ 106॥(क)

सो दयालु नहिं कहेउ कछु, उर न रोष लवलेस।
अति अघ गुरु अपमानता सहि नहिं सके महेस॥ 106॥ (ख)

मंदिर माझ भई नभबानी। रे हतभाग्य अग्य अभिमानी॥
जद्यपि तव गुरु के नहिं क्रोधा। अति कृपाल चित सम्यक बोधा॥
तदपि साप सठ दैहउँ तोही। नीति विरोध सोहाइ न मोही॥
जौं नहिं दंड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा॥
जे सठ गुर सन इरिषा करहीं। रौरव नरक कोटि जुग परहीं॥
त्रिजग जोनि पुनि धरहिं सरीरा। अयुत जन्म भरि पावहिं पीरा॥

बैठ रहेसि अजगर इव पापी। सर्प होहि खल मल मति व्यापी ॥
महा बिटप कोटर महुँ जाही। रहु अधमाधम अधगति पाई ॥

हाहाकार कीन्ह गुरु, दारुन सुनि सिव साप।
कंपित मोहि बिलोक अति, उर उपजा परिताप ॥107॥(क)

करि दंडवत सप्रेम द्विज, सिव सन्मुख कर जोरि।
बिनय करत गदगद स्वर, समुझि घोर गति मोरि ॥107॥(ख)

सुनि बिनती सर्बग्य सिव, देखि बिप्र अनुरागु।
पुनि मंदिर नभबानी, भइ द्विजबर बर मागु ॥ 108 ॥ (क)

जौं प्रसन्न प्रभु मो पर, नाथ दीन पर नेहु।
निज पद भगति देइ प्रभु, पुनि दूसर बर देहु ॥ 108 ॥ (ख)

तव माया बस जीव जड़, संतत फिरइ भुलान।
तेहि पर क्रोध न करिअ प्रभु, कृपासिंधु भगवान ॥108॥(ग)

संकर दीन दयाल अब, एहि पर होहु कृपाल।
साप अनुग्रह होइ जेहिं, नाथ थोरेहीं काल ॥ 108 ॥ (घ)

एहि कर होइ परम कल्याना। सोइ करहु अब कृपानिधाना ॥
बिप्र गिरा सुनि परहित सानी। एवमस्तु इति भइ नभबानी ॥
जदपि कीन्ह एहिं दारुन पापा। मैं पुनि दीन्ह कोप करि सापा ॥
तदपि तुम्हारि साधुता देखी। करिहउँ एहि पर कृपा बिसेषी ॥
छमासील जे पर उपकारी। ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी ॥
मोर श्राप द्विज व्यर्थ न जाइहि। जन्म सहस अवस्य यह पाइहि ॥ 3 ॥
जनमत मरत दुसह दुख होई। एहि स्वल्पउ नहिं ब्यापिहि सोई ॥
कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ग्याना। सुनहि सूद्र मम बचन प्रवाना ॥4 ॥

—उ. कां., 109

साम्य

'गुरु गीता' के श्लोक का भाव है कि यदि भगवान् रुष्ट हो जाए, तो गुरु उसको मनाकर उसकी अप्रसन्नता दूर कर सकता है; परन्तु यदि गुरु ही रुष्ट हो जाय, तो फिर ऐसी कौन-सी शक्ति रह जाती है, जो उसकी अप्रसन्नता दूर करा सके ?

मानस ने 'गुरु गीता' के श्लोक के भाव को सविस्तार दृष्टांत रूप से प्रस्तुत किया है। दृष्टांतों में मानस पटल पर अंकित हो जाने की अद्‌भुत क्षमता होती है। सम्भवत: जन समुदाय के मन पर गुरु की महिमा का प्रभाव स्थिर रूप से अंकित

करने के लिए ही मानस ने दृष्टांत का सहारा लेकर श्लोक के भाव को उनके मन पर उतारा हो।

इस कथा की विशेषता यह है कि इसमें से तीन भाव उभरते हैं। प्रथम—गुरु को अपमानित करना, अथवा गुरु के सन्मुख दम्भ करना कितना महान पातकी अवगुण है; कि उसके निरादर से भगवान् भी अप्रसन्न हो जाते है। दूसरा भाव जो उभरता है, वह है कि भगवान के रुष्ट होने पर, गुरु भगवान को प्रसन्न करने की सामर्थ्य रखता है; तीसरा भाव है गुरु के करुणास्वरूप का; जिस निन्दनीय कर्म से भगवान तक का क्रोध जाग्रत हो सकता है, उस कर्म से भी सत्गुरु का करुणाभाव नष्ट नहीं होता। उसका अटूट प्रेम शिष्य के प्रति बना ही रहता है। श्लोक के भाव में और चार चाँद लगाकर मानस ने दृष्टांत रूप से 'गुरु गीता' का भाव अभिव्यक्त किया है। ०००

गुरुः क इति। गुरु साक्षादादिनारायणः पुरुषः। स आदिनारायणोऽहमेव; तस्मान्मामेकं शरणं व्रज। —त्रि० महा० उप०, अ 8

भावार्थ—गुरु कौन है ? गुरु साक्षात् आदिनारायण परम पुरुष हैं। वह आदि नारायण मैं हूँ। इस प्रकार तू मेरी शरण में आ।

मानस से साम्य स्थापित होने वाली चौपाइयां

(1) वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥3॥ —बा० कां०

भावार्थ—ज्ञानमय, नित्य शंकर-रूपी गुरु की मैं वन्दना करता हूँ, जिनके आश्रित होने से ही टेढ़ा चन्द्रमा भी सर्वत्र वन्दित होता है।

(2) बंदउँ गुरुपद कंज, कृपारूप नर रूप हरि।
महामोह तम पुंज, जासु बचन रविकर निकर ॥ 5 ॥—बा०का०

अर्थ—मैं उन गुरु महाराज के चरण कमलों की वन्दना करता हूँ, जो कृपा के सागर व नर रूप में हरि ही हैं। और जिनके वचन महामोह रूपी घने अंधकार को नाश करने के लिए सूर्य रूपी किरणों का समूह है।

साम्य

वाक्य	चौपाई
1. गुरु साक्षादादिनारायणः	1. बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
स आदिनारायणोऽहमेव।	2. नर रूप हरि।

वाक्य	चौपाई
2. तस्मान्मामेकं शरणं व्रज (मेरी शरण में आ)	1. यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते। (जिसकी शरण जाने पर टेढ़ा चन्द्रमा भी सर्वत्र वन्दित होता है।) चन्द्रमा का उदाहरण गुरु की शरण में जाने की प्रेरणा का माध्यम है। चौपाई का भावार्थ है कि ऐसे गुरु की शरण में आना चाहिए। वाक्य का कथन है कि 'शरण में आ', चौपाई का कथन है कि 'शरण में जा'। वाक्य आमंत्रण दे रहे हैं, और चौपाई प्रेरणा दे रही हैं। औपनिषदिक साधक अपनी परिपक्व बुद्धि द्वारा बौद्धिक स्तर पर निर्णय ले सकते है; परन्तु जनसाधारण में वह बौद्धिक परिपक्वता नहीं है; उसको तो निज लाभ दर्शाकर व प्रेरणा देकर ही गुरु-चरणों में भेजना है। भक्ति ग्रन्थ व ज्ञान ग्रन्थ का जो सूक्ष्म भेद हम सर्वत्र इस ग्रन्थ में देख रहे हैं, वही यहाँ भी दृष्टिगोचर है। 2. महामोह तम पुंज, जासु वचन रविकर निकर। इस चौपाई में जो निहित भाव है, वह गुरु चरणों में आने की प्रेरणा देने का है। अतः प्रेरणा के रूप में चौपाइयाँ वाक्य का गुरु-चरणों में आने का निहित भाव व्यक्त कर रही हैं।

सन्दर्भ

1. कुछ शांति पाठों में से सहयोग की भावना वाले अंग—

(क) ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै (कृष्ण यजुर्वेद) पूर्णब्रह्म परमात्मा हम दोनों की साथ-साथ रक्षा करें, हम दोनों का साथ-साथ पालन करें, हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजोमयी हो।

(ख) वाङ्मे···तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम् वक्तारम् ववतमम् (ऋगवेदीय) वे मेरी रक्षा करें, वे वक्ता की रक्षा करें, मेरी रक्षा करें, मेरे आचार्य की रक्षा करें।

(ग) सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसमम्—तै० उप०, व 1, अनु० 3) हम दोनों का यश एक साथ बढ़े, एक साथ ही हम दोनों का ब्रह्मतेज बढ़े।

(घ) इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥3॥ —के० उ०, खं० 1 हम अपने आचार्यों के मुख से, जिन्होंने हमको ब्रह्म तत्व समझाया था, ऐसा सुनते आए हैं।

(च) अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम् ॥2॥ अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या संधिः॥ प्रवचनम् संधानम्। इत्यधिविद्यम्—तै० उ०, व० 1, अनु० 3 आचार्य प्रथम वर्ण है, समीपस्थ शिष्य दूसरा वर्ण है; दोनों के बौद्धिक संयोग से उत्पन्न हुआ रूप विद्या है। गुरु द्वारा किया गया उपदेश संधि का हेतु है। विद्या विषय पर संहिता का जन्म इस प्रकार हुआ।

2. इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥3॥

3. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ॥3॥

—के० उ०, खण्ड 1

उस ब्रह्म तक न चक्षु पहुँच सकते हैं न वाक्। वह ऐसा है कहकर हम उसको नहीं जान सकते; न हम उसे अपनी बुद्धि से जान सकते हैं; न दूसरों से सुनकर समझ सकते हैं। वह जानने, न जानने के समुदाय से भिन्न है। इस वाक्य की प्रसिद्ध व्याख्याओं में इसका भावार्थ लिया गया है कि तत्व ज्ञान अगोचर होने से गूढ़ तत्व है।

4. जेहिं यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरजु करै सुनि सोई॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी। नहिं आचरजु करहिं असि जानी॥2॥

कलप भेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥
करिअ न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी॥4॥

राम अनंत अनंत गुन, अमित कथा बिस्तार।
सुनि आचरज न मानिहहिं, जिन्ह के बिमल बिचार॥

—बा० कां०, 33

5. (1) कछुक राम गुन कहेउँ बखानी। अब का कहौं सो कहहु भवानी॥4॥

—उ० कां०, 52

अर्थात् शिवजी पार्वती जी से राम-कथा कह रहे हैं।

(2) ऐसहिं प्रश्न विहंगपति, कीन्ह काग सन जाइ।।

—उ० कां०, 55

अर्थात्—गरुड़जी यह कथा काकभुशुण्डि जी को सुना रहे हैं।

6. ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

—तैत्ति० उ० शांति पाठ, प्रथम अनुवाक, शिक्षा वल्ली।

कर्मकाण्ड

वेदों के विभाजन में आरण्यक भाग, ब्राह्मण भागों के पश्चात् आते हैं। आरण्यक ज्ञानप्रधान हैं; तथा ब्राह्मण कर्मप्रधान। मानस की रचना के बहुत पूर्व कर्मकांडों के दुष्परिणाम के रूप में बौद्ध धर्म भारत में पनप चुका था। कर्मकांड की निस्सारता व ज्ञानकांड की स्थापना के रूप में आदिशंकराचार्य विशेष रूप से सम्मुख आ चुके थे। सारांश यह कि वेदों का औपनिषदिक तत्व उभरकर ऊपर आ चुका था, और बहु-प्रचलित कर्मकांड अपना प्रभाव खो ही नहीं चुका था, वरन् उसके कुप्रभावों का आभास जागृति के रूप में जन समुदाय में व्याप्त हो चुका था। कर्मकांड के ऊपर बौद्धिक तत्व की प्रधानता को उपनिषदों के समान ही मानस ने भी स्वीकार किया है। ज्ञान का यह प्रभाव भक्ति के रूप में परिवर्तित होकर मानस में उसी प्रकार दृष्टिगोचर है जिस प्रकार उपनिषदों में ज्ञान। दोनों की दृष्टि में कर्मकांड हेय है।

कर्मकांड की हेयता सिद्ध करते हुए उपनिषद्-वाक्य—

1. यथा पशुरेवँऽस देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशुवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मा-देषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥ 10 ॥ —बृ० उ० 1/4

अर्थ—ऐसे प्राणी देवताओं के पशु माने गये हैं। जिस प्रकार इस लोक के पशु हैं, उसी प्रकार ये देवताओं के पशु हैं। जिस प्रकार लोक में बहुत से पशु मनुष्यों का पालन करते हैं, उसी प्रकार एक-एक मनुष्य देवताओं का पालन करता है। एक पशु का ही हरण किए जाने पर अच्छा नहीं लगता, फिर बहुतों के तो हरण करने पर कहना ही क्या, इसलिए देवताओं को यह पसन्द नहीं है कि मनुष्य ब्रह्म-तत्त्व को जाने।

2. नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ॥ 8 ॥ —मुं० उ०, अ०3 ख०1

भावार्थ—केवल कर्मकांड व तप द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं होती।

(2) ऐसहि प्रश्न विहंगपति, कीन्ह काग सन जाइ ॥

—उ० कां०, 55

अर्थात्—गरुड़जी यह कथा काकभुशुण्डि जी को सुना रहे हैं।

6. ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

—तैत्ति० उ० शांति पाठ, प्रथम अनुवाक, शिक्षा वल्ली।

कर्मकाण्ड

वेदों के विभाजन में आरण्यक भाग, ब्राह्मण भागों के पश्चात् आते हैं। आरण्यक ज्ञानप्रधान हैं; तथा ब्राह्मण कर्मप्रधान। मानस की रचना के बहुत पूर्व कर्मकांडों के दुष्परिणाम के रूप में बौद्ध धर्म भारत में पनप चुका था। कर्मकांड की निस्सारता व ज्ञानकांड की स्थापना के रूप में आदिशंकराचार्य विशेष रूप से सम्मुख आ चुके थे। सारांश यह कि वेदों का औपनिषदिक तत्व उभरकर ऊपर आ चुका था, और बहु-प्रचलित कर्मकांड अपना प्रभाव खो ही नहीं चुका था, वरन् उसके कुप्रभावों का आभास जागृति के रूप में जन समुदाय में व्याप्त हो चुका था। कर्मकांड के ऊपर बौद्धिक तत्व की प्रधानता को उपनिषदों के समान ही मानस ने भी स्वीकार किया है। ज्ञान का यह प्रभाव भक्ति के रूप में परिवर्तित होकर मानस में उसी प्रकार दृष्टिगोचर है जिस प्रकार उपनिषदों में ज्ञान। दोनों की दृष्टि में कर्मकांड हेय हैं।

कर्मकांड की हेयता सिद्ध करते हुए उपनिषद्-वाक्य—

1. यथा पशुरेवँस देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः॥ 10॥ —बृ० उ० 1/4

अर्थ—ऐसे प्राणी देवताओं के पशु माने गये हैं। जिस प्रकार इस लोक के पशु हैं, उसी प्रकार ये देवताओं के पशु हैं। जिस प्रकार लोक में बहुत से पशु मनुष्यों का पालन करते हैं, उसी प्रकार एक-एक मनुष्य देवताओं का पालन करता है। एक पशु का ही हरण किए जाने पर अच्छा नहीं लगता, फिर बहुतों के तो हरण करने पर कहना ही क्या, इसलिए देवताओं को यह पसन्द नहीं है कि मनुष्य ब्रह्म-तत्त्व को जाने।

2. नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा॥ 8॥ —मुं० उ०, अ०3 व०1

भावार्थ—केवल कर्मकांड व तप द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं होती।

3. सोऽहं भगवो मन्त्र विदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरित शोकमात्मविदित सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयात्विति ॥ 3 ॥—छां० उ०

अर्थ—हे आचार्य ! मैं केवल मन्त्रवेत्ता ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं हूँ। मैंने आप जैसे सनत कुमार से सुना है कि आत्मवेत्ता शोक को पार कर लेता है। मैं शोक करता हूँ, मुझे शोक से पार कर दीजिये।

4. सर्वएते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्म सं स्थोऽमृतत्वमेति ॥ 3 ॥

—छां० उ० ॥2-23-1

अर्थ—कर्मकांडी लोग पुण्य लोकों को प्राप्त होते हैं (जो क्षीण पाप हैं) तथा ब्रह्मनिष्ठ अमरत्व को प्राप्त होते हैं।

5. अथयेऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्य लोका भवन्ति।

—छां० उ०, 7-25-1

अर्थ—जो लोग इस (अद्वैत आत्म ज्ञान) से विपरीत जाते हैं, वे अनात्म के अधीन होने से क्षीण होने वाले लोकों में जाते हैं।

6. तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते।
त एव पुनरावर्तन्ते ॥ 9 ॥ —प्रश्न उ०, अ० 1,

भावार्थ—कर्ममार्ग का अनुसरण करनेवाले यज्ञ-पुण्यादि द्वारा चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं।

7. अविद्यायां बहुधा वर्तमानाः वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ 9 ॥
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥ 10 ॥

—मुं० उ०, अ 1, खं० 2

भावार्थ—अविद्या के अधीन होने के कारण ये लोग बालकों के समान समझते हैं, कि इनको जीवन में अमरत्व की प्राप्ति हो गई; आसक्ति और राग उन्हें कभी ज्ञान की प्राप्ति नहीं होने देता, अपने अच्छे कर्मों के फल समाप्त होने पर वे नीचे लोकों में प्रविष्ट होते हैं।

साम्य स्थापित करने वाली चौपाइयां

1. (क) एक बार बसिष्ठ मुनि आए। जहाँ राम सुखधाम सुहाए ॥
अति आदर रघुनायक कीन्हा। पद पखारि पादोदक लीन्हा ॥1॥
राम सुनहु मुनि कह कर जोरी। कृपासिंधु बिनती कछु मोरी ॥
देखि-देखि आचरन तुम्हारा। होत मोह मम हृदयँ अपारा ॥2॥

महिमा अमिति वेद नहिं जाना। मैं केहि भाँति कहऊँ भगवाना॥
उपरोहित्य कर्म अति मंदा। वेद पुरान सुमृति करि निंदा॥3॥
जय न लेउँ मैं तव विधि मोही। कहा लाभ आगें सुत तोही॥
परमातमा ब्रह्म नर रूपा। होइहि रघुकुल भूपन भूपा॥4॥
तव मैं हृदय विचारा, जोग जग्य व्रत दान॥
जा कहुँ करिअ सो पैहउँ, धर्म न एहि सम आन॥48॥
—उ० कां०

अर्थ—एक बार वशिष्ठ मुनि वहाँ आये, जहाँ श्रीराम, सुख के धाम विराजमान थे। श्री रामचन्द्रजी ने उनका बहुत आदर-सत्कार किया, और चरण धोकर चरणामृत लिया। मुनि ने हाथ जोड़कर कहा, हे प्रभु! आपका मनुष्यों का सा आचरण देखकर मेरे मन में भ्रम हो जाता है। आपकी महिमा वेद-पुराण भी नहीं कह सकते। पुरोहित का कर्म बहुत नीचा है। वेद, पुराण और स्मृति सभी इस की निन्दा करते हैं। जब मैं यह काम नहीं लेता था तब ब्रह्माजी ने मुझे कहा था, 'हे पुत्र! तुमको इससे आगे चलकर बहुत लाभ होगा। तब मैंने हृदय में विचार किया—जिसके लिए योग, यज्ञ, व्रत और दान किये जाते हैं, उसे मैं इसी कर्म से पा जाऊँगा। तब तो इसके समान कोई धर्म ही नहीं है।

1. (ख) जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना शुभकर्मा॥
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥1॥
आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥
तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥2॥
छूटइ मल कि मलहि के धोएँ। घृत कि पाव कोइ बारि बिलोएँ॥
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥3॥
सोइ सर्बग्य तग्य सोइ पंडित। सोइ गुन गृह बिग्यान अखंडित॥
दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाकें पद सरोज रति होई॥49॥
—उ० कां०

जप, तप, नियम, वर्णाश्रम धर्म, शुभ कर्म, ज्ञान, दया, क्षमा, दम, तीर्थ-स्नान, अनेक तन्त्र तथा वेद-पुराण पढ़ने का सर्वोत्तम फल एक ही है कि आपके चरणों में प्रेम बना रहे। मैल क्या मैल के धोने से ही छूटता है। जल के मथने से घी नहीं निकलता है। प्रेम भक्ति जल के बिना अन्तःकरण का मल कभी नहीं जाता। वही सर्वज्ञ है, वही तत्त्वज्ञ व पंडित है, वही गुणों का घर व अखण्ड विद्वान् है, वही चतुर सुलक्षणों से युक्त है, जिसका आपके चरणों में प्रेम है। अर्थात्—बिना राम-भक्ति के तप, जप, नियम, वेद-पुराण-ज्ञान, तीर्थयात्रा, क्षमा, दया आदि उपर्युक्त वर्णित समस्त कर्म व्यर्थ हैं।

(2) सुनि तव प्रस्न सप्रेम सुहाई। बहुत जनम कै सुधि मोहि आई ।।
सब निज कथा कहउँ मैं गाई। तात सुनहु सादर मन लाई ।।2।।
जप तप मख सम दम ब्रत दाना। विरति विवेक जोग विग्याना ।।
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा ।।3।।

—उ० कां०, 95

प्रथम मोहँ मोहि बहुत बिगोवा। राम बिमुख सुख कबहुँ न सोवा ।।3।।
नाना जनम कर्म पुनि नाना। किए जोग जप तप मख दाना ।।
कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं ।।4।।
देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहि की नाईं ।।

—उ० कां०, 96

अर्थ—आपके सुन्दर प्रेमयुक्त वचन सुनकर मुझे बहुत से जन्मों की याद आ गई। सविस्तार से कही गई मेरी कथा आप सादर सुनिए। अनेक जप, तप, यज्ञ, शम, दम, व्रत, दान, वैराग्य, विवेक, योग, विज्ञान आदि सबका फल श्री रघुनाथ के चरणों में प्रेम होना है। इसके बिना कोई कल्याण नहीं पा सकता।

—उ० कां०, 3।95

पहले मोह ने मेरी बड़ी दुर्दशा की। श्रीराम से विमुख होकर मैं कभी सुख से नहीं सो सका। अनेक जन्मों में मैंने अनेक प्रकार के जोग, जप, तप, यज्ञ और दान आदि किए थे। हे गरुड़ जी ! जगत में ऐसी कौन योनि है, जिसमें मैंने घूम-घूमकर जन्म न लिया हो। हे गुसाईं ! सब कर्मों के फल देख लिये, पर अब की तरह कभी सुखी नही हुआ। अर्थात् जोग, जप, तप आदि कर्मकांडों से भी वह सुख प्राप्त नहीं हुआ जो 'राम-भक्ति' से प्राप्त हुआ।

(3) गिरिजा संत समागम, सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं वेद पुरान ।।125।।(ख)
तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई ।।2।।
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना ।।2।।
भूतदया द्विज गुर सेवकाई। विद्या, बिनय, बिबेक, बड़ाई ।।3।।
जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी ।।
सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। राम कृपाँ काहूँ एक पाई ।।4।।

—उ० कां०, 26

अर्थ—हे गिरिजा ! संत-समागम के समान दूसरा कोई लाभ नहीं है। बिना हरि-कृपा के वह नहीं मिलता। तीर्थ-यात्रा आदि बहुत से साधन योग, वैराग्य, और ज्ञान में निपुणता, अनेक प्रकार के कर्म, व्रत, और दान, अनेक प्रकार के संयम, दम, जप, तप और यज्ञ, प्राणियों पर दया, ब्राह्मण और गुरु की सेवा, विद्या, विनय और विवेक की बड़ाई जहाँ तक वेदों ने वर्णित की है, उन सबका फल श्री हरि की

भक्ति है, जो श्रीराम की कृपा से किसी विरले को प्राप्त होती है।

(4) मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा ॥1॥

—उ० कां०, 62

अर्थ—रघुपति बिना अनुराग के नहीं मिलते। योग, तप, ज्ञान-विज्ञान से उनकी प्राप्ति होती है।

(5) जौं तेहि बिघ्न बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी ॥5॥
इन्द्री द्वार झरोखा नाना। तहँ-तहँ सुर बैठे करि थाना ॥
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी ॥6॥
जब सो प्रभंजन उर गृहँ जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई ॥
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भई बिषय बतासा ॥7॥
इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सुहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई ॥
बिषय समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी ॥8॥

—उ० कां०, 118

इस प्रकार यदि माया के विघ्नों से बुद्धि को बाधा न हुई, तो फिर देवता विघ्न करते हैं। इन्द्रियों के द्वार हृदयरूपी घर में अनेक झरोखे हैं। प्रत्येक झरोखे पर देवता अड्डा जमाकर बैठे हैं। ज्यों ही वे विषय रूपी हवा को आते देखते हैं त्यों ही विज्ञान-दीपक बुझ जाता है। गाँठ भी नहीं छूटी और वह आत्म-अनुभव रूप प्रकाश भी मिट गया। विषयरूपी हवा से बुद्धि व्याकुल हो गयी। इन्द्रियों और उनके देवताओं को ज्ञान नहीं सुहाता; क्योंकि उनकी विषय-भोगों में सदा ही प्रीति होती है। बुद्धि को भी विषय-रूपी समीर ने बावली बना दिया, तब फिर उस ज्ञान-दीप को इस प्रकार कौन जलावे?

उपरोक्त चौपाइयों व वाक्यों का साम्य नीचे स्थापित किया जाता है:

यथा पशुरेवꣳ स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः॥ (बृ० उप०, अ० 1, ब्रा० 4)

भावार्थ—ऐसे प्राणी देवताओं के पशु माने गये हैं। जिस प्रकार वे पशु हैं, इसी प्रकार ये देवताओं के पशु हैं। जिस प्रकार लोक में बहुत से पशु मनुष्यों का पालन करते हैं, उसी प्रकार एक-एक मनुष्य देवताओं का पालन करते हैं। एक पशु का भी हरण करना अच्छा नहीं लगता, फिर बहुत से पशुओं के हरण करने पर तो कहना ही क्या! इसलिए देवताओं को यह पसन्द नहीं है कि मनुष्य ब्रह्म तत्व को जाने।

उपर्युक्त उदाहरण का साम्य निम्नांकित चौपाई से स्थापित होता है—

जौं तेहि बिघ्न बुद्धि नहिं बाधी। तौं बहोरि सुर करहिं उपाधी ॥5॥
इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ-तहँ सुर बैठे करि थाना ॥
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी ॥6॥

जब सो प्रभंजन उर गृहँ जाई। तबहि दीप बिग्यान बुझाई ॥
ग्रन्थि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भई बिषय बतासा ॥7॥
इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई ॥
बिषय समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी ॥8॥
(उ० कां०, 118)

साम्य

वाक्य	चौपाई
(1) देवताओं को प्रिय नहीं कि मनुष्य दिव्य तत्व को जानें।	(1) जौं तेहि बिघ्न बुद्धि नहिं बाधी, तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी। माया के विघ्नों से बुद्धि नहीं बंधी तो फिर देवता विघ्न डालते हैं—क्योंकि उनको मनुष्यों की ज्ञान-प्राप्ति अप्रिय है।
(2) मनुष्य उनका पशु है।	(2) इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। 'बिषय भोग पर प्रीति सदाई' ॥ विषय-भोग में प्रीति होने के कारण इन्द्रियों और उनके देवताओं को ज्ञान नहीं सुहाता; जैसे मनुष्य पशुओं के द्वारा अपने कार्य सिद्ध करता है, वैसे देवता मनुष्यों के द्वारा अपनी कार्य-सिद्धि करते हैं। अतः मनुष्य उनका पशु है। ०००

जो वाक्य प्रारंभ में ही उद्धृत किये गये हैं, उनमें वाक्य-संख्या 2, 3, 4, 5, 6 व 7 में एक-एक भाव भिन्न-भिन्न रूप में अभिव्यक्त है। जिसका सारांश है कि कर्मकाण्ड के भिन्न-भिन्न कार्यों तथा तप-दान आदि से केवल नश्वर सुखों की प्राप्ति हो सकती है। शाश्वत सुख व अमरत्व के लिए ब्रह्मवेत्ता होना अनिवार्य है।

वाक्य संख्या 2—कर्मकाण्ड व तप द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं होती।

वाक्य संख्या 3—मंत्रवेत्ता (कर्मकाण्डी) को उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती, उसकी प्राप्ति के लिए आत्मवेत्ता होना चाहिए। (शोकविहीन होना आत्मवेत्ता का गुण है)।

वाक्य संख्या 4—कर्मकाण्डी क्षीणवान् पुण्य लोकों को प्राप्त होते हैं। ब्रह्म-निष्ठ अमरत्व को प्राप्त होते हैं।

वाक्य संख्य 5—आत्म-ज्ञान से विपरीत चलनेवाले क्षीणवान् लोकों में जाते हैं।

वाक्य संख्या 6—कर्म-मार्ग का अनुसरण करने वाले चन्द्रलोक (क्षीणवान् लोक) को प्राप्त होते हैं।

वाक्य संख्या 7—अविद्या (कर्म-काण्ड) के कारण वे ऐसा सोचते हैं, कि उन्हें अमर तत्त्व की प्राप्ति हो गई। कर्मों की समाप्ति पर वे नीचे लोकों में पहुँचते हैं।

इस प्रकार इन सभी उद्धरणों में एक तरह की समता दिखाई देती है। सभी उद्धरणों में—

(1) कर्मकाण्डी द्वारा अमरत्व की प्राप्ति का निषेध दिखाई पड़ता है।

(2) स्पष्ट कथन एवं अकथित रूप द्वारा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि अमरत्व व शाश्वत सुख के लिए आत्म-वेत्ता होना अनिवार्य है।

प्रारम्भ में जो चौपाइयाँ उद्धृत की गई हैं, उन चौपाइयों में भी ये ही भाव दिखलाई पड़ते हैं।

चौपाई संख्या 1

कर्मकाण्ड की निन्दा — 'पउरोहित्य कर्म अति मंदा'

इस कथन को वेद-पुराणों की स्वीकृति — 'वेद पुरान सुमृति करि निन्दा'

सार्थकता — 'तब मैं हृदयँ विचारा, जोग जग्य व्रत दान।।
जा कहुँ करिअ सो पैहउँ, धर्म न एहि सम आन।।48।।

यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि ये वचन राजपुरोहित गुरु वशिष्ठ के हैं।

चौपाई संख्या 2

कर्मकाण्ड की निन्दा — 'जप, तप, मख, सम, दम, व्रत, दान, बिरति, बिबेक, जोग, बिग्याना
नाना जन्म कर्म पुनि नाना, किएँ जोग जप तप मख दाना।
'देखउँ करि सब करम गुसाईं'

भगवत्-प्राप्ति— जहँ लग साधन वेद बखानी। सब कर फल हरिभगत बखानी।।
सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। राम कृपा काहू एक पाई।।

वेद वर्णित कर्मकाण्ड के साधनों का फल हरि-भक्ति हैं। श्रुति का कथन है भगवत्-कृपा से वह किसी एक को मिलती है। इस कथन का तात्पर्य निकलता है कि किसी एक पर राम-कृपा होती है, तब वह इन साधनों को हरि-भक्ति की प्राप्ति के लिए करता है। साधारणतः प्राणी ये

कर्म, कर्म-फल-भोग की अभिलाषा से करते हैं। उपर्युक्त कथन तथा निम्नांकित चौपाइयाँ गिरिजा-शिव-संवाद रूप में श्री शिवजी के कथन रूप में प्राप्त हैं।

चौपाई संख्या 4
कर्मकाण्ड का निषेध

किए जोग तप ग्यान बिरागा।
मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा॥

भावार्थ है कि उपरोक्त कर्म करने से श्रीराम की प्राप्ति नहीं होती है।

उपरोक्त चौपाइयाँ जिन प्रसंगों में आई हैं, वे उल्लेखनीय हैं। मानस के उत्तरकाण्ड में श्री वशिष्ठ जी का यह कथन 'पउरोहित्य कर्म अति मंदा, वेद पुरान सुमृति कर निंदा' किसी प्रसंगवश नहीं उठा है; वरन् उसका प्रसंग जिस प्रकार उठाकर यह भाव व्यंजना की गई है, उससे पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि किसी भाव स्थापना के लिए ही यह प्रसंग उठाया गया है। यह कथन करनेवाले, अर्थात् यह भाव व्यंजना करनेवाले भी कोई और नहीं, स्वयं गुरु वसिष्ठ हैं जो परम पूज्यों की गणना में हैं, अत: उनके श्रीमुख से यह भाव व्यंजना प्रस्तुत कराकर इस भाव की महत्ता की ओर ध्यान आकर्षित किया है।

एक बार इस भाव की अभिव्यक्ति हो जाने पर पुन: वही भाव स्मरण किया जा रहा है। यह भी उल्लेखनीय है। क्योंकि बारम्बार स्मरण उसी बात का कराया जाता है, जो बहुत आवश्यक हो और जिसे हृदयंगम करना अभीष्ट हो। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि यह कोई ऐसा उदात्त भाव है, जिसका निरूपण मानस के रचयिता सतर्कता के साथ कर रहे हैं। पुन: दो बार उसी भाव का स्मरण कराया जा चुका है। एक बार काकभुशुण्डि-गरुड़ सम्वाद में; तथा दूसरी बार गिरिजा-शिव-सम्वाद में। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि वे तीनों ही आप्त व्यक्ति, जिनके मुख से ये भाव प्रस्तुत किये गए हैं, इन सभी ने सर्वरूपेण एक भरा-पूरा जीवन जिया है तथा अन्त में उसकी निस्सारता का अनुभव किया है। सर्वप्रथम रघुकुल के गुरु वसिष्ठ, जिन्होंने आजीवन पौरोहित्य (कर्मकाण्ड) का काम किया, उनका यह निष्कर्ष है; दूसरे काकभुशुण्डि, जिन्हें सहस्रों जन्मों के कर्मों एवं भक्ति की अनुभूति है, उनका यह निष्कर्ष है; तीसरे स्वयं भगवान् शिव की शिक्षाओं का यही निचोड़ है।

दूसरे, उन पात्रों का भी विशेष महत्त्व है जिनसे जीवन तत्त्व का यह निष्कर्ष निवेदित किया गया हैं। उनमें सर्वप्रथम हैं स्वयं नर-रूप ब्रह्म श्री रामचन्द्र, जिनसे गुरु वसिष्ठ ने अपने दीर्घकालीन पौरोहित्य जीवन के भावों को व्यक्त किया। दूसरे, एक आतुर साधक की प्रतिमूर्ति गरुड़जी हैं, जिनसे काकभुशुण्डि जी ने अपने भाव अभिव्यक्त किये; तीसरी, शिव के समस्त हृदय-रहस्यों की अधिकारिणी

स्वयम् गिरिजा हैं, जिनसे शिवजी ने अपने सम्पूर्ण भाव अभिव्यक्त किये। इस प्रकार मानस में, इन तीनों पात्रों के चयन में जो सतर्कता बरती गई है, वह भाव की गहनता की द्योतक है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि योग्य पात्र (मानसिक परिपक्वता को प्राप्त) ही इस भाव को ग्रहण करने की सामर्थ्य रखता है।

यहाँ तीसरी उल्लेखनीय बात कथा-प्रसंग में आये वे मर्म-स्थल हैं जो इस भावाभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त माने गये हैं। गुरु वसिष्ठ श्रीराम से यह कथन तब कहते हैं, जब वे राज्याभिषेक के पश्चात् सुखासीन हैं, तथा अयोध्यावासी अपना हर्ष व सुख प्रदर्शन करने के लिए श्रीराम के पास आ रहे हैं। स्वभावतः यह जिज्ञासा होती है कि जब अयोध्या के समस्त प्राणी अपना सुख अभिव्यक्त करने आ रहे है, तब क्या श्री वसिष्ठ को अपने पौरोहित्य कर्म का दुःख अभिव्यक्ति करने का वही समय रह गया था ? यह जिज्ञासा भी होती है कि वनवास के समय, राजा दशरथ के मरण के समय, किसी भी दुःखमय प्रसंग में इस भाव की अभिव्यक्त हो सकती थी, परन्तु इस भाव की अभिव्यक्ति तब प्रस्तुत की जाती है, जब रामायण का कथा-प्रसंग अपने अन्त पर है। राम राज्याभिषेक के पश्चात् अयोध्यावासियों में घुल-मिल रहे हैं, कथा का प्रवाह समाप्ति के पूर्व की मंथर गति में आ गया है, उस समय यह भाव व्यंजना की जाती है।

इसी प्रकार गरुड़-काकभुशुण्डि संवाद में भी जब काकभुशुण्डि इस शान्त अवस्था को प्राप्त हैं, 'तजउँ न तन निज इच्छा मरना, तन बिनु वेद भजन नहिं बरना' (उ० कां०, 3।96 क), तब इन भावों की अभिव्यक्ति होती है। वह शान्त अवस्था को प्राप्त हैं, उनका योनि-योनि का भटकना छूट गया है। वह अपने में परिपूर्णता को प्राप्त हैं, उस समय वह ये भाव अभिव्यक्त कर रहे हैं।

शिवजी भी गिरिजा से यह भावाभिव्यक्ति उस समय कर रहे हैं, जब मानस की कथा का अवसान हो रहा है। वह अभिव्यक्ति कथा-प्रसंग के प्रारम्भ में भी की जा सकती थी। अब जब कथा-रस पूर्ण हुआ ही चाहता है, कथा-रसास्वादन से उनका मन परितृप्त हो उठा है, उसी समय इस भाव व्यंजना की उपयुक्तता क्यों ?

इन सब जिज्ञासाओं के उत्तर में यही तर्कसंगत समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है कि कथा-अवसान के समय भावों की परिपक्वता हो गयी थी। ये भाव अपरिपक्व मन के लिए नहीं हैं; पूर्णतया परिपक्व मन ही इस कथा की गहनता को ग्रहण कर सकता है।

साधारणतया जनसाधारण कर्मकाण्ड में एक परितृप्ति का अनुभव करता है तथा उसी में रत वह अपने को भी पण्डित समझने लगता है। इस प्रचलित धारणा के खण्डन के लिए ही 'पउरोहित्य कर्म अति मंदा' कहकर पौरोहित्य या पुरोहिताई कर्म की तीव्र आलोचना की गई है। प्रचलित भावनाओं की दूसरी

दिशा में ले जाने के कारण ही मानस ने इतनी सतर्कता बरती है। कर्मकाण्ड में जो एक कृत्रिम परितृप्ति की भावना है, वह हट जाय; और इससे भी अधिक जो श्रेयस्कर है, उसका ज्ञान हो जाय, यही मानसकार का उदात्त लक्ष्य प्रतीत होता है। इसी कारण बड़ी सतर्कता के साथ, जब मानस-कथा का अवसान हो रहा है, उन भावपूर्ण क्षणों में, मानस के उत्तरकाण्ड के भी उत्तर में परिपक्व पाठक को यह भाव-व्यंजना मिलती है।

The Amir-ud-Daula Public Library
Date
Qaiserbagh, Lucknow.

भजन

ईश्वर-विषयक विचार को तैलधारावत् बनाये रखना, यदि योगी व ज्ञानियों के लिए निदिध्यासन व ध्यान है, तो भक्तों के लिए वह भजन है।

भजन करने में 'आवाहन' करने का भाव निहित होता है। भजन करना अर्थात् अपने हृदय में इष्ट का आवाहन करना। अतः प्रेम इसका एक आवश्यक अंग है। प्रेम से ही भजन की पूर्ति होती है। हृदय में इष्ट के आवाहन का आधार प्रेम है। प्रेम होने पर भक्त भजन से वह प्राप्त कर लेता है जो योगी ध्यान से प्राप्त करता है। मन वहीं टिकता है जहां प्रीति होती है। योगी मन को ध्यान में, अभ्यास द्वारा टिकाता है, भक्त का मन प्रीति की डोर से बंधा इष्ट के चरणों में पड़ा रहता है अतः भजन में नीरसता का स्थान नहीं है। भक्त के लिए इष्ट को प्राप्त करने का माध्यम भजन है। योगियों-ज्ञानियों के लिए जो ध्यान व विचार है, भक्तों के लिए वही भजन है।

मानस भक्ति-प्रधान ग्रन्थ है अतः भजन की अभिव्यक्ति में मानस उदार है। ज्ञान मार्ग के विचार का भाव भी मानस के भजन के भाव में निहित है। भक्ति ग्रन्थ का साम्य ज्ञान-ग्रन्थों से करते समय दोनों का रूप अपनी पृथक्ता खो देता है। ध्यान, विचार व भजन एक समान अपने-अपने अनुयामी को इष्ट का साक्षात्कार कराते हैं।

(1) एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं
नातः परं वेदितव्यं हि किंचित् ॥12॥

(श्वेता० उप०, अ० 1)

अब हृदय में स्थित ईश्वर ही जानने योग्य वास्तविक तत्त्व है; इससे बढ़कर जानने योग्य तत्त्व दूसरा नहीं।

(2) आत्मान्वेषण की प्रेरणा हेतु निम्नांकित वाक्यांश—
आत्मानमेवावेत। (बृ० उप० 1-4-10)

आत्मा ही को जाने।

आत्मानमेव लोकमुपासते ॥15॥ (बृ० उप०, अ० 1, ब्रा० 3)

आत्म-लोक की ही उपासना करें।

तदेवेति संहरेदोमिति ॥14॥ (बृ० उप० 3)

इस प्रकार अनुभव करें।

उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत (क० उप०, अ० 1, व० 3)

उठो ! जागो ! महान् पुरुषों के पास जाकर उस परम ब्रह्म परमेश्वर को जानो।

तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥1॥

(उप० 148, अ० 8, ख० 1)

उसको जानना चाहिए, उसी का अन्वेषण करना चाहिए।

(3) यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः। (बृ० उप०, अ० 3, ब्रा० 8-10)

हे गार्गी ! जो कोई इस लोक में इस अक्षर को न जानकर सहस्रों वर्ष पर्यन्त हवन व तप करता है, उसके वे सब कर्म अन्तवान् होते हैं। जो कोई भी इस अक्षर को विना जाने इस लोक से मर जाता है, वह 'कृपण' है। और हे गार्गी ! जो इस अक्षर को जानकर इस लोक से मरता है, वह ब्राह्मण है।

(4) ब्रह्मलोकपदान्वेषी रुद्राराधनतत्परः ॥1॥ (अमृत उप० 1)

ब्रह्मलोक के यथार्थ पद का अन्वेषण करते हुए उसे भगवान् रुद्र की आराधना में तत्पर रहना चाहिए

(5) तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥5॥

(श्वेता० उप०, अ० 6)

अपने अन्तःकरण में स्थित, सर्वरूप, जगत्-रूप में प्रकट, स्तुति करने योग्य, पुराणपुरुष परमदेव की उपासना करके, उसे प्राप्त करना चाहिए।

(6) पौरुषेण प्रयत्नेन लालयेच्चित्तबालकम् ॥7॥ (मुक्ति उप०, अ० 20)

प्रयत्न और पौरुष करके मन को बालकों के समान फुसलाकर भगवत्-प्रेम में लगाना चाहिए।

(7) यथावच्छास्त्रवाक्यार्थे मतिमाधाय निश्चलाम् ॥17॥

(अक्षि उप०, खं० 3)

मन को शान्त कर, बुद्धि को निश्चल कर, उसे विधिवत् शास्त्र-वाक्य के अर्थों में लगाओ।

(8) युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। सुवर्गेयाय शक्त्या ॥2॥

(श्वेता० उप०, अ० 2)

युक्ति से मन को 'देवस्य सवितुः सवे' की प्राप्ति में सशक्त रूप से लगा देना चाहिए।

(9) युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥4॥
(श्वेता० उप०, अ० 2)

बुद्धिमान लोग परब्रह्म परमात्मा में अपना मन एवं इन्द्रियाँ लगाते हैं, और अपनी सब प्रकार की बुद्धि वृत्ति को भी नियुक्त करते हैं; जिन्होंने अग्निहोत्र आदि समस्त शुभ कर्मों का विधान किया है, जो समस्त जगत् के विचारों को जानने वाले हैं, तथा जो एक एवं अद्वितीय है, उन सबसे महान्, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सबके उत्पादक परमदेव परमेश्वर की अवश्य ही भूरि-भूरि स्तुति करनी चाहिए।

(10) तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाऽपि हैनं सर्वाणि भूतानि संवांछन्ति ॥6॥ (केन० उप०, खं० 4)

वह परब्रह्म परमात्मा 'तद्वनम्' नाम से प्राणी मात्र का प्राणप्रिय होने के कारण प्रसिद्ध है; वह आनन्दघन परमात्मा प्राणी मात्र की अभिलाषा का विषय और सबका परम प्रिय है, इस भाव से उसकी उपासना करनी चाहिए। जो साधक इसको इस रूप में जान लेता है, वह सर्व प्राणी मात्र का प्रिय हो जाता है, और सब लोग उसको हृदय से चाहते हैं।

(11) अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय नैतँ सेतुमहो-
रात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतँ सर्वे पाप्मा-
नोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ॥1॥
(छां० उप०, अ० 8, खं० 4)

लोकों के असम्भेद को विशेष रूप से धारण करनेवाला सेतु आत्मा है। इस सेतु का रात-दिन, जरा, मृत्यु, शोक एवं सुकृत व दुष्कृत अतिक्रमण नहीं करते, क्योंकि ब्रह्मलोक पापशून्य है।

(12) ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥8॥
(श्वेता० उप०, अ० 2)

भावार्थ—ओंकार नामक नौका से विद्वान् सम्पूर्ण भयंकर प्रवाहों को पार कर जाता है।

साम्य

आत्मान्वेषण की प्रेरणा हेतु जिस प्रकार स्थान-स्थान पर उपनिषद्-वाक्य प्राप्त हैं, उसी प्रकार मानस में भी भजन की ओर प्रेरित करने वाली चौपाइयाँ स्थान-स्थान पर बिखरी पड़ी हैं।

उपनिषद् वाक्यों के अंश इस प्रकार हैं (उद्धृत संख्या 2)

आत्मेत्येवोपासीत ।

आत्मानमेवावेत ।

आत्मानमेव लोकमुपासीत ।

तदेवेति संहरेदोमिति ।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।

मानस में जो चौपाइयाँ प्राप्त हैं, उनमें भी भिन्न-भिन्न रूप से भजन की प्रेरणा दी गई है ।

दृष्टांत द्वारा

वार वार नारद मुनि आवहिं ।
चरित पुनीत राम के गावहिं ॥ —उ० कां०, 2-42

रामभक्ति-विमुखों का परिणाम दर्शाकर—

अब तव सिर भुज जंबुक खाहीं ।
राम विमुख यह अनुचित नाहीं ॥6॥ —लं० कां०, 104

राम-विमुख प्राणियों की मूर्खता दर्शाकर—

(क) सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर ।
होहिं विषय रत मंद मंद तर ॥6॥
—उ० कां०, 121

(ख) रामचंद्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्बान ।
ग्यानवंत अपि सो नर, पसु बिन पूँछ विषान ॥
—उ० कां०, 78 (क)

परामर्श द्वारा—

(क) परिहरि बयरु देहु बैदेही ।
भजहु कृपानिधि परम सनेही ॥—लं० कां०, 49-1

(ख) दुइ सुत मरे दहेउ पुर, अजहुँ पूरि पिय देहु ।
कृपासिंधु रघुनाथ भजि, नाथ बिमल जस लेहु ॥
—लं० कां०, 37

प्रोत्साहन द्वारा—

पुत्रवती जुबती जग सोई ।
रघुपति भगतु जासु सुत होई ॥ —अयो० कां०, 75-1

वाक्यों में जो आत्मान्वेषण है, मानस भक्ति-ग्रन्थ में वही भजन है। वाक्य व चौपाइयाँ दोनों ही समान रूप से परमेश्वर में चित्त लगाने की प्रेरणा दे रहे हैं।

ooo

3. यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिल्लोके जुहोति यजते तपस्यप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा-स्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मण: ॥10॥ — बृ० उप०, अ० 3, ब्रा० 8

इस वाक्य का अर्थ पहले दिया जा चुका है। यहाँ केवल सारांश प्रस्तुत है। ॐ अक्षर का वास्तविक रूप पहचाने बिना सहस्रों वर्ष तक किये गए जप-तप भी व्यर्थ हैं; इसको न जानने वाला 'कृपण' तथा जानने वाला 'ब्राह्मण' है।

निम्नांकित चौपाइयाँ उपरोक्त वाक्य से साम्य रखती हैं—

1. सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मंडित पंडित दाता॥
धर्मपरायन सोइ कुलत्राता। राम चरन जाकर मन राता॥
नीतिनिपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धान्त नीक तेहिं जाना॥
सोइ कवि कोविद सोइ रनधीरा। जो छल छाँड़ि भजइ रघुबीरा॥1/4॥
—उ० कां०, 126

2. चतुर सिरोमनि ते जग माँही। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥5॥
—उ० कां०, 120

3. सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥4॥
— कि० कां०, 23

4. श्री रघुबीर प्रताप ते, सिंधु तरे पाषान।
ते मतिमंद जे राम तजि, भजहिं जाइ प्रभु आन॥3॥ —लं० कां०

5. अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी॥3॥
—लं० कां०, 45

6. असु प्रभु दीनबन्धु हरि, कारन रहित दयाल।
तुलसीदास सठ तेहि भजु, छाँड़ि कपट जंजाल॥211॥ —बा० कां०

7. पाई न केहिं गति पतित पावन राम भज सुनि सठ मना,
गनिका, अजामिल, ब्याध, गीध, गजादि खल तारे घना।
आभीर, जमन, किरात, खस, स्वपचादि अति अघ रूप जे,
कहि नाम बारक तेपि पावन होंहि राम नमामि ते॥1॥
—बा० कां०, 130

8. जाति हीन अघ जन्म महि, मुक्ति कीन्हि असि नारि।
महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहि बिसारि ॥ --अर० कां० 36

उपरोक्त वाक्य के निहित भाव को समझने के लिए वाक्य में प्रयुक्त दो शब्दों की व्याख्या आवश्यक है। 'कृपण तथा ब्राह्मण' शब्दों पर प्रकाश डालने के पश्चात् ही चौपाइयों का संदेश पूर्ण रूप से स्पष्ट होता है। 'कृपण' शब्द का प्रचलित अर्थ उस शब्द का केवल एक आंशिक अर्थ है। ब्राह्मण, ब्रह्मचर्य्य, कवि, व्यभिचार, पुरुष आदि शब्दों के समान कृपण शब्द भी, काल-गति से अपना व्यापक अर्थ छोड़ कर एक सीमित अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। इस शब्द का व्यापक प्रचलित अर्थ यह है : जो धन-व्यय में कृपणता करे वह कृपण; इस शब्द का व्यापक अर्थ है : जो वुद्धि-विकास में कृपणता करे, वह कृपण; जो वुद्धि को विकसित होने से रोके, वह कृपण। उपर्युक्त भाव प्रसंग में 'कृपण' शब्द से यह अर्थ निकला कि जो प्राणी 'ॐ' अक्षर का ज्ञान नहीं करता, वह संकुचित वुद्धि का है। इससे पूर्ण विपरीत भाव का शब्द है 'ब्राह्मण' (जो ब्रह्म में रमा हुआ है; वह जिसकी वुद्धि पूर्णतः विकसित है। जिसकी वुद्धि ब्रह्म जैसे सूक्ष्म विषय को पकड़ने में परिपक्व है)। इस प्रकार उपरोक्त उपनिषद् वाक्य में प्रयुक्त 'स ब्राह्मण' का अर्थ हुआ, ब्रह्म में रमा पूर्ण विकसित वुद्धि का प्राणी। इस प्रकार उपनिषद्-वाक्य का सारांश हुआ, 'हे गार्गी! जिसने इस 'ॐ' अक्षर का ज्ञान प्राप्त नहीं किया वह कृपण है, तथा जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया वह ब्राह्मण है। 'कृपण' तथा 'ब्राह्मण' शब्दों का इस प्रकार एक साथ प्रयुक्त होना उपर्युक्त अर्थों की पुष्टि करता है।

साम्य

उपनिषद् वाक्य में एक साथ प्राप्त 'कृपण' तथा 'ब्राह्मण' शब्दों को चौपाइयों ने पृथक्-पृथक् कर दिया है। ऊपर उद्धृत चौपाइयों में जो विशेषण गिनाये गए हैं, वे ब्राह्मणोचित (विकसित वुद्धि वालों के) गुण हैं; और अन्तिम तीन चौपाइयों में जो विशेषताएँ गिनाई गई हैं, वे कृपण (संकुचित बुद्धिवालों) के गुण है।

ऊपर लिखा जा चुका है कि ब्राह्मण शब्द का वास्तविक अर्थ है ब्रह्म में रमी वुद्धि वाला प्राणी। चौपाइयों में जो गुण वर्णित हैं, वे सब ब्राह्मणों के गुणों के अन्तर्गत आते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उपनिषद् में वर्णित 'ब्राह्मण' शब्द को जन-सुलभ करने के लिए चौपाइयों में ब्राह्मणत्व के गुणों का स्पष्टीकरण कर दिया गया हो। उद्देश्य है विषय को पाठक के लिए हृदयग्राही बनाना, अतः जैसा पाठक, वैसी ही विषय की रूप-रेखा। बुद्धिप्रधान अध्यात्म-साहित्य के उपनिषद् भावों को, साधारण वर्ग के लिए विषय के निहित अर्थ स्पष्ट करने ही होंगे।

चौपाई 1—सर्बग्य (सर्वज्ञ), गुनी (गुणी), ग्याता (ज्ञाता), महि मंडित पंडित (पृथ्वी का भूषण), दाता, धर्मपरायण, नीतिनिपुन (नीति-निपुण),

परम सयाना (बुद्धिमान्), श्रुति सिद्धान्त ग्याता (वेदों के सिद्धांत भली प्रकार जानने वाला), कवि कोविद (विद्वान्)।

चौपाई 2—चतुर शिरोमणि

चौपाई 3—गुनग्य (गुणज्ञ), बड़भागी

ये सभी उपर्युक्त शब्द विकसित बुद्धि वालों के गुण हैं—मानो ये शब्द ब्राह्मण शब्द की परिभाषा कर रहे हों।

चौपाई 4—मतिमंद

चौपाई 5—मतिमंद

चौपाई 6—मूढ़

जिस भाव से 'कृपण' शब्द उपनिषद् में प्रयुक्त हुआ है, उस भाव को लेकर ये उपर्युक्त शब्द 'कृपण' के पर्यायवाची होकर चौपाइयों में आए हैं।

इस प्रकार चौपाइयों ने उपनिषद् के भाव मात्र ग्रहण कर लिये हैं, शब्दों की जटिलता का ध्यान करके उन्हें उपनिषदों में ही छोड़ दिया है।

उपनिषदों का 'ओंकार' अक्षर का ज्ञान प्राप्त करने का भाव व्यक्त करने वाला शब्द 'एतद्अक्षरं', भक्ति-प्रधान मानस में 'राम-भजन' के रूप में अपनाया गया है। उसका इस रूप में अपनाया जाना उचित ही है। मानस की चौपाइयाँ पाठकों को 'राम-भक्ति' की प्रेरणा उसी रूप में दे रही हैं, जैसे उपनिषद्-वाक्य ओंकार अक्षर-ज्ञान की। उपनिषद्-काल का ओंकार अक्षर-ज्ञान ही, भक्ति-काल में रघुवीर-चरण-रति है।

दोनों (वाक्य व चौपाई) एक समान ही हैं।

- अक्षर-ज्ञान व भजन करने वालों में मानसिक परिपक्वता दर्शा रहे हैं।
- अक्षर-ज्ञान व भजन न करने वालों में बुद्धि की मंदता।
- इस प्रकार उपनिषद् एवं मानस, दोनों, एक ही रीति से भगवत्-मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा दे रहे हैं। ०००

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥5॥

—श्वेता० उप०, अ० 6

उपरोक्त काव्य का साम्य निम्नांकित चौपाई से स्थापित होता है—

1. जगदातमा प्रानपति रामा। तासु बिमुख किमि लह बिश्रामा॥
उमा राम की भृकुटि बिलासा। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा॥
तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूत पन कहु किमि टरई॥

—लं० कां०, 4-35

वाक्य का सारांश है कि वह आदि कारण, तीनों काल से अतीत, कलारहित, जीव के साथ प्रकृति का संयोग कराने में कारणों का कारण है। आपने अन्तःकरण में अवस्थित, जगत् में प्रकट, स्तुति करने योग्य, पुराणपुरुष परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए।

चौपाई का सारांश है—श्रीराम जी जगत् भर की आत्मा और प्राणियों के प्राण हैं; उनसे विमुख रहने वाला कैसे शान्ति पा सकता है? उमा! जिनके भ्रू विलास से विश्व का सृजन और संहार होता है, जो वज्र को तृण और तृण को वज्र कर देते हैं, उनके दूत का प्रण किस प्रकार टल सकता है!

साम्य

वाक्य	चौपाइयाँ
विश्वरूपं भवभूतम्— (सर्वरूप से जगत्-रूप में प्रकट)	'जगदातमा प्रानपति रामा'—(जगत की आत्मा व सबके प्राणों के पति) सर्व रूप जगत के प्रकट होने का कारण है प्राण; प्राण व आत्मा न होने से जगत निष्प्राण होता है। चौपाई का कथन है कि श्रीराम जगत में आत्मरूप से व्याप्त हैं; वाक्य का कथन है कि आदिकारण ही विश्व रूप है। दोनों का कथन इस बात का समर्थन करता है कि जगत का आधार दूसरा ही तत्व है जो मन की भाषा में श्रीराम व ज्ञानी की भाषा में आदि कारण कहकर सम्बोधित किया जाता है।
1. परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः— (वह आदि कारण, तीनों कालों से अतीत, कला रहित, प्रकृति जीवन संयोग में कारण का भी कारण)	आदि कारण— 'उमा राम की भृकुटि बिलासा, होइ बिस्व पुनि पावइ नासा'। तृन से कुलिस कुलिस तृन करई···जिसके भृकुटि-विलास से जगत बने व विगड़े, वह अवश्य ही जगत का आदिकारण है, क्योंकि आदिकारण में ही सृजन और विसर्जन की सामर्थ्य हो सकती है। अतः इस प्रकार चौपाइयाँ यहाँ वाक्य के 'आदिकारण' का भाव स्थापित करती हैं।

वाक्य	चौपाइयाँ
अतीत—	वही सत्ता तीनों लोकों का अंश होकर उसका सृजन और विसर्जन नहीं कर सकती; इस क्रिया को करने के लिए उसको इन लोकों से पृथक् होना होगा। इस प्रकार चौपाइयाँ वाक्य के तीनों कालों से अतीत होने का भाव स्थापित करती हैं।
कला-रहित—	'कला' माया का अंश है—जब वह अपने भृकुटि विलास से माया का सृजन व विसर्जन कर रहा है तब वह मायातीत है अतः कलारहित है। इस प्रकार चौपाइयाँ वाक्य के 'कला रहित' होने का भाव स्थापित कर रही हैं।
2. संयोग निमित्त हेतु—	तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई; वज्र को तृण और तृण को वज्र करने की सामर्थ्य की क्षमता परम ब्रह्म को 'संयोग निमित्त हेतु' होने के कारण ही मिली है। वाक्य व चौपाई का भाव साम्य प्रत्यक्ष है।
3. स्वचित्तस्यम्— (अपने अन्तःकरण में स्थित)	उपर्युक्त चौपाई अंगद के मुख से कहला-कर मानस ने शब्दों के स्थान पर दृष्टांत रूप में अंगद को प्रस्तुत किया है, जो श्री राम के शरणागत हैं। शरणागत के हृदय में उसके उपास्य देव सदैव निवास करते हैं। इस प्रकार 'स्वचित्तस्यम्' का भाव शब्दों में न आकर दृष्टांत रूप में प्राप्त है। अंगद इस समय दूत होकर गया है—'दूत' दास से भी अधिक स्वामी के आधीन होता है।

ooo

6. पौरुषेण प्रयत्नेन लालयेच्चित्तबालकम् ॥7॥

—मुक्ति उप०, अ० 2

मनुष्य को चाहिए कि पौरुष से अशुभ की ओर जाते हुए मन को बालकों के समान बहलाकर और समझाकर शुभ की ओर प्रवृत्त करे।

7. यथावच्छास्त्रवाक्यार्थे मतिमाधाय निश्चलाम् ॥16॥

—ॱक्षि उप०, खण्ड 2

बुद्धि को निश्चल कर, उसको विधिवत् शास्त्र-वाक्यों में लगाओ।

9. युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥4॥

—श्वेता० उप०, अ० 2

युक्ति से मन को 'देवस्य सवितुः सवे' की प्राप्ति में सशक्त रूप से लगा देना चाहिए।

निम्नांकित चौपाइयों में वाक्यों का भाव साम्य है कि मन को युक्ति से सशक्त रूप से 'राम-चरन-रति' में लगाना चाहिए।

1. सुर नर मुनि कोउ नाहिं, जेह न मोह माया प्रबल।
अस विचारि मन माँहि, भजिअ महामायापतिहि ॥140॥

—बा० कां०

सुर-नर-मुनि में ऐसा कोई नहीं है जिस पर प्रबल माया न व्यापी हो, यह सोचकर मायापति को भजो।

2. समुझि मोरि करतूति कुलु, प्रभु महिमा जियँ जोइ।
जो न भजइ रघुबीर पद, जग बिधि बंचित सोइ ॥195॥

—अयो० कां०

मेरी करतूत और कुल को समझकर, और श्री रामचन्द्रजी की महिमा को मन में देखकर (वे ब्राह्मणों के स्वामी और मैं नीच) जो रघुवीर जी के चरणों को नहीं भजता, वह जगत में विधाता द्वारा ठगा गया है।

3. बचन कर्म मन मोरि गति, भजनु करहिं निष्काम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ, करउँ सदा बिश्राम ॥16॥

—अर० कां०, 3

जिनको कर्म, वचन और मन से मेरी ही गति है, और जो निष्काम भाव से मेरा भजन करते हैं, उनके हृदय-कमल में मैं सदा विश्राम करता हूँ।

4. ताहि कि सम्पति सगुन सुभ, सपनेहुँ मन बिश्राम।
भूत द्रोह रत मोहबस, राम बिमुख रति काम ॥78॥

—लं० काण्ड

जो जीवों के द्रोह में रत हैं; मोह के वश हो रहे हैं, राम से विमुख हैं, और कामासक्त हैं, उनको क्या कभी स्वप्न में भी सम्पत्ति, शुभ-शकुन और चित्त की शान्ति हो सकती है?

5. यह कलि काल मलायतन, मन कर देखु विचार।
श्री रघुनाथ नाम तजि, नाहिन आन अधार ॥121 (ख)॥
—लंका काण्ड

हे मन! विचार करके देख! यह कलि-काल पापों का घर है। इसमें श्री रघुनाथ जी के नाम को छोड़कर पापों से बचने का कोई दूसरा आधार नहीं है। (यह निषादराज के प्रेममय पुनर्मिलन के पश्चात् का दोहा है)।

6. हरि माया कृत दोष गुन, बिनु हरि भजन न जाहिं।
भजिअ राम तजि काम सब, अस बिचारि मन माँहि ॥104 (क)॥
—उत्तर काण्ड

श्री हरि की माया द्वारा रचे गए दोष व गुण श्री हरि के भजन के बिना नहीं जाते, ऐसा मन में विचार कर, सब कामनाओं को छोड़कर, श्रीरामजी का भजन करना चाहिए।

7. सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी ॥3॥
—अर० काण्ड, 33

उमा! वे लोग अभागे हैं, जो हरि-भजन को त्याग कर विषयों के प्रति अनुराग करते हैं।

8. नर बिबिध कर्म अधर्म बहुमत सोकप्रद सब त्यागहू।
बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू ॥36॥
—अर० काण्ड

अनेक प्रकार के अधर्म व बहुत से मत, ये सब शोकप्रद हैं; हे मनुष्यो! इनका त्याग कर दो और विश्वास करके श्रीराम के चरणों में प्रेम करो।

9. तजि माया सेइअ परलोका। मिटहिं सकल भव संभव सोका॥
देह धरे कर यह फलु भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई ॥3॥
—कि० काण्ड, 23

माया को छोड़कर परलोक का सेवन करना चाहिए, जिससे भव से उत्पन्न सारे शोक मिट जाएँ। हे भाई! देह धारण करने का यही फल है, कि सब कामों को छोड़कर श्रीराम का भजन किया जाय।

10. सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी ॥4॥
—कि० काण्ड, 22

वही गुणवान व भाग्यवान है जो रघुनाथजी के चरणों का प्रेमी है।

11. अजहूँ तात त्याग अभिमाना । भजहु राम होइहि कल्याना ।।—।।1।।

—लं० कां०, 63

हे तात, आज भी अभिमान को त्याग कर श्रीराम का भजन करो, तुम्हारा कल्याण होगा ।

12. राम भजन विनु मिटहि कि कामा । थल विहीन तरु कवहुँ कि जामा ।।

—उ० काण्ड, 1-90

क्या राम-भजन के विना कामनाएँ मिट सकती हैं, विना धरती के भी क्या कहीं पेड़ उग सकता है ?

13. भाववस्य भगवान, सुख निधान करुना भवन ।
तजि ममता मद मान, भजिअ सदा सीता रवन ।।92।। (ख)

—उ० काण्ड

भगवान भाव के वश में हैं, वह सुख के निधान व करुणा के धाम हैं । ममता, मद और मान को छोड़कर सदा उन सीतापति को भजो ।

14. तासु भजनु कीजिअ तहँ भर्त्ता । जो कर्त्ता पालक संहर्त्ता ।।
सोइ रघुवीर प्रनत अनुरागी । भजहु नाथ ममता सव त्यागी ।।3 । 7।।

·—लंका काण्ड

जो सृष्टि को रचने वाले, पालने वाले और संहार करने वाले हैं, आपको उन श्रीराम का भजन करना चाहिए ।

15. काहे न विपति जाल नर परहीं ।
जानत हूँ अस प्रभु परिहरहीं ।।2 ।।

—कि० काण्ड, 12

ऐसे प्रभु का स्मरण न करने से नर विपत्ति जाल में कैसे नहीं पड़ेंगे ।

16. निज अनुभव अव कहउँ खगेसा । विनु हरिभजन न जाहिं कलेसा ।।3।।

—उ० काण्ड, 89

अपने अनुभव से कहता हूँ कि हे खगेस बिना हरिभजन के क्लेश नहीं मिटते ।

17. कहेउँ नाथ हरिचरित अनूपा । व्यास समास स्वमति अनुरूपा ।।
श्रुति सिद्धान्त इहइ उरगारी । राम भजिअ सब काज बिसारी ।।3।।

—उ० काण्ड, 123

हे नाथ ! हरि का अनूप कथन कहीं विस्तार से तो कहीं संक्षेप से कहा । हे गरुड़ जी ! श्रुतियों का यही सिद्धान्त है, कि सब काम भुलाकर श्रीराम जी का भजन करना चाहिए ।

०००

साम्य

साम्य के लिए पूर्व उद्‌धृत तीनों वाक्य क्रम से प्रस्तुत किये जाते हैं प्रथम वाक्य का संदेश है कि मन के चंचल स्वभाव को पुरुपार्थ द्वारा दमन करना चाहिए।

उपनिषद	मानस
वाक्य (1) पौरुपेण प्रयत्नेन—पौरुप के साथ मन को बहलाकर शुभ की ओर लगावे। इसमें पुरुपार्थ का भाव स्पष्ट है।	मन को किसी प्रकार बहला और समझा कर भगवत्-उन्मुखी करना चाहिए, इस भाव को सर्वग्राही करने की भावना से मानस ने निम्नांकित चौपाइयों में उस प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है।

विपत्ति का भय दिखलाकर—

1\. (क) यह कलि काल मलायतन,
मन करि देखु बिचार।
श्रीरघुनाथ नाम तजि,
नाहिन आन अधार॥

मन को शरीर का कलिकाल व मलायतन के दोष दिखाकर भजन को प्रेरित करना।

2\. काहे न बिपत्ति जाल नर परहीं।
जानत हूँ अस प्रभु परिहरहीं॥

इस प्रकार विपत्ति का भय दिखाकर मन को भजन की ओर प्रेरित करना।

निज अनुभव तथा दृष्टान्तों की प्रेरणा द्वारा—

1\. (ख) निज अनुभव अब कहउँ खगेसा।
बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा॥

2\. कहउँ नाथ हरि चरित अनूपा। ब्यास समास स्वमति अनुरूपा॥
श्रुति सिद्धान्त इहइ उरगारी। राम भजइ सब काज बिसारी॥

3\. (क) हरि माया कृत दोष गुन, बिनु हरिभजन नजाहिं॥
भजिअ राम तजि काम सब, अस बिचारि मन माहिं॥

(ख) नर बिबिध कर्म अधर्म बहुमत सोकप्रद सब त्यागहू।
बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू॥

(ग) समुझि मोरि करतूति कुल, प्रभु महिमा जियँ जोइ।
जो न भजइ रघुबीर पद, जग बिधि बंचित सोइ॥

(च) सुर नर मुनि कोउ नाहिं, जेहि न मोह माया प्रबल ।
अस बिचारि मन माँहि, भजिअ महामायापतिहि ।।

उपर्युक्त चौपाइयाँ जिन प्रसंगों में से प्राप्त हुई हैं वे उल्लेखनीय हैं। (क) अयोध्या लौटते समय निषादराज का आलिंगन कर उन्हें विदा देते समय की है; चौपाई (घ) निषादराज के मुख से ही कही गयी है। चौपाई (ख) काकभुशुंडि-गरुड़ संवाद की है; चौपाई (ग) शबरी के शरीर-त्याग के पश्चात् की है। इस प्रकार ये चौपाइयाँ ऐसे पात्रों से सम्बन्धित होकर आई हैं जो मन्दबुद्धि हैं या मन्द-बुद्धि के प्रमाण रह चुके हैं। शबरी व निषादराज शूद्र; तथा काकभुशुंडि पक्षी, ये तीनों तामसी बुद्धि के प्रतीक हैं। तामसी बुद्धि द्वारा शासित मन को भगवत्-उन्मुखी बनाने के लिए समझाना व बहलाना पड़ता है। अतः यहाँ जिन पात्रों से सम्बन्धित होकर उपर्युक्त चौपाइयाँ आयी हैं वे तामसी बुद्धि के हैं। वे तामसी बुद्धि के तीनों प्राणी अपने मन को पुरुषार्थ द्वारा राम-भजन में लगाने के कारण परम राम-भक्तों में अपनी गणना कराने के अधिकारी बने हैं। इन पात्रों के मुख से उपर्युक्त चौपाइयाँ कहलाकर मानस ने पुरुषार्थ का वाक्य-निहित भाव सुन्दरता के साथ स्पष्ट करके जनसुलभ बनाया है।

वाक्य (2) मतिमाधाय निश्चलाम् मन को अपने चंचल स्वभाव के प्रतिकूल शांत व निश्चल बनाने में जो पुरुषार्थ है, उसका भाव इस वाक्य में निहित है।

(क) बचन कर्म मन मोरि गति,
भजनु करहिं निःकाम ।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ
करउँ सदा बिस्राम ।।

यहाँ श्रीराम स्वयम् अपने श्री मुख से कह रहे है कि जो अपने मन को विकारों से रहित कर, शान्त बना लेता है, उसके हृदय-कमल में मैं बसता हूँ। अर्थात् मेरी प्राप्ति के लिए मन के विकारों को दूर करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

(ख) ताहि कि संपति सगुन सुभ, सपनेहुँ मन बिश्राम ।
भूत द्रोह रत मोहबस, राम बिमुख रति काम ।।

जिसके हृदय में समस्त माया, द्रोह, मोह, काम व्याप्त हैं क्या उसके हृदय में शांति का निवास हो सकता है ? अतः उनको दूर करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

(ग) अजहूँ तात त्यागि अभिमाना,
भजहु राम होहइ कल्याना ।।

भावार्थ है कि हृदय से अभिमान को निकालने का पुरुषार्थ करना चाहिए।[1]

(घ) राम भजन बिनु मिटहि कि कामा, ।
थल विहीन तरु कबहूँ कि जामा ।।
भावार्थ राम-भजन के द्वारा कामनाओं का नाश करना चाहिए।

उपर्युक्त चौपाइयों में (क) चौपाई लक्ष्मण को सम्बोधित करके कही गई है; (ख) तथा (ग) चौपाइयाँ रावण को सम्बोधित करके कही गई हैं; (घ) चौपाई काकभुशुंडि-गरुड़ संवाद के अन्तर्गत आती है। ये तीनों पात्र लक्ष्मण[2], रावण[3] तथा काकभुशुंडि[4] अभिमानग्रस्त पात्र रहे हैं; इनमें अहम् का अभिमान रहा है। काकभुशुंडि में सत्व गुण का, लक्ष्मण में रजस् का, तथा रावण में तमस् का अभिमान रहा है। रावण अपने अभिमान का फल पा चुका है; काकभुशुंडि अनेक जन्मों के द्वारा अपने अभिमान का प्रायश्चित्त कर रहे हैं; लक्ष्मण श्रीराम-चरणों में अनुराग होने के कारण अभिमान के दुष्परिणाम से बच गये हैं। काकभुशुंडि उसका उदाहरण हैं जिसने अपने मानसिक विकारों को दूर करके मन को निर्मल बना लिया है, फलस्वरूप राम-भक्ति उनके मन में बसी हुई है। इसके विपरीत रावण उस व्यक्ति का उदाहरण है जो मन के विकारों से जकड़ा रहा और अपने व अपने वंश के नाश का कारण बना। इस प्रकार ये चौपाइयाँ केवल वाक्य-साम्य ही नहीं रखतीं, वरन् पात्र के उदाहरण द्वारा उपनिषद् भावों को अधिक ग्राह्य एवं उपादेय बना देती हैं।

वाक्य संख्या (3)

युञ्जते मन विप्रा···
विद्वान लोग मन को जोड़ते हैं।
इन्नही परिष्टुति ···
निश्चय ही महती स्तुति करनी चाहिए। विद्वानों का व्यवहार अनुकरणीय माना जाता है। अतः साधारण प्राणी उनका अनुकरण करते हैं। वाक्य का संदेश है कि विद्वानों के समान अपने मन को

वाक्य का भाव है कि विप्र (विद्वान) लोग अपने मन को भगवान् के साथ (युञ्जते) जोड़ते हैं। यह भाव चौपाइयाँ एक भिन्न रीति से प्रस्तुत करती है।

(क) सुनहु उमा ते लोग अभागी।
हरि तजि होइ विषय अनुरागी ।।
इस चौपाई का शाब्दिक अर्थ भले ही यह निकलता है कि उमा ! वे लोग अभागे हैं जो हरि को तजकर विषयों से अनुराग

पुरुषार्थ द्वारा महती स्तुति में :भाना चाहिए।

करते हैं, परन्तु निहित अर्थ है कि वे प्राणी बुद्धिमान हैं, जो भगवान के चरणों में अनराग रखते हैं। यहाँ दो शब्द विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : एक है 'अभागा' दूसरा है 'अनुराग'। 'अभागे' प्राणी ही मूर्ख कर्म करते हैं तथा (निरन्तर-राग) निरन्तर-विषय प्रेमी होते हैं। समझदारी व विद्वत्ता 'विप्रों' का गुण है। अतः चौपाई में वाक्य वर्णित 'विप्र' शब्द का भाव सीधा न आकर उन कर्मों (विषय-अनुराग) पर प्रहार करता हुआ आया है, जिसके कारण वे विप्र की गणना से वंचित थे। वह कौन सा कारण है, जिसके कारण एक प्राणी विप्र की कोटि में आता है, और दूसरा उससे वंचित रह जाता है, इसका आभास भी जन साधारण को मिल जाता है। पुरुषार्थ द्वारा 'विप्र' गुण प्राप्त करना चौपाई का उद्देश्य है। इन चौपाइयों का प्रसंग उल्लेखनीय है। ये चौपाइयाँ शिव जी द्वारा, गिरिजा के प्रति उस समय कही गयी हैं जब जटायु श्रीराम के कर कमलों द्वारा सुश्रूषा प्राप्त कर अपनी देह त्याग करते हैं। प्रसंग चर्चा का विषय अन्त में पुनः उठाया जायगा।

(ख) तजि माया सेइअ परलोका।
मिटहिं सकल भव संभव सोका।।
देह धरे कर यह फलु भाई।
भजिअ राम सब काम बिहाई।।

—कि० कां० 3।22

चौपाई का भावार्थ है कि माया का त्याग करके परलोक बनाना चाहिए जिससे भव के शोक दूर हों। 'भजिअ राम सब काम बिहाई' में वाक्य के 'युञ्जते' शब्द का भाव है, कि पुरुषार्थ द्वारा भगवान से

अपना मन जोड़ना चाहिए, तथा इसी में वाक्य के 'इन्महो परिष्टुति' (निरन्तर भगवान को भजने) का भाव भी व्यक्त हैं। इन चौपाइयों का प्रसंग भी उल्लेखनीय है—सीता की खोज में निकले वानर समुदाय को प्रोत्साहित करते हुए सुग्रीव इन चौपाइयों को कह रहे हैं।

(ग) भाववस्य भगवान, सुखनिधान करुनाभवन।
तजि ममता मद मान, भजिअ सदा सीता रवन
—92 (ख)

भगवान भाव के वस में हैं, करुणानिधान हैं, ममता को त्यागकर उनका भजन कर। चौपाई का 'भजिअ' शब्द वाक्य के 'युञ्जते' शब्द का स्मरण कराता है। 'युञ्जते' शब्द में जो पुरुषार्थ का भाव निहित है वही 'भजन करने' में भी व्याप्त है। 'भजिअ सदा सीता रवन' में 'इन्महो परिष्टुति' सदा स्तुति करने का भाव भी निहित है। ये चौपाइयां गरुड-काकभुशुंडि संवाद के प्रसंग में आई हैं।

उपर्युक्त चौपाइयां अपने प्रसंगों के कारण अधिक महत्वपूर्ण हो जाती हैं। वे सभी ऐसे भक्तों से सम्बन्धित होकर आई हैं, जो रामभक्ति के सम्मुख अपने प्राणों को तुच्छ समझते हैं। जटायु[5] सीता-हरण के पश्चात् श्रीराम की सेवा में अपने प्राण न्योछावर कर चुका है; रामदर्शन ही शबरी[6] की एकमात्र आकांक्षा थी, पंपासरोवर का मार्ग बताकर उसने योगाग्नि से अपना शरीर जला लिया हैं; सुग्रीव[7] प्राणों को हथेली पर रखकर वानर समुदाय के साथ सीता की खोज को निकले हैं, तथा अन्तिम चौपाई काकभुशुंडि[8] से सम्बन्धित होकर आयी है जो राम पद प्रीति के कारण अनायास ही अनेक शरीर धारण करते और तजते हैं।

उपनिषद् वाक्य ने 'विप्र'[9] शब्द का प्रयोग किया है। भक्ति ग्रन्थ मानस में 'भक्त' का स्थान वह है जो वाक्यों में विप्र का है। इन दृष्टान्तों में आनेवाले भक्त कोई साधारण कोटि के भक्त नहीं हैं। ये ऐसे भक्त हैं, जिन्होंने अपना जीवन श्री राम पद-प्रीति के लिए न्योछावर कर दिया हैं। ये सभी पात्र जटायु, शबरी, सुग्रीव, काकभुशुंडि शूद्रों की कोटि में आते हैं। जन्म से न सही, परन्तु कर्म से (अपना जीवन श्री इष्टदेव के चरणों पर न्योछावर करने के कारण) इन पात्रों ने 'परम भक्तों' का स्थान पाया है। देखा जाय तो ये परम भक्त वाक्य-वर्णित विप्र से उच्चतर स्थान के अधिकारी हैं।

इस प्रकार मानस ने उपनिषद् में प्रयुक्त हुए शब्द 'विप्र' को न लेते हुए, उसके भाव चौपाई में समवेत कर लिए हैं; परम भक्तों को दृष्टान्त रूप रखकर जन साधारण के मन को उदाहरणों द्वारा राम-प्रीति के उत्कर्ष का संदेश दिया है।

पुरुषार्थ द्वारा महती स्तुति में ..ाना चाहिए।

करते हैं, परन्तु निहित अर्थ है कि वे प्राणी बुद्धिमान हैं, जो भगवान के चरणों में अनराग रखते हैं। यहाँ दो शब्द विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : एक है 'अभागा' दूसरा है 'अनुराग'। 'अभागे' प्राणी ही मूर्ख कर्म करते हैं तथा (निरन्तर-राग) निरन्तर-विषय प्रेमी होते हैं। समझदारी व विद्वत्ता 'विप्रों' का गुण है। अतः चौपाई में वाक्य वर्णित 'विप्र' शब्द का भाव सीधा न आकर उन कर्मों (विषय-अनुराग) पर प्रहार करता हुआ आया है, जिसके कारण वे विप्र की गणना से वंचित थे। वह कौन सा कारण है, जिसके कारण एक प्राणी विप्र की कोटि में आता है, और दूसरा उससे वंचित रह जाता है, इसका आभास भी जन साधारण को मिल जाता है। पुरुषार्थ द्वारा 'विप्र' गुण प्राप्त करना चौपाई का उद्देश्य है। इन चौपाइयों का प्रसंग उल्लेखनीय है। ये चौपाइयाँ शिव जी द्वारा, गिरिजा के प्रति उस समय कही गयीं हैं जब जटायु श्रीराम के कर कमलों द्वारा सुश्रूषा प्राप्त कर अपनी देह त्याग करते हैं। प्रसंग चर्चा का विषय अन्त में पुनः उठाया जायगा।

(ख) तजि माया सेइअ परलोका।
मिटहिं सकल भव संभव सोका॥
देह धरे कर यह फलु भाई।
भजिअ राम सब काम बिहाई॥

—कि० कां० 3।22

चौपाई का भावार्थ है कि माया का त्याग करके परलोक बनाना चाहिए जिससे भव के शोक दूर हों। 'भजिअ राम सब काम बिहाई' में वाक्य के 'युञ्जते' शब्द का भाव है, कि पुरुषार्थ द्वारा भगवान से

अपना मन जोड़ना चाहिए, तथा इसी में वाक्य के 'इन्मही परिष्टुति' (निरन्तर भगवान को भजने) का भाव भी व्यक्त हैं। इन चौपाइयों का प्रसंग भी उल्लेखनीय है—सीता की खोज में निकले वानर समुदाय को प्रोत्साहित करते हुए सुग्रीव इन चौपाइयों को कह रहे है।

(ग) भाववस्य भगवान, सुखनिधान करुनाभवन।
तजि ममता मद मान, भजिअ सदा सीता रवन
—92 (ख)

भगवान भाव के वस में हैं, करुणानिधान हैं, ममता को त्यागकर उनका भजन कर। चौपाई का 'भजिअ' शब्द वाक्य के 'युञ्जते' शब्द का स्मरण कराता है। 'युञ्जते' शब्द में जो पुरुषार्थ का भाव निहित है वही 'भजन करने' में भी व्याप्त है। 'भजिअ सदा सीता रवन' में 'इन्मही परिष्टुति' सदा स्तुति करने का भाव भी निहित है। ये चौपाइयां गरुड-काकभुशुंडि संवाद के प्रसंग में आई हैं।

उपर्युक्त चौपाइयां अपने प्रसंगों के कारण अधिक महत्वपूर्ण हो जाती हैं। वे सभी ऐसे भक्तों से सम्बन्धित होकर आई हैं, जो रामभक्ति के सम्मुख अपने प्राणों को तुच्छ समझते हैं। जटायु[5] सीता-हरण के पश्चात् श्रीराम की सेवा में अपने प्राण न्योछावर कर चुका है; रामदर्शन ही शबरी[6] की एकमात्र आकांक्षा थी, पंपा-सरोवर का मार्ग बताकर उसने योगाग्नि से अपना शरीर जला लिया हैं; सुग्रीव प्राणों को हथेली पर रखकर वानर समुदाय के साथ सीता की खोज को निकले हैं, तथा अन्तिम चौपाई काकभुशुंडि[8] से सम्बन्धित होकर आयी है जो राम पद प्रीति के कारण अनायास ही अनेक शरीर धारण करते और तजते हैं।

उपनिषद् वाक्य ने 'विप्र'[9] शब्द का प्रयोग किया है। भक्ति ग्रन्थ मानस में 'भक्त' का स्थान वह है जो वाक्यों में विप्र का है। इन दृष्टान्तों में आनेवाले भक्त कोई साधारण कोटि के भक्त नहीं हैं। ये ऐसे भक्त हैं, जिन्होंने अपना जीवन श्री राम पद-प्रीति के लिए न्योछावर कर दिया है। ये सभी पात्र जटायु, शबरी, सुग्रीव, काकभुशुंडि शूद्रों की कोटि में आते हैं। जन्म से न सही, परन्तु कर्म से (अपना जीवन श्री इष्टदेव के चरणों पर न्योछावर करने के कारण) इन पात्रों ने 'परम भक्तों' का स्थान पाया है। देखा जाय तो ये परम भक्त वाक्य-वर्णित विप्र से उच्चतर स्थान के अधिकारी हैं।

इस प्रकार मानस ने उपनिषद् में प्रयुक्त हुए शब्द 'विप्र' को न लेते हुए, उसके भाव चौपाई में समवेत कर लिए हैं; परम भक्तों को दृष्टान्त रूप रखकर जन साधारण के मन को उदाहरणों द्वारा राम-प्रीति के उत्कर्ष का संदेश दिया है।

उपनिषद् का कथन है 'युञ्जते मन विप्रा' (विप्र लोग भगवान से मन जोड़ते हैं) मानस में दृष्टान्तस्वरूप आये इन भक्तों ने भगवान से ऐसा मन जोड़ा है कि उन्हें अपने प्राणों की भी सुधि नहीं है।

०००

भगवान का मधुर व सुन्दर स्वरूप—

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाऽभि हैनं
सर्वाणि भूतानि संवांछन्ति ॥6॥

—केन उप०, खं० 4,

भावार्थ—यह परमात्मा प्राणीमात्र का प्राणप्रिय होने के कारण 'तद्वन' नाम से प्रसिद्ध है; वह आनन्दघन परमात्मा प्राणीमात्र की अभिलाषा का विषय है। उसकी उपासना करनी चाहिए, जो ऐसा जान लेता है उसे सब प्राणी हृदय से चाहने लगते हैं।

०००

भगवान का सुखद स्वरूप—

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति ना सुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति
सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। सुखं भगवो विजिज्ञास इति॥

—छां० उ०, 1-7-22

भावार्थ—सुख की प्राप्ति के लिए ही प्राणीजन काम करते हैं। जिसमें सुख नहीं मिलता, उसे कोई नही करता; अतः सुख की विशेष रूप से जिज्ञासा कर उसकी उपासना करनी चाहिए।

साम्य स्थापित होनेवाली चौपाइयाँ—

सुन्दर व मधुर रूप—

(1) नीलोत्पल तन स्याम, काम कोटि सोभा अधिक।
सुनिअ तासु गुन ग्राम, जासु नाम अघ खल बधिक॥

उनका तन नील-कमल के समान सुन्दर, करोड़ों कामदेवों से भी सुन्दर है, जिनका नाम पाप रूपी पक्षियों को मारने के लिए व्याध्र के समान है, उन श्रीराम जी के गुणों के समूह (लीला) को अवश्य सुनना चाहिए।

(2) जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं। बैठि परस्पर इहइ सिखावहिं ।।
भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहिं। सोभा सील रूप गुन धामहिं ।।1।।
जलज बिलोचन स्यामल गातहिं। पलक नयन इव सेवक त्रातहिं ।।
धृत सर रुचिर चाप तूनीरहिं। संत कंज बन रवि रनधीरहिं ।।2।।

सुखद रूप—

काल कराल व्याल खग राजहिं। नमत राम अकाम ममता जहि ।।
लोभ मोह मृगजूथ किरातहि। मनसिज करि हरि जन सुखदातहि ।।3।।
संसय सोक निविड़ तम भानुहि। दनुज गहन घन दहन कृसानुहि ।।
जनकसुता समेत रघुबीरहि। कस न भजहु भंजन भव भीरहिं ।।4।।
बहु बासना मसक हिम रासिहि। सदा एकरस जन अबिनासिहि ।।
मुनि रंजन भंजन महि भारहिं। तुलसिदास के प्रभुहि उदारहिं ।।5।।

—उ० कां०, 30

मधुर रूप—

लोग स्थान-स्थान पर श्रीराम के गुण गाते हैं कि शरणागत का पालन करने वाले, शोभा, रूप, शील और गुणों के धाम श्री रघुनाथ जी को भजो। कमल-नयन, सांवले शरीर वाले, पलक जिस प्रकार आँखों की रक्षा करती है, उस प्रकार अपने सेवकों की रक्षा करने वाले, सुन्दर वाण, धनुष और तरकस धारण करने वाले, संत-रूपी कमल-वन के लिए सूर्य रूपी रणधीर रामचन्द्र जी को भजो।

सुखद रूप

काल-रूपी भयानक सर्प के भक्षण करने वाले श्रीराम रूप गरुड़ को भजो; निष्काम भाव से प्रणाम करते ही ममता का नाश कर देनेवाले गरुड़ जी के तुल्य श्री राम को भजो; मोहरूपी हिरनों के समूह का नाश करने वाले किरातरूपी श्री राम, हाथी के लिए सिंह रूप, तथा सेवकों को सुख देनेवाले श्रीराम को भजो; संशय रूपी घने वन को जलाने वाले श्रीराम, जन्म-मृत्यु के भय का नाश करने वाले श्रीराम को क्यों नहीं भजते; वासनाओं के मच्छरों का विनाश करने वाले हिमराशि रूपी श्रीराम नित्य, एकरस, अजन्मा, अविनाशी, श्री रघुनाथ जी को भजो। मुनियों को आनन्द देनेवाले, पृथ्वी का भार उतारने वाले, तुलसीदास जी के उदार स्वामी श्रीराम को भजो।

(3) असि बिचारि मति धीर, तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु राम रघुवीर, करुनाकर सुन्दर सुखद ।।

—उ० कां०, 90 ख

भावार्थ—ऐसा विचार करके कुतर्क व सकल संशय का त्याग करके सुन्दर सुखद करुणाकर रघुवीर को भजो।

साम्य—

उपनिषद् वाक्यों ने भगवान के दो स्वरूप प्रस्तुत किये हैं। प्रथम वाक्य में भगवान का प्रिय रूप है जिसके कारण भगवान को 'तद्वन' कहते हैं। उस ध्यान के फलस्वरूप ध्यान-कर्त्ता सर्वप्रिय हो जाता है। दूसरा वाक्य भगवान के सुखद स्वरूप पर प्रकाश डालता है, सुख की प्राप्ति के लिए प्राणीजन काम करते हैं; अतः सुख की विशेष रूप से जिज्ञासा कर भगवान की उपासना करनी चाहिए।

मानस ने वाक्य के भावों को जनहित के उद्देश्य से अपने अनुरूप करके व्यक्त किया है। मानस में श्रीराम का रंजित रूप व सुखद रूप पाठकों की रुचि प्रेरणा के अभिप्राय से आया है। भगवान का रंजित रूप इसलिए कि जो नेत्रों को प्रिय लगे, वह प्रिय। भगवान का जो भाव हृदय में सुख-भाव जगा सके, वह सुखद। इस प्रकार हृदय में प्रभु श्रीराम की मूर्ति को उतारने के लिए दोनों भाव अन्योन्याश्रित हैं। जो नेत्रों को भी प्रिय हो, और हृदय में भी सुखी भावों का संचार कर सके, उसकी स्थापना हृदय में सरलता से की जा सकती है। भगवान के सुखद व प्रियदर्शी रूप के वर्णन का यही औचित्य है। भक्ति ग्रन्थ सगुण उपासना-प्रधान होते हैं, अतः उनमें भगवान के सुखद व रुचिर वर्णन का महत्व अधिक बढ़ जाता है।

वाक्य जिस को 'प्रिय' कहकर रह गये हैं, मानस उसी का रंजित मनोहारी रूप शब्द तूलिका से चित्रित कर रहा है; मानो नेत्रों के सन्मुख भगवान का प्रिय रूप चित्र के समान प्रस्तुत करना चाहती हो, जिससे कि पाठक भगवान के मोहक व प्रिय रूप का पान करके इसको हृदयांकित कर सकें। इसी प्रकार जहाँ वाक्य 'सुखद' लिखकर ही तृप्त हो गये हैं, वहाँ मानस ने स्पष्ट रूप से सुखद भावों की व्यंजना की है। सुखद भाव व्यंजना हृदय में उठते ही भगवान की प्रिय मूर्ति हृदय में समा जायेगी। इसी कारण मानस में मधुर व सुखद स्वरूप हमें चौपाई क्रम में साथ-साथ प्राप्त होते हैं, जबकि वाक्य में वे भिन्न-भिन्न हैं।

सुन्दर व मधुर भाव की शब्दावली[10] में शोभा, शील रूप, गुण के साथ प्रनत-पाल शब्द उल्लेखनीय है। भगवान् शोभा, शील, रूप, गुण की खान हों परन्तु शरणागत की रक्षा करने वाले न हों तो प्रिय नहीं लगते, अतः 'प्रनत-पाल' यहाँ प्रिय होने का एक विशेषण बन कर आया है। 'पलक-नयन इव सेवक त्रातहिं' पलक के समान नयन रूपी सेवकों की रक्षा करने वाला यह स्वरूप अपनी स्वार्थपूर्ति के कारण अधिक प्रिय लगता है। प्रिय लगनेवाले इन गुणों का चित्रण करके मानस ने श्रीराम का जो सुन्दर मधुर रूप खींचा है, वह मानस-पटल पर अंकित हो जाता

है। सर व चाप शब्द का प्रयोग भी मधुर भावना बनाए रखने के लिए 'रुचिर' शब्द के साथ हुआ है, कि कहीं वीर-भाव उभर कर मधुर भाव खो न दें।

चौपाइयों के उत्तरार्द्ध में भगवान के सुखद स्वरूप के दर्शन होते हैं। इस भाग का उपनिषद् वाक्य से सुखद भावना का जो साम्य बनता है वह आगे प्रस्तुत है—

(1) कालकराल ब्याल खगराजहि	कराल काल के भय से मुक्ति की आशा, अतः सुखद।
(2) नमत राम अकाम ममता जहि	ममता जिसका परित्याग कठिन है उसके सहजता से छूट जाने का सुख।
(3) लोभ मोह मृगजूथ किरातहि	लोभ-मोह-काम जो भगवत्-उन्मुख अंकुर
(4) मन सिज करि	फूटता है, उसी को चर जाते हैं, उन से सदा के लिए मुक्त हो जाने का सुख।
(5) हरिजन सुखदातहि	रक्षा का सुख।
(6) संसय, सोक, निबिड तम-भानुहि	संशय, शोक, राक्षस प्रकृति वालों का अन्धकार से प्रकाश में
(7) दनुज गहन घन दहन कृसानुहि	आने का सुख।
(8) भंजन भव भीरहि	जन्म-मृत्यु से तर जाने का सुख।
(9) बहु वासना मसक हिमरासिहि	वासनाएँ भक्त की सबसे विकट समस्या हैं, उनके समाधान हो जाने का सुख।
(10) सदा एकरस, अज, अविनासी	भगवान के सुखद स्वरूप गुण।
(11) मुनि रंजन भंजन महि भारहि	पशु-प्रकृति प्राणियों के सम्मुख अशक्ति का अनुभव करता है, उनसे मुक्ति पाने का सुख।
(12) उदार प्रभु	सहस्रों भूलों के क्षमा-दान के आश्वासन का सुख।

ऊपर वर्णित सर्वसुख साधना के सुख हैं। साधारण जीवन-क्रम में, यद्यपि वासना के सुखों की ओर तो ध्यान जाता है तथापि साधना के सुखों की ओर ध्यान नहीं जाता है। वाक्य में 'विजिज्ञास' शब्द का प्रयोग हुआ है; जिसका अर्थ है जिज्ञासा करनी चाहिए; जिज्ञासा करनेवाला प्राणी उपासक व साधक होता है, अतः मानस के उपर्युक्त वर्णित सुख वे सुख हैं, जिनमें उपासक व साधक को सुख मिलता है।

उपासक व साधक साधना के प्रारम्भ काल में एक मानसिक संधि की अवस्था में होती है। संसार छूटा नहीं है, भगवान मिला नहीं है। न एक को छोड़ पाया है न दूसरे को पकड़ पाया है; अभी तक एक को छोड़कर दूसरे को पकड़ने का प्रयास मात्र है। इस संधिकाल में वह अभी तक केवल सांसारिक सुखों का ही ज्ञाता है;

साधना का पथ तो पर्वतारोहण की सी कठिनाइयों से भरा हुआ है; इस समय वह किस सुख की आशा से भगवान् की जिज्ञासा करे, इसका ज्ञान उसके लिए अनिवार्य है।

यह पहले लिखा जा चुका है कि मानस का यह सबसे बड़ा गुण है, कि वह मानस पारायण के साथ-साथ पाठक के हृदय में भगवत्-प्राप्ति के अधिकारों[11] का संचार करती जाती हैं। उपनिषद्, ब्रह्मज्ञान के लिए अनिवार्य, अधिकारोचित गुणों की प्राप्ति के बाद, भले ही पढ़ा जा सके, परन्तु मानस तो पारायण के साथ-साथ ही, भगवत्-प्राप्ति के लिए हृदय में आवश्यक सात्विक गुणों का विकास करती है। उस अवस्था में जब कि साधक, जन साधारण की कोटि का हो, और अपने हृदय में भगवत् प्राप्ति के सात्विक गुणों का विकास शनैः-शनैः कर रहा हो, उस समय भगवान की साधना का विशद सुखद स्वरूप उसके लिए एक विशेष महत्त्व रखता है।

(3) अस विचारि मतिधीर, तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु राम रघुवीर करुनाकर सुन्दर सुखद ।।90।। (ख)

—उ० काण्ड

उपर्युक्त सोरठे में रघुवीर के प्रिय तथा सुखद दोनों ही स्वरूपों का विवरण साथ-साथ प्राप्त होता है। कारण यह है कि प्रिय व सुखद दोनों ही भाव एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं। इस प्रकार जो सुखद है वही प्रिय है; जो प्रिय है वही सुखद हैं। मन पर दोनों की प्रतिक्रिया मिश्रित है। इस कारण जन-साहित्य मानस में वह मिश्रित रूप से प्राप्त है। ०००

(11) अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोकोन सुकृतं न दुष्कृतं, सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ।।1।। —छां० उप०, अ० 8, खं० 4

भावार्थ—लोकों के सम्भेद के लिए विशेष रूप से धारण करने वाला सेतु आत्मा है। इस सेतु का रात-दिन, जरा, मृत्यु, शोक, सुकृत, दुष्कृत अतिक्रमण नहीं करते, क्योंकि ब्रह्मलोक पाप-शून्य है। अर्थात् ब्रह्म ज्ञान का सेतु है, जिससे इस लोक में व्याप्त क्लेश नहीं व्याप्त होते; उससे ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, जहाँ यह कष्ट नहीं है।[3]

(12) ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि भयावहानि[13] ।।8।।

—श्वेता० उप०, अ० 2

ओंकार रूपी नौका द्वारा विद्वान सम्पूर्ण भयंकर जल प्रवाहों को पार कर जाता है।

उपर्युक्त वाक्यों से साम्य रखने वाली चौपाइयाँ—

1. वारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल।
   बिनु हरिभजन न भव तरिअ, यह सिद्धांत अपेल॥ 22 (क)
   मसकहि करइ बिरंचि प्रभु, अजहि मसक ते हीन।
   अस बिचारि तजि संसय, रामहि भजहिं प्रबीन॥ 122 (ख)
   विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसिमे।
   हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥ 122 (ग)

जल को मथने से भले ही घी निकल आये, बालू से भले ही तेल निकल आये; परन्तु हरि के भजन बिना संसार-सागर नहीं तरा जा सकता। मैं निश्चय सिद्धांत कहता हूँ। मेरे शब्द अन्यथा नहीं हैं, जो मनुष्य हरि-भजन करते हैं, वे अत्यन्त दुस्तर सागर को सहज ही पार कर जाते हैं।

2. भव सिंधु अगाध परे नर ते, पद पंकज प्रेम न जे करते।

—उ० कां०, 5-14

जो आपके चरण-कमलों में प्रीति नहीं करते, वे अथाह भव-सागर में पड़े हैं।

साम्य

प्रथम उपनिषद् वाक्य का कथन है कि आत्म-ज्ञान के सेतु से ही मृत्यु-लोक तरा जा सकता है। आत्म-ज्ञान के सेतु द्वारा इस लोक में व्याप्त जरा, मृत्यु, शोक, सुकृत, दुष्कृत आदि क्लेशों से मुक्ति पायी जा सकती है।

द्वितीय उपनिषद् वाक्य का कथन है कि ओंकार नामक नौका के माध्यम से मृत्यु-लोक के भयंकर प्रवाहों को पार किया जा सकता है।

इस प्रकार दोनों वाक्यों का साम्य हुआ कि, ब्रह्म-ज्ञान तथा ओंकार।उपासना के माध्यम से मृत्युलोक के दुःख पार किए जा सकते हैं। (वह चाहे सेतु द्वारा हो, चाहे नौका द्वारा)। चौपाइयों में इस भाव का साम्य निम्नांकित रूप से प्राप्त है।

उपनिषद्	मानस
1. ब्रह्म ज्ञान के सेतु द्वारा मृत्यु लोक के दुःख तरे जा सकते हैं।	1. बिनु हरिभजन न मन तरिअ, यह सिद्धांत अपेल। लोकार्थ द्वारा इसका अर्थ हुआ कि हरि-भजन द्वारा ही भव-सागर तरा जा सकता है।
2. ओंकार की नौका द्वारा	2. हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते।

उपनिषद्	मानस
संसार का प्रवाह पार किया जा सकता है।	जो मनुष्य हरि का भजन करते हैं, वे अत्यन्त दुस्तर संसार-सागर को सहज ही में पार कर जाते हैं। यहाँ महत्व है संसार-सागर से तर जाने का; मूल कारण वाक्य व चौपाइयों दोनों में एक है, कि हरि भजन द्वारा ही संसार के विकराल दुःख पार किए जा सकते हैं। वाक्य वर्णित नौका व सेतु तो केवल उपमा की वस्तु हैं। अन्य चौपाइयाँ[13] इस सिद्धान्त के पुष्टी करण में आई हैं।
3. विद्वान् स्रोतांसि—सर्वाणि भयावहानि। (विद्वान सम्पूर्ण भयंकर जल-प्रवाहों को पार कर जाता है)	वाक्य में 'विद्वान' शब्द का प्रयोग है, चौपाई में 'प्रवीण' का। विद्वान वह है जो ओंकार का अर्थ समझकर ओंकार का जाप करता है, क्योंकि अर्थ-विहीन जाप नौका रूप बनकर तारने का प्रभाव नहीं रखता। 'प्रवीण' वह है जो संशय-विहीन होकर प्रभु की सामर्थ्य में विश्वास रखकर उनका नाम भजता है। इसमें जो वाक्य भेद है वह उपासना व साधना का है; मूलभाव एक है कि विद्वान ओंकार के सहारे भव तरता है, और प्रवीण राम-भजन के सहारे मृत्यु-लोक से पार होता है।

सन्दर्भ

1. परशुराम।
2 लक्ष्मण का अभिमान आहत होकर क्रोध का स्वरूप धारण करता रहा है।

परशुराम-संवाद व सेतु-बन्धन के समय सागर पर क्रोध आदि।

3. एक बार हर मन्दिर, जपत रहेउँ सिव नाम।
गुर आयउ अभिमान ते, उठि नहिं कीन्ह प्रनाम ॥

—उ० कां०, 106

4. तिथि रघुपति निज दास कर, हरहिं मान हित लागि ॥

—उ० कां०, 74 (क)

रावण का अभिमान सर्वविदित है; यहाँ मन्दोदरी का कथन उसकी पुष्टि करता है।

5. अविरल भगति माँगि वर, गीध गयउ हरिधाम।
तेहि की क्रिया जथोचित, निज कर कीन्हीं राम ॥

—अर० कां०, 32

6. कहि कथा सकल बिलोकि हरि मुख हृदयँ पद पंकज धरे।
तजि जोग पावक देहि हरि पद लीन भई जहँ नहिं फिरे ॥

—अरण्य कांड, 36

7. सुनि सुग्रीव परम भय माना ॥19॥
क्रोधवंत लछमन सुनि काना।
कह कपीस अति भय अकुलाना ॥20॥ —किष्किन्धा कांड

8. जोइ तनु धरउँ तजउँ पुनि, अनायास हरिजान।
जिमि नूतन पट पहिरइ, नर परिहरइ पुरान ॥

—उ० कां०, 109 (ग)

9. 'युञ्जते मनः विप्रा'।

10. (1) शोभा, (2) शील, (3) रूप, (4) गुन, (5) प्रनत प्रतिपालक, (6) जलज विलोचन, (7) स्यामल गातहिं, (8) धृत सर रुचिर चाप तूनीरहिं, (9) संत कंज वन रवि रन धीरहिं, (10) पलक नयन इव सेवक त्रातहिं।

11. पुस्तक में 'अधिकारत्व' के अंतर्गत यह विषय विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया गया है।

12. त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरे हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥८॥

13. (क) वारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल।
विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।

(ख) भव सिंधु अगाध परे नर ते,
पद पंकज प्रेम न जे करते ॥ —उ० कां० 5।143,

ध्यान

'ध्यै' धातु से बना हुआ 'ध्यान' शब्द चिन्तन का द्योतक है। किसी एक विषय के प्रति चित्तवृत्ति का निरोध कर एकाग्र कर देना ही 'ध्यान' कहा जाता है। ध्यान-प्रक्रिया में अन्य समय में परिस्थिति-भेद से श्रेयस्कर लगने वाली वस्तुएं भी ध्यान-काल में प्रिय नहीं होतीं। ध्यान 'अष्टांग योग' का एक अंग है। जब मन ध्यान से अधिक एकाग्र होने लगता है, तब साधक अपनी पूर्णता की ओर अग्रसर होता है।

'ध्यान' के नियमों की एकाग्रता पर साधक की सफलता एवं असफलता निर्भर होती है। वह व्यक्ति जो इन मानसिक नियमों का पालन न कर सके, वह 'ध्यान' के योग्य नहीं है। आन्तरिक शुद्धि व बल प्राप्त करने के हेतु इन नियमों के पालन पर विशेष बल दिया जाता है।

वे उपनिषद्-वाक्य, जो ध्यान की योग्यता प्रदान करनेवाले गुणों की ओर संकेत करते हैं—

कुर्वाणा

1. वि मायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्र मायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।

—तै० उ०, अनु० 4, व० 1

भावार्थ—ब्रह्मचारी लोग मेरे लिए कपटशून्य हों, प्रामाणिक ज्ञान को ग्रहण करने योग्य हों, इन्द्रियों का दमन करने वाले हों, और मन को वश में करने वाले हों।

वेद

2. सत्यं वद। धर्मं चर। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥1॥

—तै० उ०, अनु० 11, व० 1

भावार्थ—सत्य से, धर्म से कभी नहीं डिगना चाहिए, शुभ कर्मों व उन्नति के साधनों से, वेदों के पढ़ने से, देवकार्य और पितृकार्य से कभी नहीं चूकना चाहिए।

देव

3. मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्य-नवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् ॥3॥

—तै० उ०, अनु० 11, व० 1

अर्थ—माता, पिता, आचार्य, अतिथि को देवतुल्य समझो। निर्दोष आचरण का सेवन करो, बुरे आचरणों का त्याग कर अच्छे कर्म करो। दम से श्रेष्ठ गुरुजन व ब्राह्मणों के आने पर उन्हें आसन देकर विश्राम देना चाहिए।

4. अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ॥3॥
ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता अयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामा स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता अयुक्ता। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्, तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनु-शासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमुचैतदुपास्यम् ॥3॥

—तै० उ०, अनु० 11, व० 1

भावार्थ—माता-पिता, आचार्य और अतिथि देव हैं। अनिन्द्य कर्मों का सेवन करना चाहिए। जो हमारी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं उनका आसन आदि के द्वारा श्रमाप-हरण करना चाहिए। कर्त्तव्य के निर्णय में शंका होने पर सदाचारी, धर्माभिलाषी, स्निग्ध, ब्राह्मण व गुरु जैसा कहे वैसा करना चाहिए। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेदों का रहस्य है, यही परम्परागत शिक्षा है।

उपर अंकित वाक्य 'आचार्य-शिष्य' प्रणाली का एक अंग होकर आये हैं; साम्य के लिए प्रस्तुत चौपाइयां संत के लक्षणों के रूप में आई हैं। दोनों की आचार-संहिताएँ एक हैं। अन्तर यह है कि ब्रह्मचारियों को ये लक्षण अभ्यास द्वारा अभी धारण करने हैं; संतों में ये लक्षण सहज होकर आ गये हैं। सहजता के कारण ये लक्षण उनका सहज स्वभाव बन गये हैं। ब्रह्मचारियों को नैतिक शिक्षा सद् गुणों की वृद्धि तथा असद् गुणों को दूर करने के लिए दी जाती है। अतः मानस ने वाक्य-वर्णित 'आचार-संहिता' सद्-लक्षणों के रूप में व्यक्त की है।

शिक्षा वह है जो हृदय में उतरे। जो जीवन में उतरी नहीं, वह शिक्षा किसी भी कोटि की क्यों न हो, व्यर्थ है। अतः यह कहा जाय तो अनुचित न होगा कि मानस में सद्-लक्षण शिक्षा की परिणति के रूप में आए हैं।

साम्य के लिए प्रस्तुत मानस चौपाई :

पट् विकार जित अनघ अकामा । अचल अकिंचन सुचि सुखधामा ।
अमितबोध अनीह मितभोगी । सत्यसार कवि कोविद जोगी ।।4।।
सावधान मानद मदहीना । धीर धर्म गति परम प्रवीना ।।5।।
गुनागार संसार दुख, रहित बिगत संदेह ।
तजि मम चरन सरोज प्रिय, तिन्ह कहुँ देह न गेह ।।45।।
निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं । पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं ।
सम सीतल नहीं त्यागहिं नीती । सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती ।।1।।
जप तप ब्रत दम संजम नेमा । गुरु गोबिंद बिप्र पद प्रेमा ।।
श्रद्धा, छमा, मयत्री, दाया । मुदिता मम पद प्रीति अमाया ।।2।।
बिरति बिबेक बिनय बिग्याना । बोध-जथारथ बेद पुराना ।।
दंभ मान मद करहिं न काऊ । भूलि न देहिं कुमारग पाऊ ।।
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला । हेतु रहित परहित रत सीला ।।46।।

—अर० कां०

अर्थ—वे संत छह विकारों को जीते हुए, कामना-रहित, निश्चल, अकिञ्चन, बाहर-भीतर से पवित्र, सुख के धाम, असीम ज्ञानवान, इच्छा-रहित, मिताहारी, सत्यनिष्ठ, कवि, विद्वान, योगी, सावधान, दूसरों को मान देने वाले, अभिमान-रहित, धैर्यवान, धर्म के ज्ञान और आचरण में अत्यन्त निपुण, गुणों के घर, संसार के दुःखों से रहित और संदेहों से सदा छूटे हुए होते हैं । कानों से अपने गुण सुनने में सकुचाते हैं, दूसरों के गुण सुनने से विशेष हर्षित होते हैं । सम और शीतल हैं, न्याय का कभी त्याग नहीं करते । सरल स्वभाव हैं और सभी से प्रेम करते हैं । वे जप, तप, व्रत, दम और संयम और नियम में रत रहते हैं, और गुरु, गोविन्द तथा ब्राह्मणों के चरणों में प्रेम करते हैं । उनमें श्रद्धा, क्षमा, मैत्री, दया और मेरे चरणों में निष्कपट प्रेम होता है तथा वैराग्य, विवेक, विनय, विज्ञान और पुराण का यथार्थ ज्ञान होता है । वे दम्भ, अभिमान और मद कभी नहीं करते और भूलकर भी कुमार्ग पर पैर नहीं रखते हैं । सदा मेरी लीला को गाते और सुनते हैं तथा बिना ही कारण दूसरों की भलाई में रत रहते है ।

साम्य—

वाक्य	चौपाई
(1) वि मायन्तु ब्रह्मचारिणः (ब्रह्मचारी कपटशून्य हों)	'हेतु रहित परहित रत सीला'—बिना कारण ही दूसरों का हित करने वाले होते हैं । (वाक्य भाव कपटशून्य होने का है । कपट दूसरे प्राणी के साथ किया जाता है)। यहां एक श्रेणी आगे बढ़

	कर हेतु-रहित सहायता करने का गुण है। कपट न करने के भाव के दमन की परिणति है, दूसरों की सहायता करना।
(2) दमायन्तु ब्रह्मचारिण: (ब्रह्मचारी गण इन्द्रियों का दमन करनेवाले हों)	'षट् विकार जित' छह विकारों का दमन करने वाले। अनीह, मानद, मदहीना, मितभोगी, अकिंचन तथा शुचि शब्द इन्द्रिय-दमन के द्योतक हैं। अनीह—संयमी मन का द्योतक है। अकिंचन--सर्व-त्यागी (इच्छा-रहित होने का द्योतक है।) शुचि—आन्तरिक व वाह्य शुचि (आन्तरिक शुचि इन्द्रिय-दमन के विना अप्राप्य है।) मदहीन व मानद—इन्द्रिय-निग्रह का गुण है—जिसमें अपने में कर्त्तापन का अभाव माना जाता है।
(3) धर्मान्न प्रमदितव्यम् (धर्म से नहीं डिगना चाहिए)	(क) धर्म गति परम प्रवीना (धर्म के ज्ञान व आचरण में निपुण) (ख) सावधान (मार्ग से च्युत न होने की सावधानी)
(4) सत्यान्न प्रमदितव्यम् (सत्य से नहीं डिगना वाला)	सत्य सार
(5) कुशलान्न प्रमदितव्यम् (शुभ कार्यों से नहीं चूकना चाहिए)	जप, तप, व्रत, दम, संयम, नियम—शुभ आचरण हैं।
(6) भूत्यै न प्रमदितव्यम् (उन्नति के कार्यों से न चूकना चाहिए)	विरति, विवेक, विनय और विज्ञान—ब्रह्मचारी के लिए उन्नति के कार्य हैं।
(7) 'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्' वेदों के पढ़ने-पढ़ाने से नहीं चूकना चाहिए।	'बोध जथारथ वेद पुराना'

(8) देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ।	'गुरु गोविंद विप्र पद प्रेमा'
(9) अथ यदि ते कर्म-विचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता अयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन् कर्त्तव्य के निर्णय में शंका होने पर सदाचारी, धर्मकाम, स्निग्ध, ब्राह्मण व गुरु जैसा कहें वैसा करना चाहिए ।	'भूलि न देहिं कुमारग पाऊँ' मानस ने संत के लक्षण दिये हैं। संत भूलकर भी कुमार्ग पर पैर नहीं रखते—वाक्यों ने साधक ब्रह्मचारियों के लिए आचार-संहिता दी है—साधक से भूल हो सकती है – संत से नहीं हो सकती । अतः आचार-संहिता का भाग यहाँ अनावश्यक है ।
यान्यनवद्यानि कर्माणि (निर्दोष आचरण करना चाहिए)	'सरल स्वभाव सबहि सन प्रीती' 'गुनागार संसार दुख, रहित बिगत संदेह' 'दंभ मान मद करहिं न काऊ' 'श्रद्धा क्षमा मयत्री दाया । मुदिता मम पद प्रीति अमाया ।'

5. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥5॥
—मुं० उप०, खं० 1, मुं० 3

इस शरीर के भीतर ही प्रकाश-स्वरूप परम विशुद्ध परमात्मा निसंदेह सत्य-भाषण, तप, ब्रह्मचर्यपूरक यथार्थ ज्ञान से ही सदा प्राप्त होने वाला है। जिसे सर्व प्रकार के दोषों से रहित साधक ही देख सकते हैं।

6. वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥6॥
—मुं० उप०, खं० 2, मुं० 3

वेदान्त शास्त्र के विज्ञान द्वारा परमात्मा को निश्चयपूर्वक जान लेने के पश्चात्, कर्म फल और आसक्ति के त्याग रूप योग से जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वे समस्त प्रयत्नशील साधक मरण-काल में मुक्त हो जाते हैं।

7. एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥9॥
—मुं० उप०, खं० 1, मुं० 3

भावार्थ—इन पाँच प्राणों वाले शरीर में सूक्ष्म आत्मा मन द्वारा जाना जाता है। अन्तःकरण के विशुद्ध होने पर यह आत्मा सर्व प्रकार से समर्थ होता है।

उपर्युक्त तीनों उपनिषद्-वाक्य एक ही उपनिषद् के वाक्य हैं। तीनों वाक्यों का भावार्थ है कि भगवान् की प्राप्ति विशुद्ध मन द्वारा ही हो सकती है। यही इन तीनों वाक्यों का मूल कथन है—

5. यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।
6. संन्यासयोगात्शुद्धसत्त्वाः।
7. यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा।

तीनों वाक्यों ने अपने-अपने रूप से यह व्यक्त किया है कि मन की शुद्धि किस प्रकार हो सकती है; परन्तु महत्त्व तीनों का ही मनःशुद्धि पर है। तीनों वाक्यों में भावसाम्य है :

भगति निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया दम लता बिताना॥
सम जम नियम फूल फल ग्याना। हरि पद रति रस बेद बखाना॥

बा० कां०, 37

भक्ति का निरूपण नाना प्रकार से है—क्षमा, दया तथा दम (इन्द्रिय-निग्रह) लताओं का मंडप है। मन का निग्रह यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह); नियम (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान) ही उनके फूल हैं, ज्ञान फल है और हरि के चरणों में प्रेम ही इस ज्ञान-रूपी फल का रस है, ऐसा वेदों ने कहा है।

साम्य

वाक्य	चौपाई
(5) सत्येन, तपसा, ब्रह्मचर्येण सम्यग्ज्ञानेन नित्यम् लभ्यः	चौपाई में गुणों की सूची— यम के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। इस प्रकार वाक्य-वर्णित समस्त गुण चौपाई में आ जाते हैं। चौपाई में यम व नियम को फूल की उपमा दी गई है और ज्ञान उसका फल है। फूलों से ही फल की प्राप्ति होती है। चौपाइयों ने कवित्वमय भाषा में वाक्य-भाव प्रकट किये हैं।

(5) क्षीणाः दोषाः — क्षीण-दोष शब्द से वाक्य का भाव है निरन्तर साधन के द्वारा जब साधक के दोष क्षीण हो जायें,; जब वह परिपक्व हो जाय, तब उसको परमात्मा की अनुभूति होती है।

चौपाई में 'क्षीणदोष' शब्द के अन्दर जो परिपक्वता का भाव सन्निहित है, उसको फूल[1] व फल की उपमा द्वारा व्यक्त किया गया है। फल देने वाले वृक्षों में वृक्षारोपण के समय ही फल नहीं लग जाते हैं। उन पर फूल आने में कई वर्ष लग जाते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहना उचित होगा कि वृक्ष जब परिपक्व हो जाता है, तब उसमें फूल आते हैं; उसी वर्ष वृक्ष फलने लगता है। सारांश में फल लगने की परिपक्वता आने पर वृक्ष फूलता है। इस प्रकार 'क्षीणादोष' होना परिपक्व होना है।

(6) यस्मिन् विशुद्धे— (अन्तःकरण के शुद्ध होने पर) अन्तःकरण की शुद्धि नियमों के पालन करने के फलस्वरूप परिपक्वता आ जाने पर प्राप्त होती है।

'यस्मिम् विशुद्धे' तथा 'संन्यासयोगात् शुद्धसत्वाः' वाक्यांशों में भी यही भाव है। कोई नियम व कोई योग प्रारम्भ व पालन होने पर एक समयावधि के पश्चात् ही गुण की कोटि में आकर आत्मसात् होता है। 'समजम नियम फूल फल ग्याना' कवित्वमय[1] ढंग से इसी समयावधि और उसके परिणाम की ओर संकेत कर रहा है।

(7) 'संन्यासयोगात् शुद्ध सत्वाः' कर्मफल आसक्ति के त्याग रूप योग से, जिनका अंतःकरण शुद्ध हो गया है। 'हृदय सत्त्व' की प्राप्ति 'संन्यास योग' के फलस्वरूप हुई है।

5. यं पश्यन्ति—

'यं पश्यन्ति' से वाक्य का शाब्दिक अर्थ हुआ 'जिसे देख पाते हैं', परंतु, परमात्मा अगोचर है, वह इन्द्रियों की उपलब्धि का विषय नहीं है। उसकी अनुभूति ही हो सकती है—अर्थात् उसके रस का अनुभव ही किया जा सकता है। इस कारण चौपाई में वह भाव 'हरि पद रति रस' के रूप में आया है। भक्ति ग्रन्थ के लिए ज्ञान

रूपी फल-प्राप्ति 'हरि पद रति रस' में ही अभिव्यक्त होगी।

6. विभवत्येप आत्मा— 'विभत्येप आत्मा' (आत्मा का सर्व रूप से समर्थ होना, अर्थात् आत्मसात् होना) तथा

7. परामृता-परिमुच्यन्ति सर्वे— 'परामृताः परिमुच्यंति सर्वे' (परम अमृतस्वरूप होकर सर्वथा मुक्त हो जाना) ये दोनों भाव ज्ञान से सम्बन्धित हैं, तथा ज्ञान की पराकाष्ठा हैं। ज्ञानी को उस समय तक तृप्ति का अभ्यास नहीं होता, जिस समय तक कि उसको इस अवस्था की प्राप्ति नहीं हो जाती। परन्तु भक्त की परितृप्ति 'हरि पद रति रस' में ही है। वह 'हरि पद रति रस' के लिए मुक्ति को ठुकरा देता है।[2] साधना में परितृप्ति की प्राप्ति हो गयी तो साधक कृतकृत्य हो गया; उसको ध्येय व लक्ष्य की प्राप्ति, परितृप्ति भावना के द्वारा हो गयी। अध्यात्म के किसी भी मार्ग का साधक क्यों न हो, परितृप्ति की भावना आ जाना ही उसकी साधना की परिणति है। 'हरि पद रति रस' भक्त की साधना की परिणति है, अतः मानस ने 'हरि पद रति रस' के साथ प्रमाणरूपेण 'वेद बखाना' अंकित करके विषय को प्रमाण-सिद्ध बना दिया है। ●●

निम्नांकित वाक्य व चौपाई का साम्य नीचे प्रस्तुत है —

1. अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्याऽऽदित्यमभिजयन्ते ॥10॥ प्रश्न उप०, प्रश्न 1

अर्थ—तपस्या के साथ, ब्रह्मचर्यपूर्वक, श्रद्धा से युक्त होकर, आत्मविद्या द्वारा परमात्मा की खोज करके उत्तरायण मार्ग से सूर्यलोक को जीत लेते हैं।

2 यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥8॥ कठोप०, अ० 1, व० 3

अर्थ—परन्तु जो सदा विवेकशील बुद्धि से युक्त, संयतचित एवं पवित्र रहता है, वह तो उस परम पद को प्राप्त होता है जहाँ से पुनः जन्म नहीं होता।

चौपाई— मर्मी सज्जन सुमति कुदारी ।
ग्यान बिराग नयन उरगारी ॥7॥
भाव सहित खोजइ जो प्रानी ।
पाव भगति मनि सब सुख खानी ॥8॥ —उ० कां०, 120(क)

अर्थ—बुद्धि जिसकी कुदाल है, ज्ञान और वैराग्य जिसके नेत्र हैं, प्रेम से खोज करने पर सब सुखों की खान उसे प्राप्त होती है।

साम्य—

वाक्य	चौपाई
1. तपस्या, ब्रह्मचर्य — 2. यस्तु विद्यावान् भवति समनस्कः सदाशुचिः । विवेकशील और बुद्धि से युक्त संयत-चित्त, सदा शुचि ।	उपनिषद्-वाक्य में वर्णित ये गुण बुद्धि के गुण हैं। मानस की चौपाई में बुद्धि को कुदाल कहा गया है। जिसमें उपनिषद्-वाक्य वर्णित गुण हों, वही बुद्धि कुदाल का काम करती है।
1. विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्य— आत्मविद्या द्वारा परमात्मा की खोज करके।	एक ओर उपनिषद् का कथन है कि परमात्मा आत्म-विद्या द्वारा खोजा जाता है, 'ग्यान बिराग नयन उरगारी' ज्ञान व वैराग्य संतों के दो नयन हैं। खोज नेत्रों से की जाती है। ये नेत्र संतों के हैं—संत वे पुरुष हैं जिन्होंने भगवान् को खोज लिया है। वाक्य-वर्णित आत्मविद्या का विश्लेषण किया जाय तो प्राप्त होगा कि यह वह वस्तु है जो ज्ञान तथा वैराग्य से प्राप्त होती है। इस प्रकार वाक्य भाव के मर्म को चौपाइयों ने खोल दिया है।
1. श्रद्धया— श्रद्धा से युक्त होकर	वाक्य का 'श्रद्धा-युक्त' भाव मानस में 'भाव-सहित' रूप में प्रकट हुआ है। क्योंकि श्रद्धा का आधार भाव है, 'भाव सहित खोजे जो प्राणी'।
1. आदित्यमभिजयन्ते— उत्तरायण से सूर्यलोक को जाता है।	'पाव भगति-मनि सब सुखरासी'—भक्ति-मणि सब सुखों की राशि है, उसको पाने के पश्चात् फिर कोई ऐसा सुख शेष नहीं रह जाता, जिसकी प्राप्ति के लिए भटका जाय।

	सूर्य लोक में जाने के पश्चात् उसे परिपूर्णता की प्राप्ति होती है तथा कुछ भी खोजने व पाने के लिए नहीं रह जाता है।
2. यस्माद् भूयो न जायते—जहाँ से फिर जन्म नहीं होता।	ज्ञान-मार्ग व भक्ति-मार्गों की विभिन्नता यहां भी दृष्टिगोचर होती है। ज्ञान-मार्ग मूर्धलोक में आत्म-साक्षात्कार करा कर जीव-आत्मा में परिपूर्णता का भास कराता है; भक्तिमार्गी की परिपूर्णता 'सर्व सुखराशि रूपी भक्ति-मणि' की प्राप्ति कर लेने में है।

●●

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥10॥
— श्वेता० उप०, अ० 2

अर्थ—सम तत्त्व, सर्व प्रकार से शुद्ध, कंकड-अग्नि-बालू से रहित, शब्द, जल और आश्रय आदि की दृष्टि से शून्य हो, मन के सर्वथा अनुकूल, नेत्रों को पीड़ा न देने वाले गुहा आदि वायुशून्य स्थान में, मन को ध्यान में लगाने का अभ्यास करना चाहिए।

उपर्युक्त उपनिषद्-वाक्य के साम्य के रूप में मानस में वर्णित भरत जी का दृष्टांत हमारे सम्मुख है। उपर्युक्त उपनिषद्-वाक्य के भावों को वे क्रिया रूप में कार्यान्वित कर रहे हैं—

सुनि सिख पाइ असीस बड़ि, गनक बोलि दिनु साधि।
सिंघासन प्रभु पादुका, बैठारे निरुपाधि॥
—अयो० कां०, 323

राम मातु गुर पद सिरु नाई। प्रभु पद पीठ रजायसु पाई॥
नंदि गावँ करि परन कुटीरा। कीन्ह निवासु धरम धुर धीरा॥1॥
जटाजूट सिर मुनि पट धारी। महि खनि कुस साँथरी सँवारी॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा॥2॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी। तन मन बचन तजे तिन तूरी॥
अवध राजु सुर राजु सिहाई। दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई॥3॥
नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत, राज काज बहु भाँति॥
—उ० कां०, 315

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥
लखन राम सिय कानन बसहीं। भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं॥16॥
—अयो० कां०, 326

साम्य

वाक्य	चौपाई
समे, शुची, शर्करा-वह्नि-वालुका, शब्द, जल, आश्रय विवर्जिते मनोऽनुकूले, न तु चक्षुपीडने, गुहा निवातः — ध्यान का स्थान समतल, शुद्ध कंकड़-अग्नि-बालू से रहित, शब्द-जल-आश्रय से रहित, चक्षु को पीड़ा न देने वाला, गुफा आदि वायुशून्य स्थान अनुकूल होना चाहिए।	ध्यान-स्थान की उपयुक्तता सम्बन्धी सभी वाक्य-वर्णित गुण इस अर्ध चौपाई में समा गये हैं। 'महि खनि कुस साथरी सँवारी' पृथ्वी को खोदकर भरत जी ने अपने ध्यान का स्थान बनाया है। खुदा हुआ स्थान गुहा निवात, समतल, शुद्ध, चक्षु न पीडने, अग्नि-बालू-कंकड़ से रहित व अनुकूल ही होता है। इस प्रकार मानस की एक अर्ध चौपाई में उपनिषद्-वाक्य के समग्र भाव समाविष्ट हो गये हैं। दूसरी उल्लेखनीय बात है कि भरत जी के समान बनाया ध्यान स्थान सर्व सुलभ है। एकनिष्ठ साधक उसकी प्राप्ति स्वयं कर सकता है। मानस ने सदैव उपनिषद् भावों को जन-हिताय रूप देकर व्यक्त किया है, यह हम देखते ही आ रहे हैं।
मनः प्रयोजयेत्— मन को ध्यान में लगाने का अभ्यास करना चाहिए।	भक्ति-ग्रन्थ के नाते अभ्यास के स्थान पर पूजा का भाव मानस में आया है—'नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदयँ समात'— इसमें 'नित पूजत' शब्दों में अभ्यास का भाव है। जिस वस्तु का अभ्यास करना होता है, वही वस्तु नित्य की जाती है। 'प्रीति न हृदयँ समात' तथा 'पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू, जीह नाम जप लोचन नीरू' वह दृष्टांत है जिसके अनुरूप अभ्यास करना चाहिए। मानस काल का समुदाय औपनिषदिक काल के समान उपासना के हेतु आरण्यक सेवन नहीं

कर सकता था, अतः भरत उस दृष्टांत के तरह प्रस्तुत हैं जो गृहस्थ-आश्रम में ही भगवत्-प्राप्ति का अनुभव प्राप्त कर रहे हैं। भरत के क्षत्रिय रूप को ध्यान के ध्येय से ऋषि-रूप के अनुकूल स्वरूप व स्वभाव बनाना था, अतः

जटा-जूट सिर मुनि-पट धारी।
असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन ऋषि धरम सप्रेमा॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी। तन मन बचन तजे तिन तूरी ॥2॥

—अयो० कां०, 324

●●

(1) स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥14॥

—श्वेता० उ०, अ० 1

अपने शरीर को नीचे की अरणि और प्रणव को ऊपर की अरणि बना कर ध्यान के द्वारा निरन्तर मन्थन करते रहना चाहिए; छिपी हुई अग्नि के समान परम देव परमेश्वर को देखो।

(2) यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥13॥

--कठ० उप०, अ० 1, व० 3

बुद्धिमान साधक को चाहिए कि वाक् आदि समस्त इन्द्रियों को मन में निरुद्ध करे, उस मन को ज्ञानस्वरूपा बुद्धि में विलीन करे, ज्ञानस्वरूपा बुद्धि को महान आत्मा में विलीन करे, फिर उसको शान्त स्वरूप परमात्मा में विलीन करे।

(3) अनुज्ञात्रद्वयं लब्ध्वा उपद्रष्टारमाव्रजेदित्युपद्रष्टारमाव्रजेदिति ॥9॥

—नृसिंह० उप०, खं० 9

अविकल्प रूप से परमात्मा को जान कर उपद्रष्टा भाव को प्राप्त हो साक्षी भाव से अवस्थित हो जाए।

इन तीनों उपनिषद्-वाक्यों से निम्नांकित चौपाइयों का साम्य स्थापित होता है—

जोग अगिनि करि प्रगट तब, कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत, ममता मल जरि जाइ ॥117॥ (क)

तव विग्यानरूपिनी, वुद्धि विसद घृत पाइ।
चित्त दिआ भरि धरै दृढ़, समता दिअटि वनाइ ॥117॥ (ख)

तीनि अवस्था तीनि गुन, तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय संवारि पुनि, वाती करै सुगाढ़ि ॥117॥ (ग)

एहि विधि लेसै दीप, तेज रासि विग्यानमय।
जातहिं जासु समीप, जरहिं मदादिक सलभ सव ॥117॥ (घ)

—उ० कां०

अर्थ—तव योग रूपी अग्नि प्रकट करके, समस्त शुभाशुभ कर्म रूपी ईंधन लगा दे। जव ममता रूपी मल जल जाय, तव ज्ञान रूपी घी को वुद्धि से ठंडा करे, तव विज्ञान रूपी वुद्धि उस निर्मल घी को, उससे चित्त रूपी दिये को भर कर, समता की दीवट वना कर, उसको उस पर दृढ़तापूर्वक रक्खे। तीनों अवस्था, तीनों गुण रूपी कपास से तुरीय अवस्था रूपी रूई को निकाल कर, और फिर उसको सँवार कर उसकी सुन्दर कड़ी वत्ती वनाये। इस प्रकार तेज की राशि विज्ञानमय दीपक को जलाए, जिसके समीप जाते ही मद आदि सव पतंगे जल जायें।

साम्य

वाक्य	चौपाई
1. 'स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्'—देह को नीचे की अरणि व ओंकार को ऊपर की अरणि वना कर।	वाक्य में जो अग्नि प्रज्वलित करने की विधि वताई है, वास्तव में वह चौपाई वर्णित 'योग अग्नि' है। जीवन ज्योति को अखंड ज्योति से मिलाना ही योग है। वाक्य ने उसको क्रिया रूप में वताया है क्योंकि वेदान्त साधक उसके जानने के अधिकारी थे—मानस का साधरण जनों का भक्त समुदाय उस प्रक्रिया व अरणि-भेद को न समझ सकेगा। अत: मानस वाक्य-वर्णित अग्नि को 'योग अग्नि' कहकर संतुष्ट हो जाती है।
2. वाक् मनसी यच्छेत्—(वाक् आदि इन्द्रियों को मन में निरुद्ध करे)	'वुद्धि सिरावै ग्यान घृत ममता मल जरि जाय' जव ममता रूपी मल जल जाय तव ज्ञान रूपी घृत को वुद्धि से ठंडा करे, ऐसी मानस चौपाई की सीख है। ममता रूपी मल का जल जाना ही मन का वुद्धि स्वरूप में विलीन हो जाना है। क्योंकि मन का पृथक् अस्तित्व केवल तभी तक है, जव तक वह संसारी है (ममता मल आदि

संसार के गुण हैं)। सांसारिक भाव दूर होते ही मन का अस्तित्व स्वतः ही मिट जाता है और वह बुद्धि में विलीन हो जाता है। चौपाई ने मन शब्द का प्रयोग न करके मन के गुण (ममता मल) को मन के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किया है। वाक्य में जिस भाव को 'ज्ञान स्वरूप बुद्धि' कहकर अभिव्यक्त किया गया है, मानस ने उसी भाव को 'बुद्धि निरावै ग्यान घृत' कहकर व्यक्त किया है। 'बुद्धि निरावै ग्यान घृत' 'ज्ञानस्वरूप बुद्धि' कहने का एक रंजित रूप है।

'ज्ञानम् महति आत्मनि नियच्छेत्'— ज्ञान-स्वरूप बुद्धि को महती आत्मा में विलीन करे।

'तब विग्यान रूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ एहि विधि लेसै दीप, तेज रासि बिग्यानमय' वाक्य वर्णित 'ज्ञानम्' का अर्थ है ज्ञानस्वरूपिणी बुद्धि। इस प्रकार दोनों का भाव साम्य स्पष्ट प्रतीत होता है। वाक्य वर्णित 'महति आत्मनि' को चौपाई में 'दीप तेजरासि बिग्यान-मय' कह कर वर्णित किया गया है। बीच की चौपाइयाँ क्रिया रूप हैं कि किस प्रकार यह विज्ञानमय दीपक प्रज्वलित किया जाए।

शान्ते आत्मनि यच्छेत् — शान्तिस्वरूप परमपुरुष परमात्मा में आत्मा का विलय कर दे।

'जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब' इस चौपाई में मानस ने परमात्मा के 'शान्त आत्मनी' की स्थापना की है। मदादिक आदि शलभों के जल जाने पर उसके शान्त स्वरूप की अनुभूति होती है।

'अनुज्ञामद्वयं लब्ध्वा उपद्रष्टारमाव्रजेत्'— अविकल्प रूप से आत्मा को जान कर उपद्रष्टा भाव को प्राप्त हो साक्षी भाव से स्थित हो जाए।

'तब सोइ बुद्धि पाइ उजियारा, उर गृहँ बैठि ग्रंथि निरुआरा' इस उपर्युक्त चौपाई में उपनिषद वाक्य भाव निहित है।[3] आत्मा को अविकल्प रूप से जानने के पश्चात् बुद्धि को सांसारिक वासनाओं में आकर्षण नहीं रह जाता, अतः बुद्धि प्रकाशमय हो जाती है। चौपाई में 'बुद्धि पाइ उजियारा' से इसी आत्मज्ञान के उजियारे से अभिप्राय है। चौपाइयाँ उपनिषद् वाक्य के भाव को रूपक में उतार कर व्यक्त कर रही हैं।

रूपक का क्रम भी यथावत् चल रहा है, और वाक्य का निहित भाव भी व्यक्त हो रहा है, इस उजियारे में वाक्य वर्णित साक्षी-भाव से स्थित होना ही हृदय-ग्रन्थियों को खोलना है (मानस)।

संदर्भ

1. 'सम जम नियम फूल फल ग्याना !'
2. काकभशुंडि मागु बर, अति प्रसन्न मोहि जानि।
   अनिमादिक सिधि अपर रिधि, मोच्छ सकल सुख खानि ॥83॥ (ख)

ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना ॥
आजु देउँ सब संसय नाहीं। मागु जो तोहि भाव मन माहीं ॥
सुनि प्रभु बचन अधिक अनुरागेउँ। मन अनुमान करन तब लागेऊँ ॥
प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही ॥
भगतिहीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे ॥
भजनहीन सुख कवने काजा। अस बिचारि बोलेउँ खगराजा ॥
जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मो पर करहु कृपा अरु नेहू ॥
मन भावत बर मागउँ स्वामी। तुम्ह उदार उर अन्तरजामी ॥

अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव ॥84॥ (क)
भगत कल्पतरु प्रनत हित, कृपासिंधु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु, देहु दया करि राम ॥84॥ (ख)

एवमस्तु कहि रघुकुलनायक। बोले बचन परम सुखदायक ॥
सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न मागसि अस बरदाना ॥
सब सुख खानि भगति तैं मागी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी ॥
जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं ॥2॥

—उ० कां०, 85(क)

3. जिस रूपक-क्रम में यह चौपाई आई है उसमें 'सोऽहमस्मि अति वृत्ति अखंडा' के रूप से परमात्मा-स्वरूप पर संकेत हो चुका है तथा अविकल्प रूप से आत्मा को जानने का भाव आ गया है। रूपक का प्रत्येक भाव एक दूसरे पर आधारित होकर चलता है, अतः यहाँ ऊपर की चौपाई को उद्धृत करना आवश्यक हो गया।

नाम-स्मरण

वस्तुत: नाम में व्यक्ति के स्वरूप के साथ-साथ उसके गुणों का भी समावेश होता है। भक्ति-साहित्य में नाम वह माध्यम है, जिसकी सहायता से साधक उस परम तत्त्व की अनुभूति करता है, जिसका साक्षात्कार करने की साधक की उत्कट अभिलाषा होती है।

व्यवहार की साधारण-सी बात से स्पष्ट होता है कि बड़े आदमी का नाम उस से भी बड़ा होता है। राष्ट्रपति स्वयं कागज के हर एक पुर्जे के साथ नहीं चलते, उनका नाम ही उसको चलाता है। यह भी सुना जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति इससे आशंकित रहता है कि उसके नाम पर आँच न आए। इससे प्रत्यक्ष है कि नाम का अलग व्यक्तित्व है।

भगवान् के नाम को नियमित एवं निरन्तर एकाग्र भाव से जपना ही 'जप योग' है। 'जप' 'ध्यान' का प्रथम सोपान है। 'नाम' रूपधारी को एक स्वरूप में बाँध कर सम्मुख उपस्थित कर देता है। अत: वह भक्ति-साहित्य का ऐसा माध्यम है जो इष्टदेव से मिलन की उत्कट अभिलाषा को परिपूर्ण करता है। इसकी सुगमता व सरलता इसे सर्वसुलभ बना देती है।

'मानस' में राम-महिमा के पूर्व 'राम नाम' की महिमा अत्यन्त वैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत हुई है। 'राम' नाम पर आस्था होने के पश्चात् ही राम-स्वरूप पर विश्वास जमता है।

1 हरि: ॐ॥ द्वापरान्ते नारदो ब्रह्माणं जगाम, 'कथं भगवन्, गां पर्यटन्कलिं संतरेयमिति। स होवाच ब्रह्मा साधु पृष्टोऽस्मि सर्वश्रुतिरहस्यं गोप्यं तच्छृणु येन कलिसंसारं तरिष्यसि। भगवत आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारण-मात्रेण निर्धूतकलिर्भवति। नारद: पुन: प्रपच्छ तन्नाम किमिति। स होवाच हिरण्यगर्भ:। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥1॥ इति षोडषकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम्। नात: परतरोपाय: सर्ववेदेषु दृश्यते ॥2॥ इति षोडशकलावृतस्य जीवस्यावरणविना-शनम्। तत: प्रकाशते परं ब्रह्म मेघापाये रविरश्मिमंडली वेति। पुनर्नारद:

प्रपच्छ – भगवन्कोऽस्य विधिरिति । तं होवाच नास्य विधिरिति । सर्वदा शुचिरशुचिर्वा पठन्ब्राह्मणः सलोकतां समीपतां सरूपतां सायुज्यतामेति । यदाऽस्य षोडशीकस्य सार्धत्रिकोटीर्जपति तदा ब्रह्महत्यां तरति । तरति वीरहत्याम् । स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति । पितृदेवमनुष्याणामपकारात्पूतो भवति । सर्वधर्मपरित्यागपापात्सद्यः शुचितामाप्नुयात् । सद्यो मुच्यते सद्यो मुच्यते इत्युपनिषत् ॥3॥ हरिः ॐ तत् सत् (कलिसंतरणोपनिषद्) ।

भावार्थ – द्वापर के अन्त में नारद जी ब्रह्मा के पास गए। उनसे पूछा, "भगवन् पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए कलियुग के दोषों से कैसे मुक्ति हो ? ब्रह्मा ने नारद से कहा, 'आपने बहुत सुन्दर प्रश्न किया है। वेद का गुप्त रहस्य मैं आपको बताता हूँ, जिससे कलियुग रूपी संसार से पार हो जायें। आदिपुरुष भगवान् के नाम-उच्चारण मात्र से मनुष्य पाप रहित हो जाता है। नारद ने पुनः पूछा, 'वह नाम कौन है ? ब्रह्मा ने कहा 'हरे राम ! हरे राम ! राम राम हरे हरे ! हरे कृष्ण ! हरे कृष्ण ! कृष्ण कृष्ण हरे हरे। यह सोलह अक्षरों वाला जो मंत्र है, कलियुग के पापों का नाश करने वाला है। सभी वेदों में इस-से श्रेष्ठ कोई उपाय नहीं है। प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मंत्र, कर्म, लोक, नाम ये इन सोलह कलाओं से आवृत जीव का आवरण विनाश करने वाले हैं। पुनः नारद ने पूछा, ' हे भगवन्! इस नाम के जपने की विधि क्या है ? ब्रह्मा ने कहा, 'इसकी कोई विधि नहीं है। साधक इस नाम को पवित्र या अपवित्र सभी काल में जप सकता है। इसके जाप से सालोक्य, समीप्य, सारूप्य, सायुज्य इन चारों मुक्तियों को प्राप्त होता है। जो इस सोलह अक्षरों वाले नाम का साढ़े तीन करोड़ जाप कर लेता है, वह ब्रह्महत्या से मुक्त हो जाता है। वीर-हत्या से भी वह मुक्त हो जाता है। स्वर्ण की चोरी के पाप से वह मुक्त हो जाता है। सभी धर्म-परित्याग से उत्पन्न पाप से शीघ्र ही पवित्र हो जाता है। शीघ्र ही मुक्त हो जाता है, शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति ॥1॥

—छां॰ उप॰, 6-9-5

वह जो कि नाम की ब्रह्म रूप से उपासना करता है, उसकी जहाँ तक नाम की गति है, वहाँ तक यथेच्छ गति हो जाती है ।

3. याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति नामेत्यनन्तं वै नामानन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥2॥

—बृ॰ उप॰, अ॰ 3, ब्रा॰ 2

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अमितभाग ने कहा, 'जिस समय यह पुरुष मरता है, जिज्ञासा होती है कि उस समय उसे क्या नहीं छोड़ता ? केवल नाम ही नहीं

छोड़ता है। यह नाम ही अनन्त है, विश्वेदेव भी अनन्त हैं, इस अनन्त ध्यान के द्वारा वह अनन्त लोक को भी जीत लेता है।

रामनाम-स्मरण की महिमा पर प्रकाश डालनेवाली तथा उपनिषद्-वाक्यों से साम्य रखनेवाली चौपाइयाँ —

> बंदउँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को।
> बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो।।1।।
> महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासीं मुकुति हेतु उपदेसू।
> महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ।।2।।
> जान आदिकबि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू।
> सहस नाम सम सुनि सिव बानी। जपि जेईं पिय संग भवानी।।3।।
> हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषन तिय भूषन ती को।
> नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को।।4।।
>
> बरषा रितु रघुपति भगति, तुलसी सालि सुदास।
> राम नाम बर बरन जुग, सावन भादव मास।।19।। (बा० कां०)
>
> आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन बिलोचन जन जिय जोऊ।।
> सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू।।1।।
> कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लखन सम प्रिय तुलसी के।।
> बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती।।2।।
> नर नारायन सरिस सुभ्राता। जग पालक बिसेषि जन त्राता।।
> भगति सुतिय कल करन बिभूषन। जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन।।
> स्वाद तोष सम सुगति सुधा के। कमठ सेष सम धर बसुधा के।।
> जन मन मंजु कंज मधुकर से। जीह जसोमति हरि हलधर से।।4।।
>
> एकु छत्रु एकु मुकुट मनि, सब बरननि पर जोउ।
> तुलसी रघुबर नाम के, बरन बिराजत दोउ।।20।।

अर्थ — मैं रघुनाथ जी के नाम 'राम' की वन्दना करता हूँ जो र, आ, म के रूप में अग्नि, सूर्य व चन्द्रमा का बीज रूप है। यह ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूप है। वह वेदों का प्राण है। निर्गुण, उपमारहित और गुणों का भंडार है।।1।। यह वह महामंत्र है जिसको शिवजी जपते हैं, और काशी में इसी के द्वारा मुक्ति का उपदेश देते हैं। गणेश जी इसकी महिमा जानते हैं और इसी के प्रभाव से सर्वप्रथम पूजे जाते हैं।।2।। वाल्मीकि जी इसके प्रभाव को जानते हैं जो उल्टा जाप जप कर भी पवित्र हो गये। शिवजी द्वारा यह जान कर कि एक राम नाम सहस्र नाम के बराबर है, पार्वती जी सदा अपने पति के साथ राम नाम का जप करती हैं।।3।। नाम के प्रति उनकी प्रीति देख कर शिवजी ने हर्षित हो पार्वती जी को अपना

समुझत सरिस नाम अरु नामी । प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी ।।
नाम रूप दुइ ईस उपाधी । अकथ अनादि सुसामुझि साधी ।।1।।
को बड़ छोट कहत अपराधू । सुनि गुन भेदु समुझिहहिं साधू ।।
देखिअहिं रूप नाम आधीना । रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना ।।2।।
रूप बिसेष नाम बिनु जानें । करतल गत न परहिं पहिचानें ।।
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें । आवत हृदय सनेह बिसेषें ।।3।।
नाम रूप गति अकथ कहानी । समुझत सुखद न परति बखानी ।।
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी । उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी ।।4।।

राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरीं द्वार ।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ, जौं चाहसि उजियार ।।21।। बा० कां०

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी । बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी ।।
ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा । अकथ अनामय नाम न रूपा ।।1।।
जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ । नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ ।।
साधक नाम जपहिं लय लाएँ । होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ ।।2।।

भूषण बना लिया । नाम का प्रभाव शिवजी जानते हैं, उसी के कारण कालकूट जहर ने उनको अमृत का फल दिया ।4। तुलसीदास जी कहते हैं—उत्तम सेवकगण धान हैं, और राम नाम के दो सुन्दर अक्षर सावन और भादों के महीने हैं । दोनों अक्षर मधुर और मनोहर, वर्णमाला शरीर के नेत्र, भक्त-स्मरण के लिए सुखदायक और सुलभ हैं, इस लोक का लाभ व परलोक में निर्वाह करने वाले हैं ।1। ये कहने, सुनने, स्मरण में मधुर, तुलसीदास जी को राम-लक्ष्मण के समान प्यारे, अलग-अलग उच्चारण में भिन्नता देखते हुए भी, जीव व ब्रह्म के समान स्वभाव से ही एक साथ रहने वाले हैं ।2। ये दोनों अक्षर नर-नारायण के समान सुन्दर भाई हैं, ये जगत का पालन व भक्तों की रक्षा करते हैं, भक्ति रूपिणी सुन्दर स्त्री के कानों के भूषण हैं, जगत के हित के लिए चन्द्रमा और सूर्य हैं ।3। ये मोक्ष रूपी अमृत के लिए स्वाद व तृप्ति के समान हैं, कच्छप व शेषजी के समान पृथ्वी को धारण करने वाले हैं, भक्तों के मन रूपी सुन्दर कमल में विहार करने वाले भौंरे के समान हैं, और जीव रूपी यशोदा के लिए श्रीकृष्ण व बलराम के समान हैं ।4। तुलसीदास जी कहते हैं—श्री रघुनाथ जी के नाम के दोनों अक्षर बड़ी शोभा देते हैं, इनमें एक (रकार) छत्र रूप में (रेफ) व दूसरा मुकुट-मणि (अनुस्वार) के रूप में सब अक्षरों के ऊपर है ।20।

नाम और नामी समझने में एक हैं, पर उनकी प्रीति स्वामी व सेवक की है । प्रभु श्रीराम अपने 'राम' नाम का ही अनुगमन करते हैं । नाम लेते ही वहाँ आ जाते हैं । नाम व रूप दोनों ईश्वर की उपाधि हैं, दोनों अनिर्वचनीय, अनादि व

जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ॥
राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा ॥3॥
चहू चतुर कहुँ नाम अधारा। ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पियारा ॥
चहुँ जुग चहुँ श्रुति नामप्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ ॥4॥

सकल कामनाहीन जे, राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद, तिन्हहुँ किए मन मीन ॥22॥

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा ॥
मोरें मत बड़ नामु दुहू तें। किए जेहिं जुग निज बस बूतें ॥1॥
प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की ॥
एकु दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू ॥2॥
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तें ॥
ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी ॥3॥
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी ॥
नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें ॥4॥

निरगुन तें एहि भाँति बड़, नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नामु बड़ राम तें, निज बिचार अनुसार ॥23॥

सुन्दर हैं। बुद्धि से ही उनका दिव्य अविनाशी स्वरूप जानने में आता है। इस नाम और रूप में कौन बड़ा और कौन छोटा है, यह तो कहना अपराध है। रूप नाम के आधीन देखे जाते हैं नाम के बिना रूप का ज्ञान नहीं होता ।2। कोई भी विशेष रूप बिना उसका नाम जाने हथेली पर रखा हुआ भी पहचाना नहीं जा सकता। रूप के बिना देखे भी नाम का स्मरण किया जाए तो विशेष प्रेम के साथ वह रूप हृदय में आ जाता है ।2। नाम व रूप की गति की कहानी अकथनीय है। वह सुख-दायक तथा अवर्णनीय है ।4।

भीतर व बाहर दोनों ओर उजाला चाहता है, तो मुख-रूपी द्वार की जीभ रूपी देहली पर राम-नाम रूपी मणि दीपक को रख ॥21॥ ब्रह्म-रचित इस प्रपंच जगत से वैराग्यवान मुक्त योगी पुरुष जीभ से ही नाम को जपते हुए (तत्त्व-ज्ञान रूपी) जगत में जागते हैं। परमात्मा के गूढ़ रहस्य को जानने वाले (जिज्ञासु) नाम को जीभ से जप कर जान लेते हैं। अर्थार्थी लौ लगा कर नाम को जपते हैं और अणिमादि सिद्धियों को पाकर सिद्ध हो जाते हैं ।2। अति भक्त नाम जप से महा संकट को काटते हैं। चारों प्रकार के भजनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी रामभक्त, पुण्यात्मा, पाप-रहित व उदार हैं ॥3॥ चारों भक्तों को राम-नाम का ही आधार है। ज्ञानी भक्त भगवान को विशेष रूप से प्रिय है। चारों वेदों में और चारों युगों में नाम का प्रभाव है, परन्तु कलियुग में विशेष रूप से; इसमें तो

राम भगत हित नर-तनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी ॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल वासा ॥1॥
राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥
रिपि हित राम सुकेतुसुता की। सहित सेन सुत कीन्हि विवाकी ॥2॥
सहित दोप दुख दास दुरासा। दवइ नामु जिमि रवि निसि नासा ॥
भंजेउ राम आपु भव चापू। भव भय भंजन नाम प्रतापू ॥3॥
दंडक वनु प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किए पावन ॥
निसिचर निकर दले रघुनंदन। रामु सकल कलि कलुप निकंदन ॥4॥

सवरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, वेद विदित गुन गाथ ॥24॥

राम सुकंठ विभीपन दोऊ। राखे सरन जान सव कोऊ ॥
नाम गरीव अनेक नेवाजे। लोक वेद वर विरिद विराजे ॥1॥
राम भालु कपि कटकु वटोरा। सेतु हेतु श्रमु कीन्ह न थोरा ॥
नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु विचारु सुजन मन माहीं ॥2॥

नाम के अन्यथा और कोई उपाय ही नहीं है।4। सव प्रकार के भोग-मोक्ष-कामना से रहित और राम रस में लीन जो भक्त हैं, उन्होंने भी नाम रस के सुन्दर सागर में अपने मन को मछली के समान वना रक्खा है ॥22॥ अकथनीय, अनादि, अथाह और अनुपम, निर्गुण व सगुण ब्रह्म के दोनों स्वरूपों में नाम दोनों से वड़ा है। उसने अपने वल से दोनों को वश में कर रक्खा है।1। दोनों प्रकार के ब्रह्म का ज्ञान अग्नि के समान है। निर्गुण अप्रकट अग्नि हैं; सगुण प्रकट अग्नि है। नाम से दोनों का जानना सुगम हो जाता है; इसीलिए मैंने राम को निर्गुण व सगुण से वड़ा कहा है। ब्रह्म व्यापक है, एक है, अविनाशी है, सत्ता, चैतन्य व आनन्द की घनराशि है ।2-3। ऐसे विकाररहित प्रभु के हृदय में रहते हुए भी जगत के सव जीव दीन व दुखी हैं। नाम का निरूपण करने से ब्रह्म ऐसे प्रकट हो जाता है जैसे रत्न के जानने से उसका मूल्य ॥4॥ इस प्रकार निर्गुण से नाम का प्रभाव अत्यन्त वड़ा है। मैं अपने विचार से कहता हूँ कि नाम राम से भी वड़ा है ॥23॥

श्री रामचन्द्रजी ने शरीर धारण कर स्वयं तो कष्ट पाया किंतु साधुओं को सुखी किया, परन्तु भक्त जन प्रेम के साथ जपते हुए सहज ही में आनन्द व कल्याण के घर वन जाते हैं। श्री रामचन्द्रजी ने अहल्या को ही तारा, परन्तु उनके नाम ने करोड़ों दुष्टों की विगड़ी वुद्धि सुधार दी। श्रीराम ने एक मुनि के लिए ताड़का व सुवाहु को मारा, परन्तु उनका नाम भक्तों के दोष, दुःख और दुराशाओं का ऐसे नाश कर देता है जैसे सूर्य रात्रि का।2। श्रीराम जी ने तो स्वयं शिवजी के धनुष को तोड़ा, परन्तु उनके नाम का प्रताप ही संसार के सव भयों का नाश करने वाला

राम सकुल रन रावनु मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा ॥
राजा रामु अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनिवर बानी ॥3॥
सेवक सुमिरत नामु सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती ॥
फिरत सनेहँ मगन सुख अपनें। नाम प्रसाद सोच नहिं सपनें ॥4॥

ब्रह्म राम तें नामु बड़, बर दायक बर दानि ॥
रामचरित सत कोटि महँ, लिय महेस जियँ जानि ॥25॥

नाम प्रसाद संभु अविनासी। साजु अमंगल मंगल रासी ॥
सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। नाम प्रसाद ब्रह्म सुख भोगी ॥1॥
नारद जानेउ नाम प्रतापू। जग प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू ॥
नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू ॥2॥
ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ ॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू ॥3॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ ॥
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई ॥4॥

नामु राम को कलपतरु, कलि कल्यान निवासु ।
जो सुमिरत भयो भाँग तें, तुलसी तुलसीदासु ॥26॥

है।3। प्रभु रामजी ने दंडक वन को सुहावना बनाया, परन्तु उनके नाम ने असंख्य मनुष्यों को पावन कर दिया। श्रीरघुनाथजी ने राक्षसों के समूह को मारा, परन्तु उनके नाम ने कलियुग की जड़ उखाड़ दी ॥4॥ श्री रघुनाथ जी ने शबरी, जटायु आदि उत्तम सेवकों को ही मुक्ति दी, परन्तु नाम ने अगणित दुष्टों का संहार किया। नाम की गुण-गाथा वेदों ने गायी है।24। श्रीराम जी ने सुग्रीव व विभीषण को अपनी शरण में रखा, परन्तु उनके नाम ने अनेक गरीबों पर कृपा की है। नाम का यह सुन्दर विरद लोक और वेद में विशेष रूप से प्रसिद्ध है ।1। श्रीराम ने वानर सेना के साथ परिश्रम से पुल बाँधा, परन्तु उनका नाम लेते ही संसार-रूपी सागर सूख जाता है ॥2॥ श्री रामचन्द्र ने कुटुम्ब सहित रावण को युद्ध में मारा, तब सीता सहित नगर में प्रवेश किया, राम राजा हुए, अयोध्या उनकी राजधानी हुई, देवता व मुनि सुन्दर वाणी से उनके गुण गाते हैं, सेवक नाम-स्मरण से मोह की प्रबल सेना को जीत कर मग्न रहते हैं। राम-प्रसाद से उनको कोई चिन्ता नहीं सताती।3-4। इस प्रकार नाम निर्गुण ब्रह्म और सगुण राम दोनों से बड़ा है। यह वरदान देने वालों को भी वर देने वाला है ॥25॥ नाम ही के प्रसाद से शिवजी अविनाशी हैं, अमंगल-वेशी होने पर भी मंगल की राशि हैं। शुकदेव, सनकादि, सिद्ध, मुनि, योगी राम के प्रसाद से ही ब्रह्मानन्द को भोगते हैं ।1। नारद जी नाम के प्रताप को जानते हैं, वे हरि व हर दोनों को प्रिय हैं। नाम के जपने से प्रभु-

चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका ॥
बेद पुरान संत मत एहू । सकल सुकृत फल राम सनेहू ॥1॥
ध्यानु प्रथम जुग मख बिधि दूजें। द्वापर परितोषत प्रभु पूजें ॥
कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना ॥2॥
नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला ॥
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता ॥3॥
नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू ॥
कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू ॥4॥

राम नाम नर केसरी, कनककसिपु कलिकाल ।
जापक जन प्रह्लाद जिमि, पालिहि दलि सुरसाल ॥27॥

भायँ कुभायँ अनख आलस हूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥
सुमिरि सो नाम राम गुन गाथा। करउँ नाइ रघुनाथहि माथा ॥1॥

कृपा से प्रह्लाद भक्तशिरोमणि हो गये ।2। ध्रुवजी ने ग्लानि से राम-नाम जपा और अनुपम स्थान प्राप्त किया। हनुमान जी ने नाम के प्रताप से श्रीराम जी को वश में कर लिया। नीच अजामिल, गज, गणिका भी श्रीहरि के प्रताप से मुक्त हो गए। नाम की बड़ाई मैं कहा तक करूँ, राम भी नाम के गुणों को नहीं गा सकते ।4। कलियुग में भगवान् राम का नाम कल्पतरु है, और कल्याण का निवास है। उसका स्मरण करने से भाँग-सा निकृष्ट तुलसीदास भी तुलसी के समान पवित्र हो गया ॥26॥

चारों युग में, तीनों काल में, और तीन लोक में नाम का जाप कर जीव शोक रहित हुए है। वेदों, पुराणों और संतों का यही मत है कि समस्त पुण्यों का फल श्रीराम जी में प्रेम होना है ॥1॥ पहले युग में धर्म से, दूसरे युग में यज्ञ से, द्वापर में पूजन से भगवान् प्रसन्न होते हैं। कलियुग पाप की जड़ और मलिन है, मनुष्यों का मन पाप रूपी समुद्र में मछली बना हुआ है ।2। ऐसे कराल काल में तो नाम ही कल्पवृक्ष है जो स्मरण करते ही संसार के सब जंजालों का नाश कर देता है। कलियुग में राम नाम मनोवांछित फल देने वाला है। परलोक का परम हितैषी इस लोक का माता-पिता है ।3। कलियुग में न कर्म है, न भक्ति है, न ज्ञान है, राम नाम ही एक आधार है। कपट की खान कलियुग रूपी कालनेमि को मारने के लिए राम नाम ही बुद्धिमान् और समर्थ श्रीहनुमानजी हैं ।4। राम नाम श्री नरसिंह भगवान् है, कलियुग हिरण्यकश्यप है, और जप करने वाले जन प्रह्लाद के समान हैं। यह राम नाम देवताओं के शत्रु (कलियुग रूपी दैत्य) को मार कर जप करने वालों की रक्षा करता है ॥26॥

अच्छे भाव से, बुरे भाव से, क्रोध या आलस्य से, किसी तरह से भी नाम

साम्य :

वाक्य	चौपाई
1. कथं भगवान् गां पर्यतन् कलिं संतरेयमिति। षोडशकं नाम्ना कलि कल्मष नाशनम्—(हे भगवान्! पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए कलियुग के दोषों से कैसे मुक्त हों? यह सोलह अक्षरों वाला मंत्र कलियुग के पापों का नाश करने वाला है)	इस प्रश्न के उत्तर में मानस प्रह्लाद का दृष्टांत सम्मुख रखती है—जो कलिकाल में हिरण्य-कश्यप से राम-नाम के कारण तर गया— 'राम नाम नर केसरी कनक सिपु कलिकाल। जापक जन प्रहलाद जिमि, पालिहि दलि सुर साल।' 'नामु सकल कलि कलुष निकंदन' 'नहि कलि करम न भगति विवेकू, राम नाम अवलंबन एकू' 'कलि विसेषि नहि आन उपाऊ' 'राम नाम कलि अभिमतदाता' 'नामु राम को कलपतरु, कलि कल्यान निवासु'
2. 'सर्वश्रुतिरहस्यं गोप्यं'—(सब श्रुतियों का गुप्त रहस्य है।) 'नातः परतरोपायः सर्व-वेदेषु दृश्यते—(सब वेदों में इससे श्रेष्ठ कोई उपाय नहीं है।)	'वेद पुरान संत मत एहू' 'वेद विदित गुन-गाथ' 'लोक वेद वर विरिद विराजे' 'चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ'
3. 'भगवत आदि पुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारण-मात्रेण निर्धूतकलिरिति' (आदि पुरुष नारायण का नाम उच्चारण करने मात्र से मनुष्य कलिपाप रहित	'जन मन अमित नाम किए पावन' 'नाम उधारे अमित खल' 'नाम गरीब अनेक निवाजे' 'सेवक सुमिरत नाम सुप्रीती, बिनु श्रम प्रबल मोह दल जीती' फिरत सनेह मगन सुख अपनें, नाम प्रसाद सोच नहि सपनें'

जपने से दसों दिशाओं में कल्याण होता है। उसी राम का स्मरण करके और श्री रघुनाथ जी को मस्तक नवा कर मैं राम-नाम के गुणों का वर्णन करता हूँ।1।

हो जाता है।)	'नामु सप्रेम जपत अनयासा, भगत होंहि मुद मंगल वासा' आखर मधुर मनोहर दोऊ, वरन विलोचन जन जिय जोऊ' सुमिरत सुखद सुलभ सब काहू, लोक लाहु परलोक निबाहू' उपर्युक्त चौपाइयों में 'बिनु श्रम', 'अनयासा' तथा 'सुलभ' शब्द उस सहजता के द्योतक हैं जो वाक्य में 'मात्रेण' शब्द द्वारा व्यक्त है। भगवान का नाम-मात्र उच्चारण कर लेने से कलिताप नष्ट हो जाता है। 'मात्र' शब्द का भाव : जो कार्य सहजता से हो जाय—बिनु श्रम, अनयासा तथा सुलभ शब्द, 'मात्र' शब्द की अकथ सहजता को स्पष्ट कर रहे हैं।
4. इति षोडशकलावृतस्य जीवस्यावरणविनाशनम्— इन सोलह कलाओं से आवृत जीव का आवरण विनाश करने वाले हैं।	'नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं' 'नाम कामतरु काल कराला' सुमिरत समन सकल जग जाला'
5. नास्य विधिरिति— (इसके पठन की कोई विधि नहीं है।)	'भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥'
6. पठन्ब्राह्मणः सलोकतां समीपतां, सरूपतां, सायुज्यतां एति। इसके जाप से सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य, इन चारों मुक्तियों की प्राप्ति होती है।	'नाम प्रसाद संभु अविनासी, साजु अमंगल मंगल रासी। सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी, नाम प्रसाद ब्रह्म सुख भोगी। नारद जानेउ नाम प्रतापू, जग प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू, भगत सिरोमनि भे प्रहलादू। ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरि नामू, पायउ अचल अनूपम ठाऊँ।

सुमिरि पवनसुत पावन नामू,
अपने वस करि राखे रामू'

उपरोक्त चौपाइयों में उपनिषद्-वाक्य के चारों भाव आ गए हैं।

सारूप्य — शिव को सरूपता प्राप्त है। वे अमंगल वेष-धारी होकर भी मंगल की राशि हैं। मंगलमय होना भगवान् का स्वरूप है।

सायुज्य — शुक व सनकादि को सायुज्यता प्राप्त है. अतः वे ब्रह्मसुख के भोगी हैं।

सामीप्य — नारद व पवन-सुत को समीपता प्राप्त है। दोनों ही भगवान को प्रिय हैं।

'नारद जानेउ नाम प्रतापू,
जग प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू'
'सुमिरि पवनसुत पावन नामू,
अपने वस करि राखे रामू'

सालोक्ता — ध्रुव को सालोक्यता प्राप्त है— पायउ अचल अनूपम ठाऊँ।

6. ब्रह्महत्यां तरति। वीरहत्यां तरति। स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति। पितृदेवमनुष्याणामपकारापूतो भवति। सर्वं धर्मपरित्यागपापात्सद्य: शुचितामाप्नुयात्।

ब्रह्म-हत्या तथा स्वर्णस्तेय के दोषी अपने प्रारंभिक जीवन में वाल्मीकि जी थे, वे उल्टा नाम जप कर शुद्ध हो गये। वे जाप द्वारा ब्रह्महत्या व स्वर्णस्तेय से तर जाने वाले प्राणी के उदाहरण रूप प्राप्त हैं। इस प्रकार ब्रह्महत्यां तरति तथा स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति का भाव पूरा होता है।

'जान आदिकवि नाम प्रतापू,
भयउ सुद्ध करि उल्टा जापू'

वीरहत्यां तरति

(1) 'राम सुकंठ बिभीषन दोऊ,
राखे सरन जान सब कोऊ'

(2) 'नाम गरीब अनेक नेवाजे'

(1) सुग्रीव व विभीषण भ्रातद्रोही व वीर-हत्या के दोषी हैं। सब जानते हैं भगवान ने उनको अपनी शरण में लिया है। जो

भगवान् की शरण में चला जाता है, वह तर जाता है। इस प्रकार 'वीरहत्यां तरति' का भाव पूरा होता है।

(2) उनसे भी अधिक गरीबों को नाम ने तार दिया।

अपकारात्पूतो भवति

भगवान् का नाम 'अपकारात्पूतो भवति' के उदाहरण-स्वरूप मानस अहल्या का दृष्टांत प्रस्तुत करती है :

'राम एक तापस तिय तारी,
नाम कोटि खल कुमति उधारी'

अपकार कुमति का परिणाम है। मानस उपनिषद् भावों को ग्रहण कर तथा दृष्टांत देकर उनकी पुष्टि कर रही है।

सर्वधर्म-परित्याग रूपी पाप

'अपतु अजामिल गजु गनिकाऊ,
भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ'

अजामिल नीच था और गणिका वेश्या— न नीच का कोई धर्म होता है, न वेश्या का। अर्थोपार्जन में वे किसी नैतिकता का मूल्य नहीं रखते, किसी देश, अवस्था, काल या आश्रम का धर्म नहीं निभाते।

सद्यो मुच्यते
(शीघ्र ही मुक्त हो जाते हैं)

सर्वप्राणी राम-नाम लेकर तर जाते हैं का वाक्य भाव निम्नांकित चौपाइयों में प्राप्त है :

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी,
बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी।

ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा,
अकथ अनामय नाम न रूपा।

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ,
नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ।

साधक नाम जपहिं लय लाएँ,
होंहि सिद्ध अनिमादिक पाएँ।

जपहिं नाम जन आरत भारी,
मिटहिं कुसंकट होंहि सुखारी।

राम भगति जग चार प्रकारा,
सुकृती चारिउ अनघ उदारा।

चहू चतुर कहुँ नाम अधारा,
ग्यानी प्रभुहि बिसेष पियारा।

साधना के परिणाम

अध्यात्म-साहित्य के[1] छह प्रमाण माने जाते हैं। इन छह प्रमाणों में पूरा उतरने पर ही किसी भी ग्रन्थ की गणना अध्यात्म-साहित्य में हो सकती है। यह शीर्षक अध्यात्म-साहित्य 'रामचरितमानस' के अन्तिम प्रमाण के अन्तर्गत आता है। दर्शन साहित्य को यह एक पूर्णता प्रदान करता है।

1. य एतदुपनिषदं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स आदित्यपूतो भवति। अरोगी भवति। श्रीमांश्च भवति। पुत्रपौत्रादिभिः समृद्धो भवति। विद्वांश्च भवति। महापातकात्पूतो भवति। सुरापानात्पूतो भवति। अगम्यागमनात्पूतो भवति। मातृगमनात्पूतो भवति। दुहितृस्नुषाभिगमनात्पूतो भवति। स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति। वेदिजन्महानात्पूतो भवति। गुरोरशुश्रूषणात्पूतो भवति। अयाज्ययाजनात्पूतो भवति। अभक्ष्यभक्षणात्पूतो भवति। उग्रप्रतिग्रहात्पूतो भवति। परदारगमनात्पूतो भवति। कामक्रोधलोभमोहेर्ष्यादिभिरबाधितो भवति। सर्वेभ्यो पापेभ्यो मुक्तो भवति। इह जन्मनि पुरुषो भवति ॥1॥ मुद्गलोपनिषद्।

अर्थ—जो इस उपनिषद् का नित्य अध्ययन करता है वह अग्निपूत होता है। वह वायुपूत होता है। वह आदित्यपूत होता है। वह रोगहीन होता है। श्रीसम्पन्न हो जाता है। पुत्र-पौत्र की समृद्धि से युक्त होता है। विद्वान् हो जाता है। महापापों से पवित्र हो जाता है—(सर्व महा अघ-पाप, जिनसे वह पवित्र हो जाता है उनकी यहाँ सूची दी हुई है)—काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्यादि से बाधित नहीं होता। सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। इसी जन्म में वह पुरुष (परमात्म रूप) हो जाता है।

(1) पृथ्व्यप्तेजोऽनिखले समुत्थिते
पंचात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥12॥ —श्वेता० उप०, अ० 2

अर्थ —पंच[2] गुण योग सिद्धि के पश्चात् योगाग्निमय शरीर को प्राप्त साधक को न रोग होता है, न बुढ़ापा आता है, न उसकी मृत्यु होती है।

(3) न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य च चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥20॥
—श्वेता० उप०, अ० 4

इस परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप दृष्टि के सामने नहीं ठहरता, उस परमात्मा को कोई भी आँखों से नहीं देख सकता। जो साधकगण इस हृदय में स्थित अन्तर्यामी परमेश्वर को भक्तियुक्त हृदय से निर्मल मन के द्वारा इस प्रकार जान लेते हैं, वे अमृत-स्वरूप हो जाते हैं।

(4) अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥8॥
— श्वेता० उप०, अ० 1

जीवात्मा इस जगत के विषयों का भोक्ता बना रहने के कारण प्रकृति के आधीन हो इससे बँध जाता है। वह उस परमदेव परमेश्वर को जान कर सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

(5) तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥10॥
ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥11॥
—श्वेता० उप०, अ० 1

उसका निरन्तर ध्यान करने से, उसी में तत्पर हो जाने से अन्त में उसी को प्राप्त होता है, और समस्त विश्वमाया की निवृत्ति हो जाती है ॥10॥ उस परम-देव का निरन्तर ध्यान करने पर उस प्रकाशमय परमात्मा को जान लेने पर समस्त बन्धनों का नाश हो जाता है। शरीर का नाश होने पर तीसरे लोक तक के समस्त ऐश्वर्यों का त्याग करक सर्वदा विशद्ध एवं पूर्णकाम हो जाता है।

(6) सूक्ष्म......
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥14॥
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥15॥
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥16॥
—श्वेता० उप०, अ० 4

समस्त जगत को परिवेष्टन में लिये हुए, अद्वितीय शिव को जानने के पश्चात् मनुष्य चिर शान्ति प्राप्त कर लेता है ॥14॥ जिसका महर्षि व देवता लोग भी ध्यान करते हैं, उसको जानकर मनुष्य मृत्यु के बन्धनों को भी काट डालता है ॥15॥ जो सर्व जगत को आवृत किये हुए है, उसको जान कर मनुष्य समस्त बन्धनों से छूट जाता है ॥16॥

(7) यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ।।9।।
—केन उप०, खं० 4

जो कोई भी इस ब्रह्म विद्या को पूर्वोक्त प्रकार से भली-भांति जान जाता है, वह समस्त पाप-समूह को नष्ट करके अविनाशी, सर्वश्रेष्ठ परम-धाम में प्रतिष्ठित हो जाता है। सदा के लिए अवस्थित हो जाता है।

(8) यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्त स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। ।।5।।
—प्रश्न उप०, प्र० 5

उपासना के फल द्वारा मनुष्य तेजोमय सूर्य को प्राप्त होता है; अनिष्ट-कृत्य-पापादि से वह इस प्रकार मुक्त हो जाता है, जैसे सर्प केंचुली से। समागम द्वारा वह विधाता को प्राप्त करता है, और तेजोमय पुरुष द्वारा वह हृदय में साक्षात्कार करनेवाले परमात्मा को प्राप्त होता है।

(9) नैनं कृताकृते तपतः, एत मुहैवेते न तरतः ।। बृह० उप० 4/4/22

उस विद्वान् को किया हुआ और न किया हुआ नित्य कर्म ताप नहीं देता।

(10) तस्यैव स्यात् पदवित्तं नैनं कृताकृते तपतः; एत मुहैवेते न तरतः। विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन।
—बृह० उप०, 4/4/23

उस विद्वान् पुरुष को विधि-निषेध (कर्मों का करना या न करना) बांधते नहीं हैं।

(11) अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते ।।15।।
—बृह० उप०, अ० 1, ब्रा० 4

इस आत्मा (आत्म-उपासना) से प्राणी जिस-जिस वस्तु की कामना करता है, उसीको प्राप्त करता है।

(12) (i) वेदा......
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।8।।
श्वेता० उप०, अ० 3

उसको जानकर ही मृत्यु का उल्लंघन कर जाता है। परम पद की प्राप्ति के लिए दूसरा मार्ग नहीं है।

(ii) एको......
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।12।।
—श्वेता० उप०, अ० 6

जो इस प्रकार विचार करता है, उसी धीर पुरुष को शाश्वत शांति मिलती है, दूसरों को नहीं।

(12) तद्य एवैतं ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाम्
सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥3॥ —छां० उप०, 8/4

जो ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य द्वारा जानते हैं, उन्हीं को यह लोक प्राप्त होता है, तथा सम्पूर्ण लोकों में उनको यथेच्छ गति प्राप्ति होती है।

(13) अर्थात्......

स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड-
आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति। तस्य सर्वेषु लोकेषु काम-
चारो भवति। अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवंति
तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥2॥ —छां० उप०, 7/25

आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन, आत्मानन्द जो होता है, वह स्वराट् है; सम्पूर्ण लोकों में उसे यथेच्छ गति प्राप्त होती है। जो इसके विपरीत है, वह अन्यराट् है, वे क्षय्य लोक होते हैं, अन्य लोकों में उनकी स्वेच्छागति नहीं होती।

(14) तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥26॥
—श्वेता० उप०, अ० 4

जो मनुष्य उस संकल्परहित परमेश्वर और उसकी महिमा को देख लेता है, वह सर्व प्रकार के दुःखों से रहित हो जाता है।

(15) समाने...

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥7॥
—श्वेता० उप०, अ० 4

परमेश्वर व उनकी महिमा को देखनेवाला शोक-रहित हो जाता है।

(16) मतोमातो......

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति।
—तै० उप०, व० 2, अनु० 4

आनन्दमय ब्रह्म को जाननेवाला किसी से भय नहीं करता।

(17) आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः।
श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः। एतत्ततो भवति। – तै० उ०, व० 1, अनु० 6

(ब्रह्म में स्थित हुआ पुरुष) स्वराज्य को प्राप्त कर लेता है; कानों का, नेत्रों का एवं विज्ञान का स्वामी हो जाता है।

सुनहु तात अब मानस रोगा । जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा ॥14॥
मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला । तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला ॥
काम वात कफ लोभ अपारा । क्रोध पित्त नित छाती जारा ॥15॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई । उपजइ सन्यपात दुखदाई ॥
विषय मनोरथ दुर्गम नाना । ते सब सूल नाम को जाना ॥16॥
ममता दादु कंडु इरिषाई । हरष विषाद गरह बहुताई ॥
पर सुख देखि जरनि सोइ छई । कुष्ठ दुष्टता मन कुटिलई ॥17॥
अहंकार अति दुखद डमरुआ । दंभ कपट मद मान नेहरुआ ॥
तृस्ना उदरबृद्धि अति भारी । त्रिविधि ईषना तरुन तिजारी ॥18॥
जुग विधि ज्वर मत्सर अविवेका । कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका ॥19॥

एक व्याधि बस नर मरहिं, ए असाधि बहु ब्याधि ।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ, सो किमि लहैं समाधि ॥121 (क)॥
नेम धर्म आचार तप, ग्यान जग्य जप दान ।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं, रोग जाहिं हरिजान ॥121 (ख)॥
(उ० कां०)

एहि विधि सकल जीव जग रोगी । सोक हरष भय प्रीति वियोगी ॥
मानस रोग कछुक मैं गाए । हहिं सब कें लखि बिरलेन्ह पाए ॥1॥
जाने ते छीजहिं कछु पापी । नास न पावहिं जन परितापी ॥
विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे । मुनिहु हृदयँ का नर बापुरे ॥2॥
(उ० कां०, 122)

हे तात ! अब सब लोगों को दुख देने वाले मानस रोगों को सुनो ॥14॥ मोह सब व्याधियों का मूल है, जिससे बहुत से शूल उपजते हैं । काम वात है, लोभ बढ़ा हुआ कफ है, क्रोध पित्त है जो सदा छाती जलाता है ॥15॥ तीनों के मिल जाने पर सन्निपात हो जाता है । कठिनता से प्राप्त होने वाले विषयों के मनोरथ ही अपार शूल हैं ॥16॥ ममता दाद है, ईर्ष्या खुजली है, हर्ष-विषाद गले के रोग हैं, पराये सुख को देखकर जलना क्षयरोग है, दुष्टता व मन की कुटिलाई कोढ़ है ॥17॥ अहंकार कष्ट देने वाला डमरू नामक गाँठ का रोग है, दंभ-कपट-मद-मान नसों का नहरुआ रोग है । तृष्णा जलोदर का उदरवृद्धि का रोग है । तीन कामना (पुत्र, धन व मान) प्रबल तिजारी हैं ॥18॥ मत्सर व अविवेक दो प्रकार के ज्वर हैं, इस प्रकार के अनेक बुरे रोग हैं, इन्हें कहाँ तक कहूँ ॥19॥ एक ही रोग से मनुष्य मर जाते हैं, फिर ये तो बहुत से असाध्य रोग हैं । ये जीव को निरन्तर कष्ट देते हैं, ऐसी दशा में समाधि कैसे प्राप्त हो ॥121क॥ नियम, धर्म, आचार, तप, ज्ञान, यज्ञ, जप, दान तथा और भी करोड़ों औषधियाँ हैं, परन्तु हे गरुड़ जी ! इनसे रोग

राम कृपां नासहिं सब रोगा। जौं एहि भाँति बनै संजोगा॥
सद्गुर बैंद बचन बिस्वासा। संजम यह न विषय कै आसा॥3॥
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥
एहि विधि भलेहि सो रोग नसाही। नाहि त जतन कोटि नहिं जाहीं॥ 4॥
सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म विचार बिसारद॥6॥
सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा॥
श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाही॥7॥
कमठ पीठ जामहिं बरु बारा। बंध्या सुत बरु काहुहि मारा॥
फूलहिं नभ बरु बहुबिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥8॥
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना॥
अधंकारु बरु रविहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै॥9॥
हिम ते अनल प्रगट बरु होई। राम बिमुख सुख पाव न कोई॥10॥

बारि मथें घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ, यह सिद्धांत अपेल॥122(क)॥

मसकहि करइ बिरंचि प्रभु, अजहि मसक ते हीन।
अस बिचारि तज संसय, रामहि भजहिं प्रबीन॥122 (ख)॥

नहीं जाते। ॥121 (ख)॥ इस प्रकार संसार के समस्त प्राणी शोक, हर्ष, भय, प्रीति व वियोग के रोगी हैं। मैंने कुछ मानस रोग कहे, सब को तो कोई विरला ही जानता है।1। जानने से वे क्षीण जरूर हो जाते हैं, परन्तु नाश को प्राप्त नहीं होते। कुपथ्य पाकर ही मुनियों के हृदय में भी अंकुरित हो उठते हैं, फिर बेचारे मनुष्य तो साधारण हैं।2। श्रीराम की कृपा का संयोग बने तब उनका नाश हो जाता है। सद्गुरु के वचनों का विश्वास, विषयों की आशा न हो, यही संयम है।3। श्री रघुनाथ जी की भक्ति संजीवनी जड़ी है, श्रद्धा से पूर्ण बुद्धि ही अनुपान (दवा का मधु) है। ऐसा संयोग होने से ही रोग मिट सकते हैं, नहीं तो अनेकों यत्नों से भी नहीं जाते।4। हे गरुड़ जी! शिव, ब्रह्मा, शुकदेव, सनकादि, और नारद इन सभी ब्रह्म-विचार में परम निपुण मुनियों तथा श्रुति-पुराण आदि ग्रन्थों का कहना है कि रघुपति की भक्ति के बिना सुख नहीं है।7। कछुए की पीठ पर बाल उग आयें, बाँझ का पुत्र भले ही किसी को मार डाले, आकाश में अनेकों प्रकार के फूल खिल जायें, जीव जब तक हरि के प्रतिकूल रहता है, उसको सुख नहीं मिलता है।8। मृगतृष्णा के जल से चाहे प्यास बुझ जाय, खरगोश के सिर पर भले सींग निकल आवें, अंधकार से चाहे रवि का नाश हो जाय, परन्तु राम से विमुख कोई जीव सुख नहीं पाता।9। बर्फ से चाहे अग्नि निकल आये, राम से विमुख होने पर कोई सुख नहीं पाता।10। जल के मथने से घी उत्पन्न हो जाय, बालू से भले

निश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽति दुस्तरं तरन्ति ते ॥122॥ (ग)

कहेउँ नाथ हरि चरित अनूपा। ब्यास समास स्वमति अनुरूपा॥
श्रुति सिद्धांत इहइ उरगारी। राम भजिअ सब काज बिसारी॥1॥
प्रभु रघुपति तजि सेइअ काही। मोहि से सठ पर ममता जाही॥
तुम्ह बिग्यान रूप नहिं मोहा। नाथ कीन्हि मो पर अति छोहा॥2॥
पूँछिहु राम कथा अति पावनि। सुक सनकादि संभु मन भावनि॥
सत-संगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकउ बारा॥3॥
देखु गरुड़ निज हृदयँ बिचारी। मैं रघुबीर भजन अधिकारी॥
सकुनाधम सब भाँति अपावन। प्रभु मोहि कीन्ह बिदित जगपावन॥4॥

आजु धन्य मैं धन्य अति, जद्यपि सब बिधि हीन।
निज जन जानि राम मोहि, संत समागम दीन॥123॥ (क)

नाथ जथामति भाषेउँ, राखेउँ नहिं कछु गोइ।
चरित सिंधु रघुनायक, थाह कि पावइ कोइ॥123॥ (ख)

ही तेल निकल आये, परन्तु श्रीहरि के भजन बिना संसार नहीं तरा जा सकता, यह अटल सिद्धांत है ॥122 (क)॥ प्रभु मच्छर को ब्रह्मा बना सकते हैं, और ब्रह्मा को मच्छर से भी तुच्छ बना सकते हैं। ऐसा विचार कर चतुर पुरुष सब सन्देह त्याग कर श्रीराम जी को ही भजते हैं ॥122 (ख)॥ मैं निश्चित सिद्धान्त कहता हूँ, मेरे वचन अन्यथा नहीं जाते, जो मनुष्य हरि का भजन करते हैं, वे अत्यन्त दुस्तर संसार-सागर को सहज में ही पार कर जाते हैं ॥122 (ग)॥ श्रीहरि का अनुपम चरित मैंने संक्षेप व विस्तार से मति अनुरूप कहा। श्रुतियों का यही सिद्धान्त है कि सब काम भुलाकर श्रीराम का भजन करना चाहिए ॥1॥ श्रीराम जी को छोड़कर और किस का सेवन किया जाय, जिनका मुझ-जैसे मूर्खों पर भी स्नेह है ? हे नाथ, आप विज्ञानरूप हैं, आपको मोह नहीं है। आपने तो मुझ पर बड़ी कृपा की ॥2॥ जो आपने मुझसे शुकदेव जी, सनकादि व शिवजी के मन को प्रिय लगने वाली पवित्र रामकथा पूछी। संसार में घड़ी भर का, अथवा पल-भर का, एक बार का भी सत्संग दुर्लभ है ॥2॥ हे गरुड़ जी ! अपने हृदय में विचार कर देखिये, क्या मैं श्रीराम के भजन का अधिकारी हूँ। पक्षियों में सबसे नीच व सब प्रकार से अपावन हूँ। ऐसा होने पर भी प्रभु ने मुझको सारे जगत् को पवित्र करने वाला प्रसिद्ध कर दिया ॥4॥ यद्यपि मैं सर्व प्रकार से हीन हूँ, तो भी आज मैं धन्य हूँ, जो श्रीराम ने मुझको अपना जन जानकर संत-समागम दिया ॥123 (क)। हे नाथ, मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार कहा, कुछ भी छिपा नहीं रखा है, फिर भी

सुमिरि राम के गुन गन नाना । पुनि पुनि हरषि भुसुंडि सुजाना ॥
महिमा निगम नेति करि गाई । अतुलित बल प्रताप प्रभुताई ॥1॥
सिव अज पूज्य चरन रघुराई । मो पर कृपा परम मृदुलाई ॥
अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ । केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ ॥2॥
साधक सिद्ध विमुक्त उदासी । कवि कोबिद कृतग्य संन्यासी ॥
जोगी सूर सुतापस ग्यानी । धर्म निरत पंडित बिग्यानी ॥2॥
तरहिं न बिनु सेएँ मम स्वामी । राम नमामि नमामि नमामी ॥
सरन गए मो से अघ-रासी । होहिं सुद्ध नमामि अविनासी ॥4॥

जासु नाम भव भेषज, हरन घोर त्रय सूल ।
सो कृपाल मोहि तो पर, सदा रहउ अनुकूल ॥124॥(क)

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं । रघुपति भगति बिना सुख नाहीं ॥7॥
कमठ पीठ जामहिं बरु बारा । बंध्या सुत बरु काहुहि मारा ॥
फूलहिं नभ बरु बहुबिधि फूला । जीव न लहि सुख हरि प्रतिकूला ॥8॥
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना । बरु जामहिं सस सीस बिषाना ॥
अंधकार बरु रबिहि नसावै । राम बिमुख न जीव सुख पावै ॥9॥
हिम ते अनल प्रगट बरु होई । बिमुख राम सुख पाव न कोई ॥10॥

—उ० कां०, 122

श्री रघुवीर का चरित समुद्र के समान है ॥123(ख)॥ श्रीराम की महिमा का स्मरण करके भुशुण्डि जी बार-बार हर्षित हो रहे हैं जिनकी महिमा वेदों ने 'नेति नेति' कह कर गायी है। जिनका बल, प्रताप व प्रभुत्व अतुलनीय है ॥1॥ जिन श्री रघुनाथ के चरण शिवजी व ब्रह्माजी द्वारा पूज्य हैं, उनकी मुझ पर कृपा होनी उनकी परम कोमलता है। उनका सा स्वभाव न कहीं सुनता हूँ न देखता हूँ। अतः हे पक्षिराज ! श्री रघुनाथ जी के समान किसे गिनूँ ॥2॥ साधक, सिद्ध, जीवन्-मुक्त, उदासीन, कवि, विद्वान्, कर्म के ज्ञाता, संन्यासी, योगी, शूरवीर, बड़े तपस्वी, ज्ञानी, धर्म-परायण, पण्डित और विज्ञानी, ये कोई भी मेरे स्वामी श्रीराम जी का सेवन किये बिना नहीं तर सकते। मैं उन्हीं श्रीराम जी को बार-बार नमस्कार करता हूँ, जिनकी शरण जाने पर मुझ जैसे पाप-राशि भी शुद्ध हो जाते हैं, उन अविनाशी श्रीराम को मैं नमस्कार करता हूँ ॥4॥ जिनका जन्म-मरण रूपी रोग की औषधि व तीनों भयंकर पीड़ाओं (आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक) को हरने वाला है, वे कृपाल रघुनाथ जी मुझ पर व आप पर सदा प्रसन्न हों ॥124(क)॥

राम कथा गिरिजा मैं बरनी । कलि मल समनि मनोमल हरनी ॥
संसृति रोग सजीवन मूरी । राम कथा गावहिं श्रुति सूरी ॥2॥
—उ० कां०, 129

सो मैं तुम सन कहउँ सबु, सुनु मुनीस मन लाइ ।
रामकथा कलि मल हरनि, मंगलकरनि सुहाइ ॥141॥
—बा० कां०

रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्बान ॥
ग्यानवंत अपि सो नर, पसु बिनु पूँछ बिषान ॥78॥ (क)
—उ० कां०

ऐसेहि हरि बिनु भजन खगेसा । मिटहिं न जीवन केर कलेसा ॥79॥
—उ० कां०

हरि सेवकहि न ब्याप अविद्या । प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि विद्या ॥1॥
ताते नास न होइ दास कर । भेद भगति बाढ़इ बिहंगवार ॥2॥
—उ० कां०, 79

ते जड़ जीव निजात्मक घाती । जिन्हहि न रघुपति कथा सोहाती ॥3॥
—उ० कां०, 53

भरत चरित कर नेमु, तुलसी जो सादर सुनहिं ।
सीय राम पद पेमु, अवसि होइ भवरस बिरति ॥ 326॥
—अयो० कां०

जा कर नाम मरत मुख आवा । अधमउ मुकुति होइ श्रुति गावा ॥
पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं । अति अपार भवसागर तरहीं ॥2।29॥
—कि० कां०

जो सुत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई ॥30॥
—कि० कां०

रामकथा सुरधेनु सम, सेवत सब सुख दानि ।
सत समाज सुरलोक सब, को न सुनै अस जानि ॥113॥
—बा० कां०

राम भगति मनि उर बस जाकें । दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें ॥6॥
—उ० कां० 120

खगपति राम-कथा मैं बरनी । स्वमति बिलास त्रास दुखहरनी ॥15॥
—उ० कां०

ज़िन्ह कर नामु लेत जग माँहीं । सकल अमंगल मूल नसाहीं ॥1॥315॥
—बा० कां०

सकल सुमंगल मूल जग, रघुवर चरन सनेहु ॥207॥
—अयो० कां०

मिटिहहिं पाप प्रपंच सब, अखिल अमंगल मार ।
लोक सुजसु परलोक सुखु, सुमिरत नामु तुम्हार ॥263॥
—अयो० कां०

कपटी कायर कुमति कुजाती । लोक वेद बाहेर सब भाँती ॥
राम कीन्ह आपन जब हीं ते । भयउँ भुवन भूपन तब हीं ते ॥1॥196॥
—अयो० कां०

मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा । पंडित सोइ जो गाल बजावा ॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई । ता कहुँ संत कहइ सब कोई ॥
सोइ सयान जो परधन हारी । जा कर दंभ सो बड़ आचारी ॥
—उ० कां०, 98

कलियुग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग ।
जो गति सोइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग ॥102 (ख)॥
—उ० कां०

(22) सब भरोस तजि जो भज रामहिं । प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहिं ॥3॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं......॥4॥103 (क)॥ (उ० कां०)

पूर्व-उद्धृत प्रथम वाक्य[3] व प्रथम चौपाइयों[4] का साम्य यहाँ प्रेषित किया जाता है । उपनिषद्-वाक्य व मानस-चौपाई दोनों का ही यह भाव है कि भगवत्-भजन किस-किस रूप में लाभकारी है ।

उपनिषद् वाक्य	चौपाइयाँ
(1) एतदुपनिषत नित्यमधीते (जो इस उपनिषद् का नित्य अध्ययन करता है)	(1) 'रघुपति भगति सजीवन मूरी' (2) 'बिनु हरि भजन न भव तरिअ' ज्ञान-ग्रन्थ उपनिषद्-वाक्य का नित्य उपनिषद् पढ़ने का भाव, भक्ति ग्रंथ में 'हरि-भजन' तथा 'रघुपति-भगति' के रूप में होकर आया है ।

(2) काम क्रोध लोभ मोह ईर्ष्यादिभिः बाधितो—

(1) मोह — 'मोह सकल व्याधिन कर मूला,
तिन्ह तें पुनि उपजें बहु सूला'

(2) काम — 'काम बात'

(3) लोभ — 'कफ लोभ अपारा'

(4) क्रोध — 'क्रोध पित्त नित छाती जारा'

(5) ईर्ष्या — 'ममता दादु, कंडु इरिषाई'

(3) सर्वेभ्यो पापेभ्यो मुक्तो भवति— (क) राम कृपा नासहिं सब रोगा, जों एहि भाव बनै संयोगा।

यहाँ 'रोगा' शब्द से उन उन रोगों से अभिप्राय है, जो पाप-रूप[5] में हीन भाव व हीन-कोटि के कार्य रूप से प्राणियों में निवास करते हैं। ऊपर की चौपाइयाँ यह स्पष्ट कर चुकी हैं कि कौन सा भाव किस रोग के समान है।

(ख) रघुपति भगति सजीवन मूरी।
अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥
एहिं विधि भलेहिं सो रोग नसाहीं।
नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं॥

इन रोगों को नाश करने का उपाय एक मात्र रघुपति-भक्ति है। ये सब मानसिक रोग हैं, जो राम-भक्ति से दूर होते हैं।

(ग) श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं,
रघुपति भगति बिना सुख नाहीं।

पापों से विमुक्ति के पश्चात् जो सुख प्राप्त होता है, उसी शाश्वत सुख की आकांक्षा यहाँ की गई है।

(4) अरोगी भवति— उपनिषद् वाक्य जिस भाव को केवल 'अरोगी भवति' कह कर व्यक्त कर रहे है—मानस उसको पूर्ण व्याख्या के साथ प्रस्तुत कर रही है। इसके पीछे मानस का एक उद्देश्य है। मानस जन हिताय भावना से लिखी गई है। सविस्तार वर्णन के कारण

प्राणी स्वयं अपना रोग जानकर उसका निवारण करने का प्रयास कर भगवत्-प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।

उपचारों की ओर से चेतावनी—

नेम धर्म आचार तप, ग्यान जग्य जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं, रोग जाहिं हरिजान॥
॥121॥ (उ० कां०)

नेम, धर्म, आचार, तप, ज्ञान, यज्ञ, जप, दान आदि कोटियों औषधियाँ हैं, परन्तु ये रोग उनसे नहीं जाते।

रोग-लक्षण—

'एहि विधि सकल जीव जग रोगी।
सोक हरष भय प्रीति वियोगी॥'
'मानस रोग कछुक मैं गाए।
हहिं सबके लखि विरले पाए॥'
'जाने ते छीजहिं कछु पापी,
नास न पावहिं जन संतापी॥'

'जाने ते छीजहिं कछु पापी' ही वह उद्देश्य है जिसके कारण मानस ने इस विषय का इतना सविस्तार वर्णन किया है। भक्त-जन इन पाप-रूपी रोगों को जान जायें, तो उनकी ओर से सचेत हो जायेंगे—सचेत हो जाने पर यह पाप अपने आप ही 'छीज' जायेंगे।

कुपथ्य—

विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे,
मुनिहु हृदयँ का नर बापुरे।
विषय का कुपथ्य पाकर ये मुनियों के हृदय में भी अंकुरित हो उठते हैं—मानव तो फिर मानव है।

रोग-नाश के उपाय

'राम कृपा नासहिं सब रोगा,
जौं एहि भाँति बनै संयोगा।'

पथ्य

'सदगुरु बैद बचन बिस्वासा'

संयम

'संजम यह न विषय कै आसा'

औषधि

'रघुपति भगति सजीवन मूरी,
अनूपान श्रद्धा मति पूरी ॥
एहि बिधि भलेहि सो रोग नसाहीं,
नाहि त जतन कोटि नहि जाहीं ।'

आरोग्यता-लक्षण

जानिअ तव मन बिरुज गोसाईं ।
जब उर बल बिराग अधिकाई ॥
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई,
बिषय आस दुर्बलता गई ।

पूर्ण स्वस्थ शरीर

बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई ।
तब रह राम भगति उर छाई ॥
सिव अज सुक सनकादिक नारद ।
जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद ॥

(5) महापातकात्पूतो भवति (वह महापाप से भी पवित्र हो जाता है)—'देखु गरुड़ निज हृदयँ बिचारी ।
मैं रघुबीर हृदय अधिकारी ॥
सकुनाधम सब भाँति अपावन ।
प्रभु मोहि कीन्ह बिदित जग-पावन ।
उपर्युक्त चौपाई 'सकुनाधम सब भाँति अपावन' में महापातकी का भाव आ जाता है। काकभुशुण्डि अपने जीवन में गुरुघाती होने से पातकी की कोटि में आ जाते हैं। पूतो भवति का भाव 'प्रभु मोहि कीन्ह बिदित जगपावन' में पूर्ण महत्त्व के साथ उतरा है—पावन-मात्र नहीं किया है परन्तु 'बिदित जगपावन' किया है—जगत-प्रसिद्ध पावन कर दिया है।

(6) सर्वेभ्यो पापेभ्यो मुक्तो भवति – (सर्व पापों से उसकी मुक्ति हो जाती है)

'सरन गएँ मो सो अघरासी,
होहिं सुद्ध नमामि अविनासी ।'

प्रथम चौपाई में 'सर्व पापेभ्यो' का भाव 'अघरासी' शब्द द्वारा तथा 'मुक्तो भवति' का भाव 'सुद्ध होंहि' द्वारा व्यक्त हुआ है।

उपनिषद् वाक्य में 'सर्व पापेभ्यो' का भाव 'अघरासी' शब्द द्वारा तथा 'मुक्तो भवति' का भाव 'सुद्ध होंहि' द्वारा व्यक्त है। उपनिषद्-वाक्य से 'सर्वपापेभ्यो मुक्तो भवति' की जो अवस्था उपनिषद्-पाठ[6] से आती है, वही 'सुद्ध होहि मोसो अघरासी' की अवस्था भक्ति ग्रन्थ मानस में इष्टदेव की[7] शरण में जाने से प्राप्त होती है।

श्रीमांश्च भवति— पुत्रपौत्रादिभिः समृद्धो भवति (श्रीमान् होता है पुत्र-पौत्रादिकों से संपन्न होता है।)

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं,
रघुपति भगति बिना सुख नाहीं ।
फूलहिं नर बरु बहु बिधि फूला,
जीव न लहि सुख हरि प्रतिकूला ।
अंधकार बरु रविहि नसावै,
राम बिमुख न जीव सुख पावै ।
हिम ते अनल प्रगट बरु होई,
राम बिमुख सुख पाव न कोई ।

उपनिषद् वाक्य का भावार्थ है कि नित्य-प्रति उपनिषद् का अध्ययन करनेवाला सुखी व समृद्ध होता है। श्रीमान व पुत्र-पौत्रादिवान् होना सुख-समृद्धि का द्योतक है। मानस चौपाई ने वाक्य का निहित भाव व्यक्त कर दिया है—जो भक्ति करता है वही सुख पाता है, दूसरा नहीं। श्रुति-पुराणों का प्रमाण इस भाव की पुष्टि करता है 'श्रुति पुरान सब ग्रन्थि कहाहीं।'

(क) 'जीव न लहि सुख हरि प्रतिकूला'
(ख) 'राम बिमुख न जीव सुख पावै'
(ग) 'राम बिमुख सुख पाव न कोई'

'श्रीमान् होना, पुत्र-पौत्र आदि होना सुख है'— वाक्य में सुखों को सूचीबद्ध कर दिया है।

मानस ने सुखों को वाक्य के समान सूचीवद्ध नहीं किया है। मन जिसमें सुख की अनुभूति करे वही सुख। सुख को सूचीवद्ध करना उसको सीमित कर देना है। मानस ने मूल भाव 'सुख' ग्रहण कर लिया है, परन्तु सुख को सूचीवद्ध करके सीमित नहीं किया है।

विद्वांश्च भवति	(क) 'साधक सिद्ध विमुक्त उदासी, कवि कोविद कृतग्य संन्यासी। जोगी सूर सुतापस ग्यानी, धर्मनिरत पंडित विग्यानी। तरहिं न विनु सेएँ मम स्वामी'

वाक्य के एक 'विद्वान्' शब्द की व्याख्या, मानस ने[8] विद्वानों की गणना कराकर की है। विद्वत्ता की कसौटी भवसागर तरने में है—उपनिषद् काल में भी विद्वान् वही माना जाता था जिसमें 'जगत व ब्रह्म' के स्वरूप का विवेक जाग्रत हो जाय। इसी भाव को मानस भक्ति-ग्रन्थ के दृष्टिकोण से लिख रही है कि वही तर सकता है जो मेरे इष्ट की सेवा करे।

'तरहिं न विनु सेएँ मम स्वामी'

इस स्थान से दूसरी[9] चौपाइयों का साम्य स्थापित होता है। इन चौपाइयों में कलियुग के दोष वर्णित हैं जो कि हरिनाम लेने से दूर हो जाते हैं। उपनिषद् वाक्य में भी उन दोषों की एक सूची दी गयी है जो कि नित्य उपनिषद्-पाठ करने से दूर हो जाते हैं। ज्ञान-मार्ग में जो उपनिषद्-अध्ययन है, भक्ति-मार्ग में वही इष्टदेव-पूजन है। मानस ने तथा उपनिषद् वाक्य में जो दोषों की सूची परिगणित की गई है, उसका साम्य नीचे प्रस्तुत है-—

वाक्य	चौपाई
(क) सुरापान अभक्ष्यभक्षण	भच्छाभच्छ जे खाहिं
(ख) गुरोर् शत्रु श्रूपण	'कौड़ी लागि लोभ वस, करहिं विप्र गुर घात।'
अगम्य-गमन	(क) 'आपु गए अरु तिन्हहूँ घालहिं। जे कहुँ सत मारग प्रतिपालहिं॥'

(ख) 'मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा ।'
'सोइ सयान जो परधन हारी ।'[10]

(ग) स्वर्णस्तेय

(घ) मातृगमन
'भए बरनसंकर कलि,
भिन्न सेतु सब लोग।

दुहितृ स्नुषाभिगमन
करहिं पाप पावहिं दुख
भय रुज सोक वियोग ।'

मानस चौपाई का भाव है कि लोग वर्णसंकर और मर्यादाच्युत होकर पाप-कर्मों का फल भोगते हैं। मानस तुलसी के मर्यादा-पुरुषोत्तम इष्टदेव का ग्रन्थ है। जिस इष्टदेव का स्वरूप ही मर्यादापुरुषोत्तम हो, ऐसे आराध्यदेव के प्रति समर्पित ग्रन्थ में, मर्यादाच्युत पापों को स्पष्टता से खोल कर लिखना अशोभनीय, श्रद्धाविहीन एवं मर्यादाहीन कार्य है। अतः मानस ने वाक्य के मर्यादाच्युत भाव बहुत सँभाल कर इस दोहे में व्यक्त किये हैं। थोड़ी सी सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो वाक्यों का समस्त भाव इस दोहे में से झलकने लगता है। कलियुग के वर्णन में भी मानस ने जिस रूप से मर्यादा की सीमा रखी है वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

(च) परदार-गमन
'पर तिय लंपट कपट सयाने'

(छ) पूतो भवति
(क) 'कलियुग केवल हरि गुन गाथा,
गावत नर पावहिं भव थाहा।'
(ख) 'सब भरोस तजि जो भज रामहिं,
प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहिं।
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं'
(ग) गाइ राम गुन गन बिमल, भव तर
बिनहिं प्रयास ।'

वाक्य ने 'पूतो भवति' में पापों से तर जाने का भाव लिया है—क्योंकि पापों से पवित्र होकर ही मृत्यु सागर पार हो सकता है। मानस ने

वाक्यों का भव से तरने का मूल भाव ग्रहण किया है—अत:

'सोइ भव तर कछु संसय नाहीं'

••

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥12॥

—श्वेता० उप०, अ० 2

पाँचों महाभूतों का उत्थान होने पर, उनसे सम्बन्ध रखने वाले पाँच प्रकार के योग सम्बन्धी गुणों की सिद्धि हो जाने पर योगाग्निमय शरीर को प्राप्त कर लेने वाले उस साधक को न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है, और न उसकी मृत्यु ही होती है।

राम चरित चिंतामनि चारू। संत सुमति तिय सुभग सिंगारू॥
जग मंगल गुन ग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के॥
सदगुर ग्यान बिराग जोग के। बिबुध बैद भव भीम रोग के॥2॥

—बा० कां०, 32

संसृति रोग सजीवन मूरी। राम कथा गावहिं श्रुति सूरी॥1॥

—उ० कां०, 129

जासु नाम भव भेषज, हरन घोर त्रय सूल ॥124॥

—उ० कां०

योगी के लिए जो योग है, ज्ञानी के लिए जो निर्गुण उपासना है, भक्त के लिए वही आराध्यदेव की उपासना है। यहाँ हमारा उद्देश्य भगवत्-प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्गों की विवेचना न करके, केवल यह देखने का प्रयत्न है कि उपनिषद् वाक्य भावों को मानस ने किस प्रकार भक्तिरस की चौपाइयों में भर दिया है। अत: सर्वप्रथम हम यह स्वीकार करके चलेंगे कि वाक्य में वर्णित योग का स्वरूप ही मानस के आराध्यदेव का स्वरूप है। इस प्रकार यह स्थापित होता है कि मानस चौपाइयों में उपलब्ध निम्नांकित भाव उपनिषद्-वाक्य के 'योग भाव' का ही प्रतिरूप है।

वाक्य वर्णित योग अवस्था	चौपाई
पृथ्व्यप्तेजो......प्रवृत्ते	(1) राम भगति चिंतामनि चारू

(योग भाव)	(2) राम कथा गावहिं श्रुति सूरी
	(3) जासु नाम

(भक्तिग्रन्थ मानस का इष्टदेव नाम-वर्णन, ही वाक्यवर्णित योगभाव है)

अब हमें यह देखना है कि उपनिषद् वाक्य वर्णित 'न तस्य रोगो न जरा न न मृत्युः' का भाव मानस चौपाइयों में किस प्रकार आया है।

उपनिषद् वाक्य	मानस चौपाई
2. रोग, जरा, मृत्यु	(1) भव भीम रोग भव—जन्म मृत्यु चक्र ही भव है। भव के भीम रोग—जरा, रोग, मृत्यु
	(2) संसृति संसृति—जन्म-मरण को ही संसृति कहते हैं। संसृति रोग—जरा, रोग, मृत्यु।
	(3) त्रय शूल जगत के तीन शूल हैं—जरा, रोग, जन्म-मृत्यु।
3. न प्राप्तस्य	मानस चौपाई के ये शब्द उपनिषद् वाक्य के द्योतक हैं। (1) विबुध बैद—(अश्विनी कुमार) जो उपचार में अचूक हैं। (2) संजीवनि मूरी—(संजीवनी बूटी) जो अचूक औषधि है। (3) भेपज—अचूक औषधि।

इस प्रकार ये तीनों शब्द अचूक आरोग्य-प्राप्ति के द्योतक हैं। इनके सम्पर्क में आने पर रोग किसी प्रकार नहीं रह सकता। वाक्य का 'प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्'[11] योगाग्निमय शरीर को प्राप्त कर लेना तथा राम के नाम-द्वारा अचूक आरोग्यता प्राप्त कर लेना एक ही भाव को दो रूप में व्यक्त करने के समान है।

राम कथा गावहिं श्रुति सूरी —'श्रुति के विद्वानों का यह कथन है' ऐसा कह कर मानस ने इस बात पर बल दिया है कि मानस के इन भावों का आधार वेद व उपनिषद् हैं।

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते।[12]

—प्र० 3।5

उपनिषद् वाक्य से साम्य स्थापित करने वाली चौपाइयाँ निम्न हैं ;

काम कोह कलिमल करि गन के। केहरि सावक जन मन बन के॥
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के। कामद घन दारिद दवारि के॥4॥
मंत्र महामनि विषम व्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के॥
हरन मोहतम दिनकर कर से। सेवक सालि पालि जलधर से॥5॥
अभिमत दानि देव तरुवर से। सेवत सुलभ सुखद हरि हर से॥
सुकबि सरद नभ मन उडगन से। राम भगत जन जीवन धन से॥6॥
सकल सुकृत फल भूरि भोग से। जगहित निरुपधि साधु लोग से॥
सेवक मन मानस मराल से। पावन गंग तरंग माल से॥7॥

कुपथ कुतरक कुचालि कलि, कपट दंभ पाषंड।
दहन राम गुन ग्राम जिमि, इंधन अनल प्रचंड॥32॥(क)

—बाल० कां०

उपनिषद् वाक्य	मानस चौपाइयाँ
एतं परं पुरुषं अभिध्यायीत	उपनिषद् वाक्य, परम पुरुष की महिमा की चर्चा करते हुए आये हैं, तो वे चौपाइयाँ राम-महिमा के प्रकरण में आई हैं। इस प्रकार उपनिषद् वाक्य व मानस चौपाइयों का प्रसंग एक ही है। दोनों ही अपने-अपने आराध्य देव के गुण प्रतिष्ठित कर रहे हैं।
अभिध्यायीत	'अभिध्यायीत' शब्द द्वारा निरन्तर ध्यान करने का जो भाव है, वह मानस चौपाइयों में 'राकेश, कुमुद व चकोर' की उपमा द्वारा व्यक्त हुआ है तथा निरन्तर एकाग्र चित्त से ध्यान करने के भाव को अभिव्यक्त करता है।[13] ध्यान करने की भी तीन रीतियाँ हैं, प्रथमतः केवल ध्यान, दूसरे द्वेष से ध्यान, तीसरे प्रीति से ध्यान। इस प्रकार प्रतीत होता है कि मानस में चकोर, कुमुद एवं राकेश की

उपमा में जो ध्यान का उल्लेख है, वह प्रीति-मय है। जिससे सच्ची प्रीति होती है, उसके ध्यान का भाव मन में निरन्तर बना रहता है। इस प्रकार उपनिषद् वाक्य के 'अभिध्या-यीत' का भाव रंजित माधुर्य के साथ मानस चौपाई में झलका है।

2. स तेजसि सूर्ये सम्पन्न: (वह तेजवान् सूर्य्य को प्राप्त होता है)

'स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः' के वर्णन से उपनिषद् वाक्य का भाव है कि वह तेजवान् सूर्य-लोक को प्राप्त होता है। सूर्य को प्राप्त होने का भाव देवयान मार्ग की ओर संकेत करता है। पितृयान से चन्द्रलोक की व देवयान से सूर्य-लोक की प्राप्ति कही जाती है। चन्द्रलोक मन का द्योतक है और सूर्य्यलोक मन के परे का क्षेत्र है। मन का क्षेत्र मोहतम से व्याप्त है, यह सम्पूर्ण भाव मानस की अर्द्ध चौपाई में उतर आया है, 'हरन मोहतम दिनकर कर से' मोहतम का नाश होने से 'तेजसि सूर्ये सम्पन्नः' अवस्था फलस्वरूप स्वयं आ जायेगी। राम-कथा के द्वारा अंधकार का पूर्ण विनाश होने पर मन का शुद्ध हो जाना ही 'तेजसि सूर्ये सम्पन्नः' अवस्था को प्राप्त हो जाना है। मानस की यह सरल भावाभिव्यक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है, इस सरल भावाभिव्यक्ति के द्वारा मानस ने, अति सहज भाव से अध्यात्म-साहित्य के अति गूढ़ तत्त्व की उपलब्धि जन साधारण भक्त पाठकों को करा दी है।

3. यथा पादोदरस्त्वचा (जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुली का त्याग करता है।)

'मंत्र महामनि विषय व्याल के'

मानस का कथन है कि रामनाम, विषय-रूपी व्याल का विष उतारने के लिए 'महामंत्र व महामणि' का कार्य करता है। उपनिषद् वाक्य का कथन था कि भगवत् स्मरण से प्राणी अपने पाप-कर्म से उसी प्रकार मुक्त हो जाता है जैसे सर्प अपनी केंचुली से। केंचुली उतर गयी और सर्प का विष ज्यों का त्यों बना रहा तो केंचुली-

विहीन ही सही, सर्प अपने विषैले गुण समेत रहा सर्प का सर्प ही। उस पर दूसरी केंचुली आ सकती है। अतः मानस ने राम-नाम मंत्र द्वारा सर्प का विष ही उतार दिया है। इस अर्द्ध चौपाई में 'यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते' के भावार्थ के साथ, और कुछ अधिक भावार्थ जो आ गया है, वही मानस की अपनी विशेषता है।

4. स पाप्मना विनिर्मुक्तः— (वह पापों से मुक्त करता है।)

(क) 'मेटत कठिन कुअंक भाल के।' मानस का कथन है कि राम का नाम भाग्य के लिखे कुअंकों को भी बदल देता है। उपनिषद्-वाक्य कर्म को प्रधानता दे रहा है, (पाप कर्म हैं) तो मानस कर्म-फल को। कर्म-फल कर्म का परिणाम है। अतः मानस व उपनिषद् वाक्य की भाव-व्यंजना बाह्यतः दो रूपों में लिखी प्रतीत होने पर भी मूल विचार की दृष्टि से एक ही है।

(ख) 'समन पाप संताप सोक के।' मानस का कथन है कि 'राम-नाम' पाप, संताप व शोक का नाश करता है। यहाँ 'पाप' शब्द संताप व शोक के साथ प्रयुक्त हुआ है। संताप-शोक पाप के परिणाम हैं। अतः अर्थ हुआ कि राम नाम केवल पाप को ही नहीं, वरन् पाप के परिणाम को भी दूर करने वाला है।

(ग) 'प्रिय पालक परलोक लोक के' राम-नाम इस लोक व परलोक का प्रिय पालन करने वाला है। उपनिषद् वाक्य के 'विनिर्मुक्तः' शब्द का भाव, मानस चौपाई का 'प्रिय पालन' शब्द स्पष्ट कर रहा है। यहाँ प्रियपालन शब्दों पर ध्यान देना आवश्यक है। बाह्य रूप से

देखने में तो 'विनिर्मुक्तः' शब्द व 'प्रिय पालन' दो ऐसे शब्द दिखते हैं, जिनमें कोई समानता न होगी, परन्तु व्यावहारिक रूप से देखा जाए तो दोनों अभिन्न रूप हैं। पापों से विनिर्मुक्त होने का परिणाम है, लोक व परलोक में प्रिय पालित होना। पाप से विनिर्मुक्त न होने पर लोक और परलोक संतापमय व कष्टमय होगा जो भोगी को अप्रिय होगा; पाप से विनिर्मुक्ति के कारण ही लोक परलोक पालन में प्रिय भाव हैं। पाप का परिणाम शोक व संताप; विनिर्मुक्ति का परिणाम प्रिय भाव। मानस साधारण समुदाय का ग्रंथ है; साधारण जन समुदाय न पाप जानता है, न पाप-विनुर्मुक्ति—वह तो उनके परिणाम जानता है और उन्हीं से परिचित है, अतः मानस ने उपनिषद् वाक्य भावों (पाप विनिर्मुक्ति) के साथ उसके परिणामों को अभिव्यक्त करके उपनिषद् वाक्य के भावों का उद्देश्य अपने पाठकों तक पहुँचाया है।

(घ) निम्नांकित मानस चौपाई में विभिन्न पापों का उनके स्वभावों के साथ वर्णन है। पाप क्या है, जन साधारण इसे समझ सके, उनके स्वभाव को समझ कर उनसे मुक्ति पा सके, यही मानसकार का उद्देश्य प्रतीत होता है।

(1) विभिन्न पापों का नाश, उन का पता लगा कर उनसे संघर्ष करने के सुदृढ़ विचार से होता है, अतः 'सचिव सुभट भूपति विचार के।'

(2). 'कुंभज लोभ उदधि अपार से'—लोभ

पाप कर्म में प्रवृत्त करता है, कभी न तृप्त होने का 'उदधि-अपार सा' उसका स्वभाव है, उसको सुखाकर ही शान्त किया जा सकता है। अत: राम-कथा का फल 'कुंभज अगस्त मुनि का गुण-धारक है।'

(3) 'अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के, कामद धन दारिद दवारि के'—दरिद्रता पाप कर्म में प्रवृत्त करती है; दवारि-सा प्रचंड दग्धकारी उसका स्वरूप है; कामनाएँ पूर्ण होने पर ही उसकी शान्ति हो सकती है, अत: रामकथा मेघ-फलदायक दग्धता रूप दुःख को हरण करने का गुण रखती है।

यहाँ 'अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के' शब्दावली पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। पुरारि का स्वरूप स्वयम् कल्याणकारी है। अतिथि वेदों से मान्यता प्राप्त करता चला आया है। ऐसा सर्वमान्य अतिथि जब पूज्य भी हो तो अति सम्मान और आदर का पात्र हो जाता है। 'राम कथा' के कल्याणकारी स्वरूप की पराकाष्ठा का उच्चतम रूप प्रदर्शन करने के हेतु ही उपर्युक्त शब्दा-वली का प्रयोग हुआ है। भक्ति साधकों को यह चोपाई कितनी प्रेरणादायक होगी, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

उपनिषद् वाक्य या कि भगवत्-उन्मुख प्राणी पापों से उसी प्रकार मुक्त हो जाता है जिस प्रकार सर्प केंचुली से छूट जाता है।[14] मानस में एक पूर्ण व्याख्या के साथ यह स्पष्ट किया गया है कि जन साधारण अपने आपको किस

प्रकार पापों से विमुक्त कर सकता है। जिस प्रकार उपनिषद् वाक्य ने सर्प को एक उपमा के रूप में अभिव्यक्त किया है, उसी प्रकार मानस ने भी सर्प को उपमा के रूप में प्रयुक्त किया है, और साथ-साथ 'पाप व्याख्या' करके जन साधारण को इस बात का बोध कराया है, कि यह 'पाप विनिर्मुक्ति' किस रूप में संभव हो सकती है।

उपनिषद् वाक्य में वर्णित 'पाप्मना विनिर्मुक्ति' (पापों से छुटकारे) का भाव दर्शनशास्त्र[16] के अनुसार मानस में अभिव्यक्त हुआ है।

5. ब्रह्मलोकम् उन्नीयते (वे ब्रह्मलोक ले जाये जाते हैं।)

'सकल सुकृति फल भूरि भोग से'—सम्पूर्ण पुण्यों का फल महान् भोग के समान है। वाह्य रूप से देखने में उपनिषद् वाक्य व मानस चौपाइयों में यद्यपि कोई समानता नहीं दिखती है, तथापि सूक्ष्म दृष्टि से देखने में दोनों भाव-क्षेत्रों में अभिन्नता है।

(क) ब्रह्मलोक[16] की प्राप्ति पुण्यों के उदय के साथ होती है। उपनिषद् वाक्य का यह मूल भाव मानस ने 'सकल सुकृति फल' लिखकर स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है।

(ख) सभी लोक[17] प्राणी को अपने कर्म्मों के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं, अतः वे भोग्य स्थान हैं। ब्रह्मलोक में भोग अपनी चरम सीमा में प्राप्त होते हैं। मानस ने 'भूरिभोग से' इस पदावली द्वारा उपनिषद् वाक्य के इस गूढ़ तत्त्व पर प्रकाश डाला है। 'राम कथा' महान् भोगों के समान है। मानस ने उपनिषद् वाक्य वर्णित ब्रह्मलोक के आन्तरिक

भावों को 'भूरि भोग से' पदावली द्वारा स्पष्ट करके वर्णित किया है। 'भूरिभोग' ब्रह्मलोक की अन्तर्निहित अवस्था है।

(6) सः एतस्मात् धनात् परात् परम् पुरिशयम् पुरुषम् ईक्षते
(वह जीवों के पर तत्त्व से अतिश्रेष्ठ पुरुषोत्तम का साक्षात् कर लेता है।)

'सेवक मन मानस मराल से'—अर्थात् सेवक के मन रूपी मानसरोवर में 'हंस'[15] के समान है। आत्म-तत्त्व को 'हंस' कहकर भी सम्बोधित किया जाता है। मन के सरोवर में हंस का उतर आना ही पुरुषोत्तम की प्राप्ति है। हमें इस बात का ध्यान रखना है कि मानस उपनिषद् के वाक्य का अनुवाद नहीं है, वरन् वाक्य के भावों को जन समुदाय तक पहुँचाने का एक माध्यम है। मन किस प्रकार इतना शुद्ध हो कि हंस उसमें उतरे, जन साधारण के ज्ञान हेतु निम्नांकित चौपाइयाँ इस सम्बन्ध में पथ प्रदर्शन करती हैं।

(क) पावन गंग तरंग माल से—राम-कथा मन को पवित्र करने में गंगा-जल के समान है।

(ख) कुपथ, कुतरक, कुचालि कलि, कपट दंभ पाषंड। दहन राम गुन ग्राम जिमि, इंधन अनल प्रचंड ॥32॥ (क)
(बा० कां०)

रामकथा समस्त कुमार्ग, कुचाल और कलि-युग के कपट व दम्भ को जलाने के लिए इंधन के समान प्रचंड अग्नि है।

मुक्तिदायक फल—

(1) एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥12॥
(श्वेता, उप० अ० 6)

वह अकेला ही जीवों का शासक है। एक प्रकृति रूप रूप बीज को अनेक

रूपों में परिणत कर देता है। उस हृदयस्थित परमेश्वर को जो वीर पुरुष निरन्तर देखते हैं, उन्हीको सदा रहने वाला परमानन्द प्राप्त होता है, दूसरों को नही।

(2) वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्ण तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।8।।
(श्वेता०उप०, अ० 2)

अविद्या व अन्धकार से अतीत, सूर्य के समान स्वप्रकाशित महान् पुरुष को जो जानता है, उसको जानकर ही वह मृत्यु को पार कर जाता है। परम पद की प्राप्ति के लिए इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नही है।

(3) न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुपा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।20।।
(श्वेता० उप०, अ० 4)

उस परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप दृष्टि के सामने नहीं ठहरता, उस परमात्मा को कोई भी आँखों से नहीं देख सकता। जो साधक गण उस हृदय में स्थित अन्तर्यामी परमेश्वर को भक्तियुक्त हृदय से निर्मल मन के द्वारा इस प्रकार जान लेते हैं, वे अमृत-स्वरूप हो जाते हैं।

उपर्युक्त उपनिषद् वाक्यों में प्रथम ब्रह्म के स्वरूप की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है, तथा अन्त में उसकी प्राप्ति से जिस फल की प्राप्ति होती है, उसक वर्णन है। मुक्ति-प्राप्ति भगवत्-स्वरूप-प्राप्ति का फल है। अमृत-प्राप्ति ही मुक्ति-प्राप्ति है।

निम्नांकित चौपाइयों से उपर्युक्त वाक्यों का साम्य स्थापित होता है :

राम चंद्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर, पसु बिनु पूँछ बिपान ।।78।। (क)
(उ० कां०)

ऐसेहि हरि बिनु भजन खगेसा। मिटहि न जीवन केर कलेसा ।।1।78।।
(उ० कां०)

हरि सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि विद्या ।।
ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंगवर ।।2।। (89)
(उ० कां०)

उमा राम गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि बिमुख न धर्म रति ।।1।। (अर० कां०)

सुनि प्रभु पद रति उपजइ, जातें मिटहिं कलेस ।।96।। --उ० कां०

काम क्रोध मद मोह नसावन। बिमल बिबेक बिराग बढ़ावन ।।3।43।।
—बा० कां०

रामकथा सुन्दर कर तारी। संसय विहग उड़ावनिहारी ॥1।114॥
—बा० कां०

मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ वात नहिं ताहि बुझावा ॥2॥
प्रबल अविद्या तम मिट जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई ॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं ॥3/120॥
—उ० कां०

तौ प्रभु हरहु मोर अग्याना। कहि रघुनाथ कथा विधि नाना ॥1।10॥
—बा० कां०

साम्य—

उपनिषद् वाक्यों के प्रथम अर्द्धांश में ब्रह्मस्वरूप की स्थापना की गई है, उसी प्रकार भक्तिग्रन्थ मानस की इन चौपाइयों के प्रथम भाग में उपास्य देव श्रीराम का चित्रण किया गया है।

उपनिषद् वाक्यों का सारांश	मानस चौपाइयाँ
जो ब्रह्म स्वरूप को हृदय में प्रतिष्ठित कर लेता है, उस को अमरत्व की प्राप्ति होती है।	चौपाई संख्या (1) रामचन्द्र के भजन के विना यदि ज्ञान आ भी गया, तो वह नर विना पूँछ का पशु ही है। भजना—आह्वान करना। आह्वान हृदय में किया जाता है; इस प्रकार भजने का वास्तविक अर्थ भगवान् को हृदय में बैठाये विना प्राणी ज्ञानवंत नहीं बनता, वह मूर्ख पशु की ही कोटि में रहता है। जो भगवान् को हृदय में बैठाते हैं, केवल उन्हीं को अमरत्व का अधिकार है। इस प्रकार एक दूसरे रूप से मानस ने उपनिषद वाक्य का भाव ही अभिव्यक्त किया है।

चौ० संख्या दो की प्रथम पंक्ति और चौ० संख्या चार एक ही भाव को अभिव्यक्ति करने वाली चौपाइयाँ हैं, इस कारण उनका साम्य एक ही स्थान पर एक साथ देखने का प्रयत्न किया जा रहा है। उपनिषद् वाक्यों के समान प्रत्येक चौपाई के अर्धांश में इष्टदेव के भजन (आह्वान) का प्रतिपादन किया गया है।

पूर्वार्द्ध (इष्टदेव प्रतिपादन)	उत्तरार्द्ध (कष्ट विमोचन)
चौपाई संख्या 2. बिनु हरि भजन खगेसा	मिटहिं न जीवन केर कलेसा।

	'जातें मिटहिं कलेस'
4. सुनि प्रभु पद रति उपजई	अमरत्व-प्राप्ति की सच्ची परिणति है जगत के क्लेशों का अन्त। साधारण प्राणियों व जगत के लिए क्लेशों का नाश हो जाना ही, उपनिषद् वाक्य-वर्णित 'अमरत्व-प्राप्ति है।
'हरि सेवकहि	(क) न व्याप अविद्या, प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि विद्या
सेवक के हृदय में	(ख) ताते नास न होइ दास कर
(स्वामी सदैव स्थापित होता है—यह हुई हृदय में इष्टदेव की स्थापना।)	(ग) भेद भगति बाढ़ै विहंगवर मुक्ति की सबसे बड़ी बाधा अविद्या है, अविद्या का न व्यापना तथा विद्या में निरन्तर वृद्धि होना, मुक्ति के मार्ग की ओर अग्रसर होना है। 'ताते नास न होइ दास कर' नाश होना मृत्युलोक का धर्म है। नाश को प्राप्त न होना अमरत्व को प्राप्त होना है। 'भगति' का बढ़ना भी मुक्ति की ओर अग्रसर होने का लक्षण है।
चौपाई संख्या (3) उमा राम गुन गूढ़...	(क) पंडित मुनि पावहिं विरति—विरति मुक्ति का प्रथम सोपान है
(उपास्य देव के गुणों की गूढ़ता का अनुभव हृदय करता है। यह हुआ राम के गुणों को हृदयंगम करना।)	(ख) 'पावहिं मोह विमूढ़, जे हरि बिमुख न धर्म रति' हरिविमुख का मोह को प्राप्त होना, मुक्ति के पथ से विमुख होना है, क्योंकि मोह मुक्ति का नाशक है।
चौपाई 5. राम-कथा[19]	(क) 'काम कोह मद मोह नसावन'—मुक्ति में बाधक होने के कारण राम-कथा इन का नाश करती है।
	(ख) 'विमल विवेक विराग बढ़ावन' इनकी वृद्धि से मुक्ति की प्राप्ति होती है, अतः राम-कथा इनकी वृद्धि करती है।
चौपाई 6. 'राम कथा सुन्दर कर तारी'	'संसय विहग उड़ावनिहारी'— संशय भी मुक्ति की एक बाधा है। संशयविहीन होना मुक्ति की ओर अग्रसर होना है।

चौ०—7. 'बसइ भगति जाके उर माहीं'
(राम भक्ति जिसके हृदय में है—वाक्य का हृदयंगम होने वाला भाव स्वतः ही स्पष्ट है!)

'चोह दरिद्र निकट नहिं आवा
लोभ वात नहिं ताहि बुझावा'
'प्रवल अविद्या तम मिटि जाई
हरिहंहि सकल सलभ समुदाई'
'खल कामादि निकट नहिं जाई'
मुक्ति-प्राप्ति की सहजता के लिए इन अवगुणों को दूर करना है।

चौपाई 8—'कहि रघुनाथ कथा विधि नाना'
(वारंवार कथा कहने का अर्थ है कि कथा हृदय पर छा जाय।)

'तौ प्रभु मोर हरहु अज्ञाना' अज्ञान का जाना मुक्ति का पाना है। अतः अज्ञान हरण की इस प्रार्थना में मुक्ति-प्राप्ति की अभिलाषा भी निहित है।

इस उपर्युक्त वाक्य में 'अमृताः भवन्ति' के रूप में जो मुक्ति का भाव वर्णित है, उसी भाव को मानस ने जन हिताय भावना से स्पष्ट करके व्यक्त किया है, जिससे कि जन साधारण मुक्ति का यथार्थ अर्थ समझ सके और उसको जीवन में उतार सकें। मानव समुदाय को यह मानस की सबसे बड़ी देन है कि वाक्यों के निहित अर्थों को अनुवाद रूप में न देकर, उपदेश व व्याख्या के रूप में दिया है, तथा इस प्रकार मानस ने वाक्यों के निहित भावों को हृदयंगम करा दिया है।

सुख तथा सुरलोकदायक

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्म।
लोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ छां० उप०, 3/8/4॥

जो ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य द्वारा जानते हैं, उन्हीं को यह लोक प्राप्त होता है, तथा सम्पूर्ण लोकों में उनकी यथेच्छ गति प्राप्त होती है।

2. स वा एष एवं पश्यन्नेव मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्म-मिथुन, आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति, तेषां सर्वेषु लोकेष्व-कामचारो भवति। छां० उप०, 7/25/2॥

आत्मरति, आत्मक्रीड़ा, आत्मामिथुन, आत्मनन्द, जो होता है, वह स्वराष्ट्र है; सम्पूर्ण लोकों में उसको यथेच्छ गति प्राप्त होती है। जो इसके विपरीत हैं, वे अन्यराट् हैं; वे क्षय्यलोक होते हैं, अन्य लोकों में उनकी स्वेच्छा गति नहीं होती

3. स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये । स एकः ॥4॥ स य सर्ववित् । अस्मा॰ल्लोकात्प्रेत्य एतमानन्दमात्मानमुपसंक्रम्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं विज्ञानमयात्मानमुपसंक्रम्य । इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन् । एतत्साम गायान्नास्ते ॥5॥

—तै० उ०, अनु० 10, व० 3

जो परमात्मा मनुष्य में है, वही आदित्य में है। जो इस प्रकार जानता है वह अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय[20] आत्मा को प्राप्त होकर इच्छानुसार भोगवाला व इच्छानुसार रूप वाला (कामरूपी) हो जाता है। सब लोकों में विचरण करते हुए वह साम का गायन करता रहता है।

इन तीनों उपनिषद्-वाक्यों का भावार्थ यह है कि जो ब्रह्म को जानता है, वह इच्छानुसार भोगों वाला होकर सब लोकों में विचरता है। प्रथम वाक्य में ब्रह्मचर्य द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति कर सम्पूर्ण लोकों में यथेच्छ गति की प्राप्ति कही गई है; द्वितीय वाक्य में आत्मानुभूति द्वारा सम्पूर्ण लोकों में यथेच्छ गति की प्राप्ति कही गई है; तृतीय वाक्य मे परमात्मा को सर्वत्र जानकर इच्छानुसार भोगवाला व रूपवाला होकर सब लोकों में विचरण करने वाला कहा गया है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ये समस्त लोक, जिनकी वाक्यों मे चर्चा आई है, उच्चत्तर सुरलोक हैं; क्योंकि आत्मरस की प्राप्ति के पश्चात् ऐसी शारीरिक अभिलाषाएँ ही नहीं रह जातीं कि निम्नस्तरों के लोकों की अभिलाषा शेष रहे।

साम्य के लिए प्रस्तुत मानस का दोहा—

रामकथा सुरधेनु सम, सेवत सब सुख दानि।
सतसमाज सुरलोक सब, को न सुनै अस जानि ॥113॥ बा० कां०

राम-कथा कामधेनु के समान है। सेवा करने पर वह सब प्रकार के सुखों को देने वाली है। वह संत समाज रूपी सुरलोक को देने वाली है। ऐसा जानकर उसको कौन नहीं सुनेगा ?

उपनिषद वाक्य	मानस-चौपाई
(1) ब्रह्मलोक-प्राप्ति	राम-कथा
(2) आत्मानुभूति	भक्त के लिए इष्टदेव ही ब्रह्म है, वही
(3) सर्वत्र परमात्मा को देखना	उसकी आत्मा में रमण करता है, और उसको सर्वत्र देखता है।
(1) यथेच्छ गति को प्राप्त होना	कामधेनु सम—कामधेनु यथेच्छित फल
(2) यथेच्छ गति की प्राप्ति	देती है। कामधेनु के समान कहने मात्र से
(3) इच्छानुसार भोग-रूप प्राप्ति	उपनिषद्-वर्णित यथेच्छित वस्तुओं की

	प्राप्ति का भाव चौपाइयों में पूर्ण रीति से आ जाता है।
सब लोकों में विचरण करता है	संत-समाज रूपी सुरलोक की प्राप्ति राम-कथा सुनने से होती है, ऐसा मानस का कथन है।

शोकनाशक स्वरूप

(1) तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ।।20।।

—श्वेता० उप०, अ० 3

जो इस प्रकार संकल्प-रहित परमेश्वर की महिमा को देख लेता है, वह सब प्रकार के शोकों से दूर हो जाता है।

(2) जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ।।7।।

—श्वेता० उप०, अ० 4

परमेश्वर व उसकी महिमा को देखनेवाला व्यक्ति शोक-रहित हो जाता है। निम्नांकित चौपाइयों में वाक्यों का भाव साम्य अत्यन्त स्पष्ट है, अतः अलग से नहीं दिया जा रहा है।

(1) राम भगति मनि उर बस जाकें।
दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें ।।5/120।। —उ० कां०

(2) तात करहु जनि सोचु बिसेपी।
सब दुखु मिटिहि राम पद देखी ।।4;212।। —अयो० कां०

(3) राम सुप्रेमहि पोपत प्रानी। हरत सकल कलि कलुप गलानी ।।
भवश्रम सोपक तोपक तोपा। समन दुरित दुख दारिद दोपा ।।2/43।।
—बा० कां०

(4) सादर मज्जन पान किए तें। मिटहि पाप परिताप हिए तें ।।3/43।।
—बा० कां०

(5) कहउँ सो मति अनुहारि अब, उमा संभु संवाद।
भयउ समय जेहि हेतु जेहि, सुनु मुनि मिटहि बिपाद ।।47।।
—बा० कां०

(6) खगपति राम-कथा मैं बरनी। स्वमति बिलास त्रास दुख हरनी ।।3/12।।
—उ० कां०

(7) जिन्ह कर नामु लेत जग माहीं । सकल अमंगल मूल नसाही ।।1/315।।
— बा० कां०

(8) सकल सुमंगल मूल जग, रघुबर चरन सनेहु ।।207।। —अयो० कां०

(9) मिटिहहिं पाप प्रपंच सब, अखिल अमंगल भार ।
लोक सुजसु परलोक सुखु, सुमिरत नामु तुम्हार ।।263।।
— अयो० कां०

एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापयन्ति ।।3।।
—श्वेता० उप०, 10

भावार्थ—जो उस परमेश्वर को नही जानते, वे दुःख पाते हैं । यही भाव निम्नांकित चौपाई मे है--

जिन्ह एहिं बारि न मानस धोए । ते कायर कलिकाल बिगोए ।।
तृषित निरखि रवि कर भव बारी । फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी ।।
— बा० कां०, 4/43

जिन्होंने इस जल से अपने हृदय को नही धोया, वे कायर अकाल के द्वारा ठगे गये । जैसे प्यासा हरिण सूर्य की किरणों के रेत पर पड़ने से उत्पन्न हुए जल के भ्रम को वास्तविक जल समझकर पीने को दौड़ता है, और जल न पाकर दुःखी होता है, वैसे ही ये कलियुग से ठगे हुए जीव भी विषयों के पीछे भटककर दुःखी होंगे—अर्थात् जो परमेश्वर को नहीं जानेगा, वह दुःख पायेगा।

भयातीत स्वरूप

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति ।
—तै० उप०, अनु० 9, ब्रह्मानन्दवल्ली

अर्थ - आनन्दमय ब्रह्म को जानने वाला किसी से भय नहीं खाता ।

(1) अब मैं कुसल मिटे भय भारे । देखि राम पद कमल तुम्हारे ।।
तुम्ह कृपाल जा पर अनुकूला । ताहि न ब्याप त्रिविध भव सूला ।।
—सु० कां०, 3/47

(2) अब हम नाथ सनाथ सब, भए देखि प्रभु पाय ।
भाग हमारे आगमनु, राउर कोसलराय ।।135।।
--अयो० कां०

प्रथम चौपाई का राम-दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् यह विभीषण का कथन है,

तथा अंतिम चौपाई [illegible]

साम्य—

उपनिषद-वाक्य

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्— उस ब्रह्म के [illegible] को जानने वाला [illegible] ब्रह्म से [illegible] हो गया हो [illegible] रूप)।

[illegible]

न बिभेति कुतश्चनेति-- (किसी से भी भयभीत नहीं होता)

(1) अब मैं [illegible] प्रभु-दर्शन से [illegible] अवस्था की प्राप्ति हुई है [illegible] अनुकूला, ताहि न [illegible] त्रिविध-ताप तीन प्रकार के होते हैं [illegible] (आधिदैविक) आधिभौतिक, आध्यात्मिक [illegible] किसी से भयभीत होने का भाव [illegible] हो गया है। त्रिविध भय [illegible] के अतिरिक्त और कोई भय संभव नहीं है।

(2) अब हम नाथ सनाथ भये [illegible] प्रभु के दर्शन के पश्चात् निषादराज के मुख से निकली यह उक्ति है। प्रभु के दर्शन के पश्चात् सनाथ होने की भावना के पीछे अभय-भावना छिपी है। सनाथता की भावना के पीछे रक्षा का अभय हस्त है।

उपनिषद् के ज्ञान-ग्रन्थ होने का तथा मानस के भक्ति-ग्रन्थ होने का भाव यहाँ पुनः मुखरित हो उठता है। ज्ञान निर्गुण-उपासना है, भक्ति सगुण-उपासना। ज्ञान में भगवान् का साक्षात्कार निर्गुण रूप का है, भक्ति में साकार रूप का, अतः मानस में साकार-दर्शन के पश्चात् ही निर्भय होने की उक्तियाँ प्राप्त हैं।

निर्गुण का आधार विचार है, सगुण का आधार रस है। रस का आधार कथा-प्रसंग है, अतः सगुण रूप में रसात्मक भाव की अभिव्यक्ति के लिए कथा-माध्यम चाहिए; निर्गुण को नहीं। सत्य तो यह है निर्गुण के कारण मानस ने उपर्युक्त भाव-व्यंजनाएँ कथा-प्रसंगों के माध्यम से की हैं।

(3) जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघ जग माँहीं ।।5/49।।
—सु० कां०

साम्य

उपनिषद् वाक्य	मानस-चौपाइयां
(1) 'ब्रह्मनिष्ठ'	(1) (क) 'पुन्य पुरुष कहुँ महि सुख छाँही' (ख) 'धरमशील' चौपाई के उपर्युक्त शब्द 'ब्रह्मनिष्ठ' का भाव लेकर प्रयुक्त हुए हैं। जिस प्रकार ज्ञानी को 'ब्रह्मनिष्ठ' होने की संज्ञा प्राप्त है, उसी प्रकार भक्त को 'पुण्य पुरुष' व 'धर्मशील' होने की।
	(2) 'राम कीन्ह आपन'—राम का अपना हो जाना ही भक्त के लिए ज्ञानी के 'ब्रह्म-निष्ठ' हो जाने के समान है। क्योंकि ज्ञानी को 'ब्रह्मनिष्ठ' हो जाने की संज्ञा तब प्रदान होती है, जब वह ब्रह्ममय हो जाता है। दूसरे शब्दों में, वह ब्रह्म का अपना हो जाता है।
ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित हो जाना	(3) सखा—मानस चौपाई में प्रयुक्त 'सखा' शब्द विभीषण के प्रति सम्बोधित है। यह सम्बोधन भगवान् के सामीप्य का बोधक है। अतः इष्टदेव जिस भक्त को सखा कहकर सम्बोधित करें, वह भक्त 'ब्रह्मनिष्ठ' ज्ञानी के समान ही भगवान् का सामीप्य रखता है। 'सखा' सम्बोधन

		सगुण रूप में सामीप्य दर्शाने का एक रूप हुआ ।
(2) आप्नोति स्वाराज्यम् मनसस्पतिम् । चक्षुष्पतिः क्षेत्रपतिः । विज्ञानपतिः भवति	(क)	जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं । जद्यपि ताहि कामना नाहीं ॥ तिमि सुख संपति बिनहि बोलाएँ । धरमसील पर जाहि सुभाएँ ॥ सुख व संपत्ति का बिन बुलाए ही धर्मशील मनुष्य के पास जाना, उनके आश्रित रूप का दिग्दर्शन करा रहा है । दास ही सेवा रूप में बिन बुलाए स्वामी के सम्मुख खड़ा रहता है। सुख व सम्पत्ति का स्वयं, बिना बुलाए स्वाभाविक ही, 'पुण्य पुरुष धर्मशील के समीप चला जाना' उनका सुख-संपत्ति पर प्रभुत्व होना दर्शाता है । 'सुख व संपत्ति' प्रवृत्ति के अन्तर्गत आते हैं—

प्रकृति का अधिष्ठातृत्व

सुवरि······

(1) आप्नोति स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः । एतत्ततो भवति ॥2॥

—तै० उप०, अनु० 6, व० 1

अर्थ—जो इस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, वह स्वराट् बन जाता है । अर्थात् उस पर प्रकृति का अधिकार नहीं रहता, वह स्वयं प्रकृति का अधिष्ठाता बन जाता है, क्योंकि वह मन के समस्त अन्तःकरण के स्वामी परमात्मा को प्राप्त कर लेता है । इसलिए वह श्रोत्र, नेत्र, वाणी आदि समस्त इन्द्रियों और उनके देवताओं का तथा विज्ञानस्वरूप बुद्धि का भी स्वामी बन जाता है ।

(2) सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥3॥ —तै० उप०, अनु० 5, व० 1

अर्थ—ब्रह्मवेत्ता के लिए समस्त देवता भेंट लाते हैं ।

उपनिषद् के दोनों वाक्यों का साम्य देखा जा सकता है । एक का भाव है कि ब्रह्मवेत्ता समस्त प्रकृति व देवताओं का स्वामी हो जाता है, दूसरे वाक्य का आशय है कि ब्रह्मवेत्ता के प्रति सभी भेंट लाते हैं । भेंट अधिष्ठाता व स्वामी को ही अर्पित की जाती है, अतः उपनिषद्-वाक्य का भाव एक ही है, वह केवल दो रूप में व्यक्त किया गया है ।

साम्य प्रस्तुत करने वाली चौपाइयाँ—

(1) मुनि बोले गुर अति सुख पाई। पुन्य पुरुष कहुँ महि सुख छाई॥
जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥1॥
तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाएँ। धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ॥2/224॥
—बा० कां०

अर्थ— गुरु ने प्रसन्न होकर कहा कि पुण्यशील पुरुष के लिए पृथ्वी सुखों से छायी हुई है। जैसे नदियाँ समुद्र में आती तो हैं, परन्तु समुद्र को उनकी कामना नहीं होती, वैसे ही सुख व सम्पत्ति बिना बुलाए ही धर्मात्मा पुरुष के पास आती हैं।

(2) कपटी कायर कुमति कुजाती। लोक बेद बाहेर सब भाँती॥
राम कीन्ह आपन जब हीं ते। भयउँ भुवन भूषन तब हीं ते॥1/196॥
—अयो० कां०

अर्थ—मैं तो सब प्रकार से कपटी, कायर, कुमति व कुजाति का हूँ, लोक व वेद दोनों से सर्व प्रकार से बाहर हूँ। किन्तु जब से श्रीराम ने अपनाया हूँ, भुवन का भूषण हो गया हूँ।

उपनिषद् वाक्य में जिन पर प्रभुत्व दर्शाया गया है, वे सभी प्रकृति के अन्तर्गत आने वाली वस्तुएँ हैं: (आप्नोति, मन, चक्षु, श्रोत्र, विज्ञान)। सुख की प्राप्ति इंद्रिय-भाव के और संपत्ति की प्राप्ति स्वराट्[22] भाव के अन्तर्गत आती है।

(3) 'भयउँ भुवन भूषण तब हीं ते' यह निषादराज का कथन है—भुवन-भूषण हो जाने का अर्थ है, ऐश्वर्यवान् हो जाना। ऐश्वर्यवान् हो जाने में सुख-संपत्ति के होने का भाव निहित है।

(4) 'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघ जग मांहीं'॥

सखा के सम्बोधन के पश्चात् श्रीराम ने इस प्रकार दी है—

'अस कहि राम तिलक तेहि सारा—

जो संपति सिव रावनहिं, दीन्हि दिये दस माथ।

सोइ संपदा बिभीषनहिं, सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥ —सु० कां०, 49 (ख)

भगवान् का सामीप्य प्राप्त करते ही लंका पुरी की सारी संपदा विभीषण को प्राप्त हो गई।

संदर्भ

1. (1) उपक्रम उपसंहार (ग्रन्थ के आदि व अन्त में समानता)
   (2) उपपत्ति—(प्रस्तुत विषय का तर्क)
   (3) अभ्यास—(प्रस्तुत विषय का बारंबार आना)
   (4) अर्थापत्ति—(गुरु का महिमा-गान)
   (5) अपूर्व—(जिसका ज्ञान स्वयं नहीं कर सकते, उसका ज्ञान कराना)
   (6) फल—(फल प्राप्ति, मोक्ष फल)
2. पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच भूतों का सम्यक् प्रकार से उत्थान होने, उनसे सम्बन्ध रखने वाले पांच प्रकार के योग।
3. स एतदुपनिषद्—पुरुषो ॥10॥ —मुद्गल उप०, खं० 4
4. गुनहु तात अस मानस रोगा।
   ...मारग सोइ जाकहुँ जोइ भावा।
5. मानस ने इन रोगों को पापी रोग कहा है। 'जाने ते छीजहिं कछु पापी'—ये पापी रोग जान लेने से कुछ क्षीण हो जाते हैं।
6. 'एतद् उपनिषद् नित्यमधीते'
7. सरन गएँ मो से अघरासी, होंहि सुद्ध नमामि अविनासी ॥4/124(क)॥
8. 'श्रीमांश्च भवति पुत्रपौत्रादिभिः समृद्धो भवति।'
9. 1. साधक, 2. सिद्ध, 3. विमुक्त, 4. उदासी, 5. कवि, 6. कोविद, 7. कृतज्ञ, 8. संन्यासी, 9. योगी, 10. शूर, 11. सुतापस, 12. ज्ञानी, 13. धर्म निरत, 14. पंडित, 15. विज्ञानी।
10. मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
    मिथ्यारंभ दंभ रत जेई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥2॥
11. सोइ सयान जो परधन हारी. जो कर दंभ सो बड़ आचारी...3॥98॥
    ...कृतजुग त्रेतां द्वापर, पूजा मख अरु जोग।
    जो गति सोइ सो कलि हरि-नाम ते पावहिं लोग॥102 (ख) ॥उ० कां०
12. योगाग्निमय शरीर अचूक रूप से आरोग्य हो जाता है।
13. उपासना के फल द्वारा मनुष्य तेजोमय सूर्य को प्राप्त होता है, अनिष्ट कृत्य पापादि से वह उसी प्रकार मुक्त हो जाता है जैसे सर्प केंचुली से। संत-समागम द्वारा वो विधाता को प्राप्त करता है; और तेजोमय पुरुष द्वारा वह हृदय में साक्षात्कार करने वाले परमात्मा को प्राप्त करता है।
14. राम चरित राकेस कर, सरिस सुखद सब काहु।
    सज्जन कुमुद चकोर चित, हित बिसेषि बड़ लाहु॥32(ख)॥(बा०कां०)
15. 'यथा पादोदरस्त्वचा।'

16. 'मंत्र महामनि विषय व्याल के'
17. दर्शनशास्त्र वह शास्त्र है जो विषय का दर्शन करा दे—वर्णित वस्तु को 'दर्शन हेतु' (प्राप्ति हेतु) उपलब्ध करा दे।
18. ब्रह्मलोक की प्राप्ति पाप विनिर्मुक्ति अवस्था (पापों के नाश की स्थिति) के बाद की अवस्था है। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि (मं० उप० 3/2/8); ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन (गीता 4/37)।
19. लोक शब्द का अर्थ है—वह वस्तु जो अपने कर्मों से प्राप्त की जा सके।
20. हंस—(1) अहं + सः = सो + हम् = हम् + स = हंस
    (2) परस्वमिनि ब्रह्मणि हंसो गच्छति इति परमहंसः।
    (3) नीर क्षीर विवेकः—परः अपरः विवेकः।
21. चौपाई में अलिखित, परन्तु विषय राम-कथा होने के कारण 'राम-कथा'।
22. जो मुक्त है वही अमृत है।
23. मनुष्य शरीर के पांच कोष।
24. स्वराट्—प्रकृति का अधिष्ठाता होने के फलस्वरूप सर्व [संपत्तियों का स्वामित्व प्राप्त करता है।

तृतीय प्रकरण

तत्त्व-दर्शन

जीव-तत्त्व
नर-देह
पंच-तत्त्व-दर्शन
माया और हृदय-ग्रंथि
स्वप्नवत्
रहस्य तथा रहस्य-दर्शन
नेति की शैली का संदेश
श्रद्धा
भक्ति
अज्ञेयता

जीव तत्त्व

जीव वह है जो अविद्या द्वारा ब्रह्म-स्वरूप पर अध्यस्त हो गया है। यह जीव कर्त्ता व भोक्ता है और पुनर्जन्म को प्राप्त होता है। सर्व दुःख-सुख, जन्म-मरण आदि विकार जीव में ही होते हैं, न कि ब्रह्म में, क्योंकि ब्रह्म सत्य-स्वरूप है। सत्य वह, जो किसी भी विकार को प्राप्त न हो। इसी जीव को प्रमाणपूर्वक विचार करने से अविद्या का नाश होने पर मुक्ति की प्राप्ति होती है। जब तक जीव की मुक्ति नहीं होती, तब तक वह छह[1] धातुओं, छह शत्रुओं, छह विकारों, छह ऊर्मियों तथा छह भ्रमों में फँसा रहता है।

तीनों अवस्थाएँ,[2] तीनों गुण, तीनों काल, तीनों कर्म जीव पर ही अपना प्रभाव डालते है।

पंच प्राण[3], पंच कोष, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच यज्ञ जीव पर ही व्याप्त होते हैं। जीव अविद्या से ग्रसित तथा आबद्ध है। आत्मा के वास्तविक सत्य-स्वरूप को सम्यक् रूप से ग्रहण करके वह मुक्ति की प्राप्ति कर सकता है।

जीव सम्बन्धी चौपाइयाँ—

सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनइ न जाइ बखानी॥
ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥1॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥2॥
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रन्थि न होइ सुखारी॥
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥3॥

—उ० कां०, 117 (क)

अर्थ—काकभुशुण्डि जी गरुड को जीव की परिभाषा बताते हुए कहते हैं—"हे तात! यह अकथ कहानी सुनिये! यह समझते ही बनती है, भाषा में अभिव्यक्त नहीं की जा सकती। जीव 'अविनाशी ईस्वर' का अंश है। वह चेतन, निर्मल

और स्वभाव से ही सुख की राशि है। हे गोसाईं ! वह माया के वश में होकर तोते और वानर की भाँति अपने-आप में ही बँध गया है। इस प्रकार जड़ और चेतन में ग्रन्थि पड़ गयी है। यद्यपि यह ग्रन्थि मिथ्या है, तब भी उससे छूटने में कठिनाई होती है। तभी से जीव संसारी हो गया है।

जिस प्रकार झरोखे से आते हुए सूर्य के प्रकाश पर शीशे की चमक देने से उस प्रकाश में से भाँति-भाँति के इन्द्रधनुषीय रंग झलकने लगते हैं, उसी प्रकार औपनिषदिक तत्त्व का दृष्टिकोण मन में रखकर मानस का पाठ करने पर चौपाइयों में से भिन्न-भिन्न उपनिषद्-वाक्यों के भाव प्रतिबिंबित होते हैं।

'नाना पुरान निगमागम सम्मत' के दृष्टिकोण से देखने से ज्ञात होता है कि मानस के रचयिता ने किस सुगम रीति से अपने पाठकों को उपनिषद्-मंत्रों के भाव से परिचित कराया है। चौपाइयाँ अपने कथा-प्रवाह में बहती जाती हैं और उनमें उपनिषद्-वाक्यों के अर्थ स्थान-स्थान पर झलकते जाते हैं।

समभाववाले उपनिषद्-वाक्य

सर्वाहंमानी हिरण्यगर्भ स्त्रिरूप ईश्वरवद्व्यक्तचैतन्यः सर्वगो ह्येष जीवो नियन्तेश्वरः हेश्वरः।—नृसिंहोत्तर उ०, 'ख' 9

अर्थ—माया ही के कारण जीव और ईश्वर में भेद है, शरीर में अभिमान रखने वाला 'चेतन जीव' कहलाता है और उस पर नियंत्रण रखने वाला 'ईश्वर'।

समभाव की चौपाई

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो माया बस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥

वाक्य व चौपाई, दोनों का ही कथन है कि--

1. जीव ईश्वर का अंश है।[4]
2. माया के कारण ही दोनों में भिन्नता की प्रतीति होती है।[5]

इस प्रकार वाक्य व चौपाइयों में उपर्युक्त दोनों भावों का साम्य प्राप्त होता है।

जीव ईश्वर का अंश है। जब ईश्वर का स्वरूप 'अविनाशी, चैतन्य, अमल, सहज सुख की राशि' है, तब उसके अंश 'जीव' का स्वरूप भी वैसा ही होना चाहिए। जैसा मूल होता है, उसका अंश भी वैसा ही होता है। इसी न्यास के अनुसार जरा-सी दाल का नमक चख कर जान लिया जाता है कि पूरी पतीली की दाल का नमक ऐसा ही होगा या एक चावल देखकर यह जान लिया जाता है कि पतीली के सब चावल इतने ही गल गए होंगे। जब सर्व अंश मूल के समान होते हैं, तो जीव भी, जो ईश्वर का अंश है, गुणों में अपने मूल के समान होगा। जब जीव का वास्तविक स्वरूप ईश्वर के गुणों के समान अविनाशी, चैतन्य, अमल और सहज सुखराशि है,

तव जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कैसे गया ? वाक्य का कथन है कि माया के कारण जीव व ईश्वर में भेद आ गया है। मानस ने वाक्य के इस कथन को थोड़ा और स्पष्ट व रोचक बनाकर व्यक्त किया है। माया के वश में हो जाने के कारण जीव की दशा 'कीर' व 'मरकट' के समान हो गयी है। जिस प्रकार कीर अपने पंजों से पकड़ी हुई वस्तु नहीं छोड़ते, और मरकट अपनी मुट्ठी नहीं खोलते, उसी प्रकार जीव माया का त्याग न कर पाने के कारण आवद्ध रहता है। जीव यदि माया को छोड़ सके तो अपने सहज ईश्वर-स्वरूप को प्राप्त हो जाय। वाक्य या मानस, दोनों के कथन का सारांश यही है। मानस ने जीव को मायावश होने के कारण ईश्वरत्व से पृथक् कहा है, तो उपनिषद् वाक्यों में माया को ईश्वर व जीव में भेद डालने का आदि कारण बताया है। आदि कारण समझने की बौद्धिक क्षमता उस समय की संस्कृति-विहीन यवन-शासित जनता में नहीं थी, अतः उसी आदि कारण की अभिव्यक्ति सुगम सहज ग्राह्य रूप से मानस द्वारा की गयी है। ०००

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥7॥
संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरत विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥8॥

— श्वेता उप०, प्रथम अध्याय— नारद परिव्रज[G] उप० 9

अर्थ —यह वेद-वर्णित परब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ आश्रय व अविनाशी है। उसी में तीनों लोक स्थित हैं। वेद के रूप को जाननेवाले महापुरुष यहाँ अन्तर्यामी रूप से स्थित उस ब्रह्म को जानकर, उसी के परायण हो, उस परब्रह्म में लीन होकर, सदा के लिए जन्म-मृत्यु से मुक्त हो गये ॥7॥

व्यक्त व अव्यक्त-स्वरूप, इस विश्व का, परमेश्वर ही धारण और पोषण करता है। जीवात्मा इस जगत् के विषयों का भोक्ता बना रहने के कारण प्रकृति के अधीन हो उसमें बँध जाता है। उस परम देव परमेश्वर को जानकर सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है ॥8॥

समभाव वाली चौपाई

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई ॥2॥
तव ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी ॥
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई ॥3॥

—उ० कां०, 117

छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तब यह जीव कृतारथ होई ॥3॥
—उ० कां०, 118

1. 'छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तब यह जीव कृतारथ होई'—इस चौपाई का भाव यह है कि यदि कोई आत्मा व जीव में पड़ी यह ग्रन्थि (अज्ञान-ग्रन्थि—अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति अज्ञानता) का विमोचन कर सके, तो वह कृतार्थ हो जाता है। चौपाई का यह भाव उपर्युक्त वाक्यों के इन अंशों में प्राप्त है।

अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥7॥

अन्तर्यामी रूप से ब्रह्म को जानना ही ग्रन्थि का विमोचन है और सदा के लिए जन्म-मृत्यु के चक्र से छूट जाना ही जीव का कृतार्थ हो जाना है।

देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥8॥

उस परम देव को जानना ही ग्रन्थि का विमोचन है तथा सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाना ही जीव का कृतार्थ हो जाना है।

(2) 'जड़ चेतनहि ग्रन्थि पड़ गई' का भाव 'अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्' जीवात्मा का भोक्ताभाव उसको प्रकृति के अधीन कर देता है और यह भाव ही उसके बंधन का कारण है। जीव का प्रकृति से बँध जाना ही वह भाव है जिसको ग्रन्थि कहते हैं। चौपाई में जड़ और चेतन के बीच ग्रन्थि पड़ जाने का आन्तरिक अर्थ यह है कि चैतन्य जीव, जड़ प्रकृति से बँध गया है। बँध जाना ही ग्रन्थि है। बिना ग्रन्थि पड़े कोई बन्धन सुदृढ़ नहीं माना जाता।

3. 'श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई'—यहाँ मानस का श्रुति-पुराणों को प्रमाण-रूप में प्रस्तुत करना विषय की गूढ़ता पर प्रकाश डालता है तथा इस तथ्य को मान्यता देता है कि चैतन्य तत्त्व प्रकृति से ग्रथित होकर जीव होता है तथा उस ग्रन्थि के छूटने पर कृतार्थ हो जाता है।

4. 'छूट न अधिक-अधिक अरुझाई'—भक्ति-भावना का महत्त्व स्थापित करने के भाव से लिखा गया है। मानस भक्ति-ग्रन्थ है तथा भक्ति-पक्ष के प्रतिपादन में ज्ञान-मार्ग की दृढ़ता की ओर संकेत करके भक्ति-मार्ग की सहजता पर प्रकाश डाल रही है। ०००

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥9॥
—श्वेता० उप०, अ० 10

अर्थ—सर्वज्ञ और अज्ञानी तथा सर्वसमर्थ और असमर्थ—ये दो अजन्मा आत्मा हैं। तथा भोक्ता जीवात्मा के लिए, भोग-सामग्रीयुक्त अनादि प्रकृति एक

तीसरी शक्ति है, क्योंकि वह परमात्मा, अनन्त, सम्पूर्ण रूपों वाला, कर्त्तापन के अभिमान से रहित है। जब मनुष्य इन तीनों—ईश्वर, जीव और प्रकृति—को ब्रह्म-रूप से प्राप्त कर लेता है, तब वह सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

समभाव की चौपाई—

> माया ईस न आपु कहुँ, जान कहिअ सो जीव।
> बंध मोच्छप्रद सर्बपर, माया प्रेरक जीव॥—अरण्यकाण्ड, 15

अर्थ—जो माया को, ईश्वर को और अपने स्वरूप को नहीं जानता, उसे जीव कहना चाहिए। जो बन्धन और मोक्ष देनेवाला है, सबसे परे और माया का प्रेरक है, वह ईश्वर है।

उपर्युक्त मंत्र का भावार्थ है कि तीनों स्वरूपों—परमेश्वर, जीवात्मा तथा प्रकृति—का ज्ञान हो जाने के पश्चात् जीवात्मा जीवात्मा नहीं रहता, वह परमात्मा से मिल जाता है। अर्थात्—वह जीवात्मा तभी तक है, जब तक वह माया का, अपना व ईश्वर का वास्तविक स्वरूप नहीं समझता। मानस की चौपाइयाँ भी उपनिषद्-वाक्य के इसी भावार्थ को व्यक्त कर रही हैं—"माया ईस न आपु कहु, जान कहिअ सो जीव।' वाक्य कह रहे हैं— कि "जब जीव माया व ब्रह्म को जान लेता है तब वह बन्धनों से मुक्त हो जाता है।" चौपाइयाँ कह रही हैं, "जब तक जीव माया व ब्रह्म को नहीं जानता, तब तक जीव रहता है।" भाव एक ही है, व्यक्त करने के दो रूप हैं। उदाहरणार्थ—"जब तक धन नहीं है, तब तक प्राणी निर्धन है"; "प्राणी तब तक निर्धन है जब तक उसके पास धन नहीं है।" इन दोनों वाक्यों में भाव को अभिव्यक्त करने का रूप भिन्न-भिन्न होते हुए भी भाव एक ही है। इसी प्रकार जीव, माया व ब्रह्म को जानकर बन्धनमुक्त हो जाता है (उपनि० वाक्य); तथा, जीव, ब्रह्म व माया को न जानकर बंधनों में बँधा जीव ही रह जाता है, (चौपाई)—ये एक ही भाव के दो कथन हैं, जो ऊपर से पृथक् दिखते हुए भी अन्दर से एक हैं।

उपनिषद्-वाक्य में जिस स्वरूप को 'अनन्त, विश्वरूप व अकर्त्ता (अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता) कहा है, चौपाई में उसीको संक्षेप में 'सर्बपर' कहा है। तीनों गुणों को अलग-अलग व्यक्त न करके संक्षेप में 'सर्बपर' कहकर व्यक्त कर देने का कारण विचाराधीन दोहे की प्रारंभिक चौपाई में मिल जाता है—"थोरेहिं में सब कहउँ बुझाई, सुनहु तात मति मन चित लाई॥ (अर० कां०, 15) संक्षिप्त रूप से 'थोरेहिं' में कहने के कारण भाव पर अधिक महत्त्व है, शब्दों पर कम। 'सर्बपर' शब्द के अन्तर्गत उपनिषद्-वाक्य में वर्णित तीनों गुण (अनन्त, विश्वरूप और अकर्त्ता) अपने भावार्थ में आ जाते हैं।

- जगत् नाशवान् है, भगवान् अनन्त हैं, अतः वह जगत् से परे हैं।

० वह नानात्मक जगत् का धारणकर्त्ता है, धारणकर्त्ता के नाते वह विश्वरूपात्मक जगत् से परे है।

० जगत् की कर्त्ता, प्रकृति उसका एक अंश-मात्र है, वह अकर्त्ता-रूप से कर्त्ता-भाव से परे है।

इस प्रकार चौपाई के 'सर्वपर' शब्द में वाक्य-वर्णित आत्मा के तीनों गुण अपने भावात्मक रूप से आ जाते हैं। ०००

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥10॥
ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥11॥
एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥12॥
वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥13॥
स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥14॥
तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥15॥
सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥16॥

—श्वेता० उप०, अ० 1

अर्थ—विनाशशील प्रकृति का भोगने वाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है। विनाशशील जड़तत्त्व और चेतन आत्मा, दोनों को एक ईश्वर अपने शासन में रखता है। उसका निरन्तर ध्यान करने से, मन को लगाये रखने से तथा तन्मय हो जाने से, अन्त में फिर माया की निवृत्ति हो जाती है ॥10॥

उस परम देव का निरन्तर ध्यान करने से, उस प्रकाशमय परमात्मा को जान लेने पर समस्त बन्धनों का नाश हो जाता है; क्लेशों का नाश हो जाने पर जन्म-मृत्यु का सर्वथा अभाव हो जाता है। शरीर का नाश हो जाने पर स्वर्ग तक के ऐश्वर्य का त्याग कर वह सर्वथा विशुद्ध पूर्णकाम हो जाता है ॥11॥

अपने भीतर—स्थित इस ब्रह्म को ही सदैव जानना चाहिए, इससे बढ़कर

जानने योग्य तत्त्व और कुछ नहीं है। भोक्ता, भोग्य और उनके प्रेरक परमेश्वर—इन तीनों को जानकर प्राणी सब-कुछ जान लेता है। यह तीन भेदों में बताया हुआ ब्रह्म है ॥12॥

जिस प्रकार आश्रयभूत काष्ठ में स्थित अग्नि का रूप नहीं दिखता, परन्तु उसमें अग्नि की सत्ता का नाश नहीं होता, वह चेष्टा करने पर अपने आप में ग्रहण किया जा सकता है, इसी प्रकार वे दोनों—जीवात्मा व परमात्मा—शरीर में ही ओंकार के द्वारा साधन करने पर ग्रहण किये जा सकते हैं ॥13॥

अपने शरीर को नीचे की अरणि और प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान के द्वारा निरन्तर मन्थन करते रहने से, छिपी हुई अग्नि की भाँति परमदेव परमेश्वर को देखें ॥14॥

तिलों में तेल, दही में घी, सोतों में जल और अरणियों में अग्नि जिस प्रकार छिपे होते हैं, उसी प्रकार वह परमात्मा अपने हृदय में छिपा हुआ है। जो साधक इसको सत्य के द्वारा, संयम-रूप तप से देखता है, वही उसको ग्रहण करता है ॥15॥

दूध में स्थित घी की भाँति सर्वत्र परिपूर्ण आत्मविद्या तथा तप से प्राप्त होने वाले परमात्मा को साधक जान लेता है। वही उपनिषदों में वर्णित परम तत्त्व ब्रह्म है ॥16॥

समभाव की चौपाइयाँ

जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि, भजहिं जीव ते धन्य ॥119॥

कहेउँ ग्यान सिद्धांत बुझाई। सुनहु भगति मनि कै प्रभुताई ॥
राम भगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर ॥1॥

परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती ॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा ॥2॥

प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई ॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं ॥3॥

गरल सुधासम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई ॥
ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी ॥4॥

राम भगति मनि बस उर जाके। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके ॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं ॥5॥

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई ॥
सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहिं भटभेरे ॥6॥

पावन पर्वत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना ॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी ॥ 7 ॥
भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुखखानी ॥
मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक रामकर दासा ॥ 8 ॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदनतरु हरि संत समीरा ॥
सबकर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई ॥ 9॥
अस बिचारि जोइ करि सतसंगा। रामभगति तेहि सुलभ बिहंगा ॥ 10 ॥

ब्रह्म पयोनिधि मंदर, ग्यान संत सुर आहि।
कथा सुधा मथि काढ़हिं, भगति मधुरता जाहि ॥ 120 (क)॥
बिरति चर्म असि ग्यान मद, लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरिभगति, देखु खगेस बिचारि ॥ 120 (ख)॥

—उ. कां.

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥10॥[7]

—श्वेता० उप०, अ० 1

जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि, भजहिं जीव ते धन्य ॥ 119 (ख) ॥

इस साम्य में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रस्तुत वाक्य व दोहे में, भाव-साम्य होते हुए भी, ज्ञान-मार्ग व भक्ति-मार्ग के साधकों की बौद्धिक व मानसिक आवश्यकताओं के अनुसार, एक ही भाव को दोनों ने, अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप कहीं विस्तार से तो कहीं संक्षेप से अभिव्यक्त किया है।

वाक्य	दोहा
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।	"जो चेतन को जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य।" उपनिषद्-वाक्य के 'देव एकः' का भाव मानस के दोहे में संकेत द्वारा क्रिया में एकवचन का प्रयोग करके (जो करइ) अभिव्यक्त किया गया है। 'जो करइ' का वास्तविक अर्थ हुआ— 'एक देव, जो जड़ को चेतन व चेतन को जड़ करता है।' यहाँ केवल संज्ञा व सर्वनाम का भेद है। 'देव एकः' में 'देव' संज्ञा

है। दोहे में प्राप्त 'जो' उसका सर्वनाम है। 'करइ' शब्द उसके एकवचन होने का द्योतक है।

क्षरात्मानो एक देवः ईशते—

[क्षर (विनाशशील) तथा आत्मा (अविनाशी)—दोनों पर एक ही देव शासन करता है।]

'जो चेतन को जड़ करइ,
जड़हि करइ चैतन्य।'

जिसमें जड़ को चैतन्य में, और चैतन्य को जड़ में परिवर्तित करने की शक्ति होगी, वह अवश्य ही दोनों पर समान रूप से शासन कर सकेगा। अतः दोनों वाक्यों व चौपाई के कहने का भाव यह है कि जड़ व चैतन्य दोनों एक ईश्वर से ही शासित होते हैं।

उपनिषद्-वाक्य की अभिव्यक्ति अपने पाठक को मनन की ओर प्रेरित करती है। मानस का दोहा 'जो चेतन को जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य' के कथन द्वारा इष्टदेव के प्रति अद्भुत आश्चर्य व सर्व सामर्थ्य के भाव हृदय में जाग्रत करके, भक्त के हृदय में इष्ट के प्रति 'श्रद्धाभाव' की वृद्धि करता है। इस प्रकार भाव-अभिव्यक्ति में 'सर्व समर्थता' का भाव वाक्य व मानस का दोहा एक समान ही कर रहे हैं। केवल मानस अपनी भाव-अभिव्यक्ति भक्त के हृदय को ध्यान में रखकर कर रही है, और वाक्य, बौद्धिक स्तर पर जिज्ञासु की मनन-शक्ति को बढ़ावा दे रहे हैं।

ईशते

'अस समर्थ'—'ईशते' व 'अस समर्थ' दोनों शब्दों का भाव एक ही हैं। 'ईशते' अर्थात् नियन्त्रण में रखना। नियन्त्रणकर्त्ता में नियन्त्रित पात्र से अधिक प्रभुत्व व सामर्थ्य होती है।

'ईशते' शब्द के अन्दर सामर्थ्य का जो भाव निहित है, चौपाई में वही सामर्थ्य का

	भाव 'अस समर्थ' कहकर खोलकर रख दिया गया है।
अभिध्यानात् योजनात्—	मानस में 'अभिध्यानात् योजनात्' शब्दों के स्थान पर 'भजहि' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'अभिध्यानात्' शब्द का अर्थ होता है निरन्तर ध्यान करना, तथा 'योजनात्' शब्द का अर्थ हुआ—'मन को उसमें लगाये रखना।' 'भजन' शब्द में भगवान् का ध्यान करना, व मन को उनमें लगाना, व उनके नाम का उच्चारण करना—ये तीनों भाव आ जाते हैं। इस प्रकार 'भजन' शब्द में भक्तों की हृदय-भावना की रक्षा भी होती है, तथा गर्भ में 'अभिध्यानात्' व 'योजनात्' शब्दों का भाव भी सुरक्षित रहता है।
विश्वमायानिवृत्तिः—	वाक्य का कथन है कि उसका ध्यान करने से 'विश्व-रूप माया की निवृत्ति' होती है। दोहे का कथन है कि ऐसा करने से जीव धन्य हो जाता है। उपनिषद् का जिज्ञासु 'माया - निवृत्ति' का अर्थ समझता है, परन्तु भक्त 'विश्व-माया-निवृत्ति' का अर्थ नहीं समझता है। वह तो अपने इष्टदेव को पाकर ही धन्य होना चाहता है। जिज्ञासु की आत्मतुष्टि माया-निवृत्ति में है, भक्त की आत्मतुष्टि इष्टदेव के दर्शन व सामीप्य में है। दोनों ही अपनी-अपनी आत्मतुष्टि में अपने को धन्य समझते हैं। जो अपने को जिस भाव-प्राप्ति में धन्य समझे, वही उसकी आत्मतुष्टि है। दोहे में प्रयुक्त 'धन्य' शब्द इसी आत्मतुष्टि के भाव को लेकर आया है।

मानस की चौपाई व ऊपर उद्धृत श्वेताश्वतरोपनिषद् के ग्यारहवें वाक्य का साम्य—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशपहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्यु प्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल अप्राप्कामः ॥11॥[3]

—श्वेता० उप०, अ० 1

मानस की चौपाइयाँ

कहेउँ ग्यान सिद्धान्त बुझाई। सुनहु भगति मनि कै प्रभुताई॥
राम भगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर॥1॥

परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती॥

—उ०कां०, 120 (ख)

उपर्युक्त वाक्य व चौपाई, दोनों ही परमेश्वर की प्रभुता का वर्णन कर रहे हैं। वाक्य परमात्मा के ज्ञान की महिमा व्यक्त कर रहे हैं, तथा मानस की चौपाइयाँ श्रीराम की भक्ति की महिमा बता रही हैं। इस प्रकार दोनों ही अपने-अपने मार्ग के अनुरूप (उपनिषद्-ज्ञान व मानस-भक्ति) अपने-अपने इष्ट व ध्येय की महिमा का गान कर रहे हैं।

देवं —उपनिषद्-वाक्य में परमात्मा के लिए 'देवं' शब्द का उपयोग किया है (ज्ञात्वा देवं) संस्कृत में 'देव' शब्द के कई अर्थ हैं। इन अर्थों में से यहाँ 'देव' शब्द का अर्थ 'प्रकाशमय' लिया गया है। इस प्रकार 'देव' शब्द का अर्थ हुआ, 'प्रकाशमय परमेश्वर'। इस प्रकाशमय स्वरूप के वर्णन में जो प्रकाश का भाव है, वह चौपाई में 'मणि' शब्द द्वारा व्यक्त हुआ है। चौपाई में प्रयुक्त 'भगति मनि' से दो अर्थ लिये जा सकते हैं —एक 'बहुमूल्य' होने का; दूसरा 'प्रकाशमय' होने का। 'परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती' कहकर गोस्वामी तुलसीदास ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'भगति मनि' कहकर उनका अभिप्राय भक्ति के प्रकाशमय रूप की अभिव्यक्ति से है। 'देवं' शब्द से जिस प्रकाश की अभिव्यक्ति होती है, वह प्रकाश भी मणि के प्रकाश के समान स्वभासित रहने वाला 'परम प्रकाश' है। इस प्रकार 'देवं' व 'मणि' से प्राप्त होने वाले प्रकाश में भी समानता है।

क्षीणैः क्लेशैः—उपनिषद्-वाक्य का कथन है कि "परमात्मा को जानने के पश्चात् क्लेश क्षीण हो जाते हैं।" मानस अपनी निम्न चौपाइयों में अभिव्यक्त करती है कि 'सुंदर राम भगति' पाकर वे कौन-कौन से क्लेश हैं जो क्षीण हो जाते हैं—

मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥
प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं॥3॥

गरल सुधासम अरि हित होई । तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई ।
ब्यापहिं मानस रोग न भारी । जिन्ह के बस सब जीव दुखारी ।।4।।

—उ० कां०, 120 (क)

इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ये जितने क्लेश उपर्युक्त चौपाइयों में आये हैं, वे सभी मानसिक क्लेश हैं। बारंबार जन्म-प्राप्ति का कारण आसक्तियाँ मानी जाती हैं। मन के शान्त व निःस्पृह हो जाने पर पुनर्जन्म का कोई कारण शेष नहीं रहता। वास्तव में मानसिक रोगों को दूर करके, मन को निःस्पृह करने की जो प्रभुताई भक्ति में है, उसका वर्णन करके, दूसरे शब्दों में, मानस की चौपाइयों ने उपनिषद्-वाक्य के 'जन्म मृत्यु प्रहाणिः' भाव को ही दूसरे रूप में अभिव्यक्त किया है।

वाक्य—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।।12।।

—श्वेता० उप०, अ० 1

चौपाई—राम भगति मनि उर बस जाकें । दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें ।।
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं । जे मनि लागि सुजतन कराहीं ।।5।।

—उ० कां०, 120

'एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थम्'—'राम भगति मनि बस उर जाकें' वाक्य का कथन है कि अपने भीतर स्थित ब्रह्म को सदा जानना चाहिए। अतः मानस का कथन है 'जिसके हृदय में भक्ति बसती है। दोनों ही—मानस व वाक्य—अपने-अपने मार्गों के अनुकूल हृदय में परम तत्त्व को (ज्ञान, भक्ति) बसाने की बात कर रहे हैं। व्यक्त करने का विषय एक है, केवल उसको व्यक्त दो भिन्न रूपों से किया गया है। वाक्य परामर्श देकर कह रहे हैं कि अपने भीतर के ब्रह्म को सदा जानना चाहिए। मानस परिणाम व निष्कर्ष रूप में कह रही है कि जिसके हृदय में राम-भक्ति बस जाती है उसे किन-किन फलों की प्राप्ति होती है। ज्ञान व भक्ति की धारा भिन्न होते हुए भी दोनों कथनों का भाव एक ही है—हृदय में परमतत्त्व ब्रह्म बसा होना चाहिए।

'मत्वा सर्वम् एतत्'—'दुख लवलेस न सपनहुँ ताकें'

जिज्ञासु ज्ञान की अभिलाषा से भगवत्-प्राप्ति की ओर प्रेरित हुआ है। उसके लिए ब्रह्म को जानने के पश्चात् कुछ और जानने को नहीं रह जाता। भक्त आर्त-भाव से भगवत्-प्राप्ति की ओर प्रेरित हुआ है। उसके लिए भक्ति-मणि को हृदय में बसाने के बाद 'दुख का लवलेस भी सपने में नहीं रह जाता।' तात्पर्य यह है कि उसको जानने के बाद भक्त व ज्ञानी दोनों ही अपने-अपने उद्देश्य में पूर्णकाम हो जाते हैं।

'भोक्ता भोग्यम् प्रेरितारम्'—'जे मनि लागि सुजतन कराहीं'

उपर्युक्त दोनों वक्तव्य यद्यपि बाह्य रूप से देखने में पृथक् भले ही दीखें, तथापि उनका भावार्थ एक है। वाक्य का कथन है कि भोक्ता (जीव-आत्मा) भोग्य (जड़वर्ग) तथा इनको प्रेरित करने वाला परमेश्वर—इन तीनों को जानने वाला···। यह कथन ज्ञान-धारा का है; यही कथन जब भक्ति की धारा में परिवर्तित किया जाता है तो उसका बाह्य रूप तो बदल जाता है, परन्तु भाव वही रहते है। अतः मानस का कथन है कि 'जो भक्ति-रूपी मणि को हृदय में सुजतन से रखता है, उसको स्वप्न में भी दुःख का लवलेश नहीं रहता।'

यहाँ 'सुजतन' शब्द विशेष महत्त्व का है। उपनिषद्-कथन में जो 'यत्न' शब्द निहित है, मानस में वही भाव 'सुजतन' शब्द द्वारा व्यक्त कर दिया गया है। ज्ञानी 'भोक्ता, भोग्यम् व प्रेरितारम्' का ज्ञान प्रयत्न से ही करेगा। जिस प्रयत्न से ज्ञानी इन तीनों का ज्ञान करेगा, उसी प्रयत्न से भक्त अपने हृदय में भक्ति को सँभालकर रखेगा।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के बारहवें वाक्य के बाद जिस प्रकार तेरहवें, चौदहवें और पंद्रहवें वाक्य ध्यान की प्रक्रिया पर आते हैं और यह दर्शाते हैं कि ध्यान क्या है और उसको किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार क्रमबद्ध रूप से आगे आनेवाली नौ चौपाइयाँ यह दर्शाती हैं कि भक्ति क्या है और उसकी प्राप्ति किस प्रकार की जा सकती है।

उपनिषद् के उपर्युक्त तीनों वाक्य व मानस की चौपाइयों की नौ की संख्या भी ध्यान में रखने की वस्तु है। तीन और नौ का बड़ा अटूट सम्बन्ध है। तीन में तीन का ही गुणा करके 'नौ' संख्या की प्राप्ति होती है। भावार्थ रूप में ज्ञान के ऊपर भक्ति की महती प्रधानता व महत्ता प्रकट करना भी एक भक्ति-ग्रन्थ का उद्देश्य हो सकता है। व्यवहार में किसी बात को तीन बार कहला लेना उसके ध्रुव व निश्चयात्मक हो जाने का प्रतीक माना जाता है। उपनिषद्कार यदि ध्यान का निरूपण तीन वाक्यों में करते हैं, तो मानस के रचयिता भक्ति का निरूपण तीन, फिर तीन, फिर तीन, इस प्रकार नौ चौपाइयों में करके मानो उसके ध्रुव सत्य होने की पुष्टि डंके की चोट पर करना चाहते हैं। तीन को तीन बार कहकर संख्यात्मक रूप से कथन को ध्रुवत्व प्रदान करना, या तीन में तीन का गुणा करके चौपाई के भावों में तिगुनी गुरुता भर देना, दोनों ही अभिप्राय इस संख्या से सिद्ध होते हैं। अतः यह नौ की संख्या आलोचकों व विश्लेषणकर्त्ताओं के लिए रोचक हो सकती है। मानस में संख्या का गुण जोड़ जो कुछ भी हुआ है, वह अन्तः-प्रक्रिया से अत्यन्त सहज और स्वाभाविक रूप से हुआ है। यदि अन्तरात्मा[10] के अदृश्य अवचेतन से यह न हुआ होता तो मानस भव-तारिणी कृति न बनकर केशव की 'रामचन्द्रिका' के समान केवल एक आलंकारिक कृति ही बनकर रह गई होती।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रथम अध्याय का 16वाँ वाक्य इस अध्याय का अंतिम वाक्य है—तथा साम्य के लिए प्रस्तुत चौपाइयों में यह अंतिम चौपाई है :

सर्वं व्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्माविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥
तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥16॥

—श्वेता० उप०, अ० 1

भावार्थ—दूध में विद्यमान घी की भाँति सर्वत्र परिपूर्ण आत्मविद्या और तप से प्राप्त होने वाले परमात्मा को ही उपनिषद् में बताया हुआ ब्रह्म-ज्ञान समझें।

ब्रह्म पयोनिधि मंदर, ग्यान संत सुर आहिं।
कथा सुधा मथि काढ़हिं, भगति मधुरता जाहिं ॥120 (क)॥
बिरति चर्म असि ग्यान मद, लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरि भगति, देखु खगेस बिचारि ॥120 (ख)॥

—उ० कां०

भावार्थ—ब्रह्म समुद्र है, ज्ञान मंदराचल पर्वत है, और संत देवता हैं, जो उस समुद्र को मथकर कथारूपी अमृत निकालते हैं। उपनिषद्-वाक्य में मंथन-क्रिया का भाव सांकेतिक रूप से आया है। मानस ने इस भाव को जन-सुलभ करने के लिए उसको स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है। दोनों में ही मंथन क्रिया का साम्य है।

तपोमूलम्—इस शब्द का प्रयोग करके उपनिषद्-वाक्य ने जिस तप के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति संभव बताई हैं, मानस की चौपाइयों ने, वह तप क्या है, इसको स्पष्ट कर दिया है। 'बिरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि'—वास्तविक तप की व्याख्या इससे सुन्दर नहीं हो सकती।[11] जिस प्रकार उपनिषद्-वाक्य में तप से भगवान् की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार मानस के प्रकरण में वैराग्य-रूपी ढाल से अपने को बचाते हुए ज्ञान-रूपी तलवार से मद, लोभ और मोह-रूपी वैरियों को मारकर जो विजय प्राप्त होती है, वह हरि-भक्ति ही है। दोनों का तात्पर्य है कि भक्त को तप द्वारा ही अपने ध्येय की प्राप्ति होती है।

सन्दर्भ

1. छह धातु—चर्म, मांस, रक्त, अस्थि, नसें, मज्जा।
छह शत्रु—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य।
छह विकार—प्रिय होना, उत्पन्न होना, बढ़ना, बदलना, घटना और नाश होना।

छह ऊर्मियाँ—भूख, प्यास, शोक, मोह, वृद्धावस्था और मृत्यु ।
छह भ्रम—कुल, गोत्र, जाति, वर्ण, आश्रम और रूप ।
तीन कर्म—सम्बन्ध, निर्बन्ध, कर्त्तव्य ।

2. तीन अवस्था—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ।
   तीन गुण—सत्त्व, रज, तम ।
   तीन काल—भूत, वर्तमान, भविष्य ।
3. पंच यज्ञ—ब्रह्मयज्ञ (ज्ञान-प्राप्ति), देवयज्ञ (भजन), नरयज्ञ (सेवा), भूतयज्ञ (पशु पक्षी सेवा), पितृयज्ञ (श्राद्ध) ।
   पंच प्राण—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान,
   पंच कोष—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय ।
4. चौपाई—'ईस्वर अंस जीव अविनासी'
   वाक्य—जीवो नियन्तेश्वरः
5. चौपाई—सो माया बस भयउ गोसाईं ।
6. दोनों उपनिषदों में मंत्र समान हैं ।
7. प्रकृति तो विनाशशील है, उसको भोगने वाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है । इन विनाशशील, जड़ तत्त्व और चेतन आत्मा, दोनों को एक ईश्वर अपने शासन में रखता है । उसका निरन्तर ध्यान करने से, मन को उसमें लगाये रखने से तथा तन्मय हो जाने से, अन्त में फिर समस्त माया की निवृत्ति हो जाती है ।

उस परम देव का निरन्तर ध्यान करने से, उस प्रकाशमय परमात्मा को जान लेने पर समस्त बन्धनों का नाश हो जाता है । क्लेशों का नाश हो जाने के कारण जन्म-मृत्यु का सर्वथा अभाव हो जाता है । शरीर का नाश हो जाने पर स्वर्ग (तीसरे लोक) तक के समस्त ऐश्वर्य का त्याग करके सर्वथा विशुद्ध पूर्णकाम हो जाता है ॥11॥

अपने ही भीतर स्थित ब्रह्म को ही सर्वदा जानना चाहिए; क्योंकि इससे बढ़कर जानने योग्य तत्त्व दूसरा कुछ भी नहीं है । भोक्ता, भोग्य व उनका प्रेरक परमेश्वर—इन तीनों को जानकर मनुष्य सब-कुछ जान लेता है । इस प्रकार इन तीन भेदों में बताया जाता हुआ यह ब्रह्म ही है ।

सो मनि जदपि प्रकट उर अहई । राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई ॥
सुगम उपाय पाइबे केरे । नर हत भाग्य देहिं भटभेरे ॥6॥
पावन पर्बत बेद पुराना । राम कथा रुचिराकर नाना ॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी । ग्यान बिराग नयन उरगारी ॥7॥
भाव सहित खोजइ जो प्रानी । पाव भगति मनि सब सुख खानी ॥
मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा । राम ते अधिक राम कर दासा ॥8॥

राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥
सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई॥9॥
अस बिचारि जोइ करि सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥
—उ० काण्ड, 120

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥
—गीता, 15/1

जो इस निम्न कोटि की माया से मुक्त है, और अहंकार-अभिमान से रहित है, जिन्होंने आसक्ति रूप महादोष को जीत लिया है, जिनकी समस्त कामनाएँ शान्त हो गयी हैं, जिन्होंने सुख-दुःख रूप द्वन्द्वों का परित्याग कर दिया है, जो सर्वदा शुद्ध अध्यात्म-चेतना में स्थित रहते हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुष उस अविनाशी परम पद को प्राप्त होते हैं।

नर-देह

मनुष्य-शरीर को अधिक महत्त्व देने के दो कारण हैं। पहला कारण यह है कि इस लोक की सहस्रों योनियों में पुरुषार्थ करने की क्षमता मानव को छोड़कर और किसी योनि में नहीं है। मनुष्य-योनि को छोड़कर किसी अन्य योनि में विवेक तथा विचार की क्षमता प्राप्त नहीं है। विवेक तथा विचार द्वारा स्वयं को उच्च स्तर की ओर ले जाना ही परम पुरुषार्थ है। इस प्रकार किसी अन्य योनि में अपने को उच्चतर पर ले जाना सम्भव नहीं। इस प्रकार पुरुषार्थ करने की सामर्थ्य केवल नर-देह में होने से उसकी महत्ता बढ़ जाती है।

मन के अनुभव-स्तरों के आधार पर सात लोकों की कल्पना की गयी है। उन सब लोकों की अपेक्षा भूलोक में बृहद् सुख अनुभव करने के साधन प्राप्त हैं। ब्रह्म में विलीन हो जाने के पश्चात् जिस सुख का अनुभव नहीं हो सकता, उसी सुख का अनुभव हमको 'नर-देह' में हो सकता है।

नर-देह प्राप्त होने से ब्रह्म-ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। उसके बिना यह उपलब्धि असंभव है। इस पर प्रकाश डालते हुए बृहदारण्यक उपनिषद् का वाक्य—

न कार्यकरणाभावेनुपपत्तेविज्ञानस्य शरीरवियोगी हि मोक्ष आत्यन्तिकः शरीराभावे च करानुपपत्ति आश्रयाभावात् ततंच विज्ञानुपपत्ति अकार्यकरणत्वात्।

—बृह० उप० (शंकरभाष्य), 3-9

भावार्थ—देह और इन्द्रियों का अभाव हो जाने पर विज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, शरीर का वियोग हो जाना ही आत्यन्तिक मोक्ष है। शरीर न रहने पर इन्द्रियों का अभाव हो जाने के कारण इन्द्रियों का रहना भी असम्भव है। अतः देह व इन्द्रियों का अभाव हो जाने से उस समय विज्ञान नहीं हो सकता।

साम्य के लिए प्रस्तुत मानस की चौपाई व दोहा—

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

सो परत्र दुख पावई, सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि मर्महि ईस्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ॥ —उ० कां०, 43

उपनिषद् वाक्य	मानस-भाव
तत्वं च विज्ञानानुपपत्ति अकार्य-करणत्वात्—	1. सुर-दुर्लभ 2. साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।
अतः देह व इन्द्रियों का अभाव हो जाने के कारण उस समय विज्ञान नहीं हो सकता।	1. 'सुर-दुर्लभ' शब्दों का प्रयोग करके मानस ने पाठकों का ध्यान देवताओं के शरीर में इन्द्रियाँ न होने की ओर खींचा है। इन्द्रियाँ न होने के कारण वे जिस स्तर में हैं, उसी में बने रहते हैं, पुरुषार्थ द्वारा विज्ञान की प्राप्ति करने में असमर्थ हैं। अतः यह मानव-शरीर अपनी इन्द्रियों के कारण 'सुर-दुर्लभ' है और अत्यन्त भाग्य से प्राप्त होता है। इस प्रकार 'विज्ञान-प्राप्ति के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता' का जो भाव वाक्य में व्यक्त है, उसको भक्तों की भाषा में ढालकर मानस ने व्यक्त किया है। 2. साधन धाम मोच्छ कर द्वारा—यह साधन, जिसकी ओर मानस संकेत कर रही है, वे इन्द्रियाँ हैं जो 'मानुष तन' को प्राप्त होती हैं। इसी कारण इस शरीर को 'साधन धाम' की संज्ञा दी गयी है। इस साधन के द्वारा ही वह मोक्ष का द्वार खोलता है, यह भी स्पष्ट कर दिया गया है। वाक्य जिसको 'विज्ञान-प्राप्ति' का कारण मानते हैं, उसी को मानस ने मोक्ष का द्वार खोलने का साधन माना है। अतः दोनों का भाव एक है। 3. सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताइ। कालहि कर्महि ईस्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ॥ यह दोहा उपर्युक्त चौपाई का समर्थन करता है, तथा मनोवैज्ञानिक स्तर पर उन जन-साधारण को समझाने के लिए है जो वास्तविक वस्तु को भूलकर झूठी वस्तुओं का दोषारोपण करते हैं।

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥4॥

भावार्थ—उपर्युक्त संकेत द्वारा ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। इससे आत्मरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है। अन्तर्यामी परमात्मा से परमात्मा को जानने की शक्ति प्राप्त करता है। ज्ञान से अमृत-रूप परमेश्वर को प्राप्त होता है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥5॥
—केन उप०, खं० 2

भावार्थ—यदि इस मनुष्य-शरीर के रहते-रहते परम ब्रह्म को जान लिया, तब तो कुशल है; यदि न जान पाया तो अत्यन्त विनाश है। यही सोचकर बुद्धिमान् पुरुष प्राणि-मात्र में परमेश्वर को समझकर, इस लोक से प्रयाण करके अमर हो जाते हैं।

मानस की चौपाइयाँ—

एक बार रघुनाथ बोलाये। गुर द्विज पुरबासी सब आये॥
बैठे गुर मुनि अरु द्विज सज्जन। बोले बचन भगत भव भंजन॥1॥
सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई॥2॥
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥3॥
—उ० कां०, 43

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥1॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥
आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥2॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥3॥
नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥4॥

जो न तरै भवसागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति, आत्माहन गति जाइ॥44॥

जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदयँ दृढ़ गहहू॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥
—उ० कां०

यह कथन श्रीराम के मुख से उसी रूप में आया है जिस रूप में कि श्रीकृष्ण के मुख से गीता का संदेश प्राप्त हुआ था। 'सुनहु सकल पुरजन मम बानी'—'बोले बचन भगत भव भंजन'। अध्यात्म-संबंधी कोई भी ज्ञान उपदेश प्राप्त करने वाले की पात्रता को देखकर किया जाता है। यहाँ जिनको भगवान् का यह संदेश प्राप्त है, 'गुरु द्विज पुरवासी सब आये।'

'बैठे गुरु मुनि अरु द्विज सज्जन' की अर्ध चौपाइयों से स्पष्ट है। इस कथन के श्रोतागण गुरु वसिष्ठ, मुनि जन तथा द्विज थे। ऐसे योग्य श्रोताओं के सम्मुख भगवान् राम स्वयं अपने श्रीमुख से उपनिषद्-प्रकरण के भाव-निष्कर्ष रख रहे हैं।

उपनिषद्-वाक्य	मानस-चौपाइयां
'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।' --यदि इस मनुष्य-शरीर में जान लिया तो बहुत कुशल है; यदि इस शरीर के रहते-रहते उसे नहीं जान पाया, तो महान् विनाश है।	1. नर तनु पाइ विषयँ मन देही। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं ॥1॥ जो लोग मनुष्य-शरीर पाकर विषयों में मन लगाते हैं, वे मूर्ख अमृत के बदले विष ले लेते हैं। (2) ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा गहइ परस मनि खोई ॥2॥ उनको कभी कोई भला नहीं कहता जो पारस मणि को खोकर बदले में घुंघची ले लेता है। (3) जो न तरै भवसागर, नर समाज अस पाइ। सो कृत निंदक मंदमति, आत्माहन गति जाइ।44। जो मनुष्य ऐसे साधन पाकर भी भवसागर से न तरे, वह कृतघ्न व मन्दबुद्धि है और आत्महत्या करने वाले की गति को प्राप्त होता है। 'पलटि सुधा से सठ विष लेहीं' ॥1॥ गुंजा ग्रसइ परस मनि खोई ॥2॥ सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ'--ये चौपाइयां वाक्य के 'महती विनष्टिः' का भाव उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कर रही है। 'महती विनष्टि' क्या है, और किस रूप में हो सकती है, यह भाव जन-साधारण के हृदय में उदाहरण द्वारा अधिक सरलता से उतर सकता है। अतः मानस में अमृत को त्याग कर विष लेना, पारस मणि के स्थान पर घुंघची थाम लेना व आत्म-हत्या के दोष का पातकी होना—आदि हृदय

को उद्विग्न करनेवाले उदाहरण देकर मानस वाक्य को जन-समुदाय को हृदयंगम कराना चाहती है।

'आत्मना वीर्यम् विन्दते' —अन्तर्यामी परमात्मा से परमात्मा को जानने की शक्ति प्राप्त करता है।

(1) 'आकर चारि लच्छ चौरासी, जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी' 'फिरत सदा माया कर प्रेरा, काल धर्म सुभाव गुन घेरा। कबहुँक करि करुना नर देही, देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥3॥ यह जो माया द्वारा काल, कर्म, स्वभाव द्वारा प्रेरित चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने वाला जीव है, उसे बिना कारण स्नेह करनेवाले ईश्वर कभी बिरले ही दया करके मनुष्य का शरीर देते हैं। अन्तर्निहित भाव है कि जिससे मनुष्य-योनि पाकर वह परमात्मा की प्राप्ति कर सके।

'कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥'

संक्षेप में उपर्युक्त चौपाइयों का भाव होगा कि परमात्मा की असीम कृपा से ही साधन-धाम मनुष्य-योनि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार वाक्य के 'परमात्मा से परमात्मा को जानने की शक्ति प्राप्त होती है।' इस ज्ञान-प्रधान भाव को मानस ने बहुत ही सतर्कता व कुशलता से भक्ति का जामा पहनकर भक्त-जन-समुदाय तक पहुँचाया है। नर-देह परमात्मा की कृपा से प्राप्त होती है और वही साधन-धाम है जिसके द्वारा परमात्म-प्राप्ति की जा सकती है। इस प्रकार परमात्मा से परमात्मा को जानने की शक्ति प्राप्त होने का वाक्य-भाव भक्ति के नये कलेवर को जनसाधारण तक पहुँचाता है।

(2) 'नर तनु भव वारिधि कहुँ बेरो।
सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ॥'

उपर्युक्त चौपाइयों द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि नर-देह किस प्रकार साधन-धाम है—"यह मनुष्य का शरीर भव सागर के लिए बेड़ा

(जहाज) है। मेरी कृपा ही अनुकूल वायु है।" वाक्य का परमात्मा भक्त का इष्टदेव है, जिसकी कृपा से भवसागर पार करने की शक्ति उसको प्राप्त होती है।

'विद्यया अमृतं विन्दते' —ज्ञान से अमृतरूप परमेश्वर की प्राप्ति होती है।

'करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा, दुर्लभ साज सुलभ करि पावा'—सद्गुरु इस मजबूत जहाज के कर्णधार हैं। इस प्रकार दुर्लभ साधन सुलभ होकर उसको भगवत्-प्राप्ति के लिए प्राप्त हो गये हैं।

सद्गुरु अंधकार हर लेता है (गुरु वही है जो अंधकार में प्रकाश दे।) इस प्रकार गुरु-कृपा से भगवान् की प्राप्ति का दुर्लभ साधन सुलभ हो जाता है। इस रूप से कहा जाय, या उसी विषय को इस प्रकार कहा जाय कि 'ज्ञान से अमृत-रूप परमेश्वर की प्राप्ति होती है'—दोनों में व्यक्त विषय का भाव एक ही रहता है कि ज्ञान-प्राप्ति से परमेश्वर की प्राप्ति होती है। उपनिषद् ने जहाँ केवल 'ज्ञान-प्राप्ति' कहा है, वहाँ मानस ने वह साधन 'सद्गुरु दृढ़ नावा' भी कहकर दर्शा दिया है जिससे कि जनसाधारण इसको सुलभ कर सके।

'अमृतं विन्दते' शब्दों की अभिव्यक्ति मानस में 'दुर्लभ साज सुलभ करि पावा' पदावली द्वारा हुई है। मानो मानस जन-साधारण से मौन रूप से कह रही हो, 'दुर्लभ वस्तु सुलभ हो जाय', मूल वस्तु तो यह है। इसी को गाँठ में बाँधे रहो—अमृत-स्वरूप क्या है उसकी व्याख्या क्या है इसके विचार-विलास से क्या सिद्ध होना है।

'भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति—(सर्व प्राणियों में परमात्मा को देखकर धीर लोग, इस लोक से प्रयाण करके अमृतत्व को प्राप्त हो जाते हैं।)

'जौं परलोक इहाँ सुख चहहू।
सुनि मम बचन हृदयँ दृढ़ गहहू॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई।
भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥145, उ०कां०

(1) 'भूतेषु भूतेषु विचित्य' ज्ञान का भाव है। भक्ति-ग्रन्थ होने के नाते मानस ने उसको 'भगति

मोर' कहकर व्यक्त किया है।

(1) 'सुलभ सुखद मारग यह भाई' ज्ञान-मार्ग की दुरूहता की ओर संकेत कर रहा है।

(2) 'धीरा:'—धीर पुरुष उसको कहते हैं जो हृदय में धारणाशक्ति रखता हो अतः मानस में 'धीरा' शब्द (जन-साधारण के लिए अग्राह्य होने के कारण) व्याख्या के रूप में आया है 'सुनि मम वचन हृदयँ दृढ़ गहहू' मानस 'धीर' शब्द की व्याख्या से जनसाधारण में 'धीरता' का गुण स्फुटित कर रही है।

अमरत्व एक सुख है—ज्ञानी ही अमरत्व के सुख की कल्पना कर सकता है, जनसाधारण के लिए अमरत्व का सुख कल्पनातीत है। अतः मानस ने भाव-समावेश में केवल वह भाग लिया है जिसके रसास्वादन को जनसाधारण समझ सके—'जौं परलोक इहाँ सुख चहहू।' परलोक में एक लोक स्वर्ग भी है; तथा स्वर्ग के सुखों की कल्पना प्रत्येक प्राणी अपने-अपने इच्छित सुखों के आधार पर करता रहता है अतः मानस परलोक व इस लोक दोनों के ही सुखों का प्रलोभन दे रही है।

पुरान श्रुति गाई—पुराण व वेदों द्वारा वर्णित कहकर मानस ने इस कथन को प्रमाण-पुष्टि दे दी है।

न 'चेदिहावेदीन्महती विनष्टः' (यदि मनुष्य-शरीर के रहते परम ब्रह्म को न जान पाया तो महान् विनाश है।)

'जो न तरै भव सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति, आत्माहन गति जाइ॥'

उपर्युक्त चौपाई का भावार्थ है कि जो प्राणी ऐसे साधन (नर-देह) पाकर भी भव-सागर को नहीं तरता (परम ब्रह्म की प्राप्ति नहीं करता), वह कृतघ्न व मन्दबुद्धि आत्महन्ता की गति को प्राप्त होता है। आत्महत्या अत्यन्त विनष्टि की गति मानी गयी है। अत्यन्त विनष्टि क्या हो सकती है, इसकी कल्पना जन-साधारण नहीं कर सकता; परन्तु साधारण-से-साधारण प्राणी यह

अवश्य जानता है कि आत्महत्या अति विनष्टि का कर्म है। अतः मानस में 'आत्महत्या' शब्द का प्रयोग वाक्य के 'महती विनष्टिः' भाव के स्पष्टीकरण के रूप में हुआ है। जन-साधारण 'आत्महत्या के पाप' के अर्थ को अधिक सुलभता से ग्रहण करता है। अतः वाक्य-भाव को जन-सुलभ कराने के उद्देश्य से ही मानस ने 'महती विनष्टिः' के स्थान पर 'आतमाहन गति जाइ' का उपयोग किया है।

मानस के उत्तर कांड में जहाँ प्रत्येक महत्त्वपूर्ण भाव की पुनरावृत्ति हमें प्राप्त है, वहाँ 'नर-देह' की प्राप्ति की महत्ता पर भी निम्नांकित चौपाइयाँ हैं।—

प्रथमहि कहहु नाथ मति धीरा सब ते दुर्लभ कवन सरीरा—उ०कां०2।121

... ...

नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही।।
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी।।5।।
सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं विषय रत मंद मंदतर।।
काँच किरिच बदले ते लेहीं। कर ते डारि परस मनि देहीं।।
—उ० कां० 6/121

उपर्युक्त अंकित केनोपनिषद् के वाक्य से इन चौपाइयों का सुन्दर साम्य स्थापित होता है।

उपनिषद्-वाक्य	चौपाइयाँ
इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति— (इस मनुष्य-शरीर में परम ब्रह्म को जान लिया, तभी बहुत कुशल है।)	'नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही।। नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी।।' चौपाई के प्रथम भाग में जहाँ मनुष्य-शरीर को 'नर तन सम नहिं कवनिउ देही' का विशेषण दिया गया है, वहाँ उद्धृत वाक्य का जो प्रथम भाव आ जाता है कि मनुष्य-शरीर साधन-धाम है। कुशलता इसी में है कि समय रहते उसका उपयोग कर लिया जाय।

न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः —इस शरीर से न जान पाया तो अत्यन्त विनाश है।)	जो नर तनु पाइ [illegible] [illegible] [illegible] काँच किरिच बदलें ते लेहीं कर ते डारि परस मनि देहीं। [illegible] इस शरीर से न ज्ञान प्राप्त कर [illegible] [illegible] [illegible] से [illegible] है। न ज्ञान [illegible] विनाश [illegible] [illegible] निम्नांकित चौपाई-अंश से [illegible] है 'काँच किरिच बदलें ते लेहीं। कर ते डारि परस मनि देहीं' इसी को [illegible] चौपाई [illegible] के भाव को प्रकट कर रही है।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ —ईशोपनिषद् ३

असुरों के लिए प्रसिद्ध जो नाना प्रकार की योनियाँ और नरक-रूप लोक हैं वे सभी अज्ञान तथा दुःख-क्लेश रूप महान् अन्धकार से आच्छादित हैं। आत्मा की हत्या करनेवाले प्राणी मरकर इन्हीं लोकों को प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त वाक्य का भाव-साम्य निम्नांकित (पूर्व उद्धृत) चौपाई के साथ स्थापित होता है :

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
....

जौं न तरै भव सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति, आत्माहन गति जाइ॥— उ० कां० 44

उपनिषद् वाक्य	मानस-चौपाई
'असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः'—असुरों के प्रसिद्ध नाना प्रकार की योनियां और नरक-रूप लोक हैं)	'आकर चारि लच्छ चौरासी, जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी' आसुरी रूप धारण करने से ही भिन्न-भिन्न दुःखमय योनियों की प्राप्ति जीव को होती है; जो वास्तव में तो अविनाशी है, परन्तु आसुरी प्रवृत्तियों के कारण भिन्न-भिन्न योनियों में कष्ट

	पाता है। वाक्य-भाव भी यही है कि असुरों की नाना प्रकार की भयंकर योनियां हैं।
'तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः'—आत्मा की हत्या करने वाले प्राणी मरकर इन्हीं लोकों को प्राप्त होते हैं।)	'जो न तरे भव सागर, नर समाज अस पाइ। सो कृत निंदक मंदमति, आत्माहन गति जाइ।' आत्म-हत्या (मानस) करने वाले की वही गति होती है जो आत्मा की हत्या (वाक्य) करनेवाले की होती है। दोनों ही बार-बार आसुरी योनियों को प्राप्त होते हैं।

सन्दर्भ

1. किं पुनः प्राधान्यम् ? उसकी प्रधानता क्या है ?
कर्म ज्ञानाधिकारः। पुरुष एव हि शक्तत्वादर्थित्वादपर्युदस्त त्वाच्च कर्मज्ञानयोरधिक्रियते—"पुरुषे त्वेवाविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन संपन्नतमो विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति वेद श्वस्तनं वेद लोकालोकौ मर्त्येनामृतमीक्षतीत्येवं संपन्नः। अथेतरेषां पशूनामशनायापिपासे एवाभिविज्ञानम्।" ब्रह्मानन्दवल्ली, तैत्तिरीयोपनिषद् प्रथम अनुवाक। (शांकरभाष्य)

अर्थ—कर्म और ज्ञान का अधिकार ही उसकी प्रधानता है। कर्म व ज्ञान के साधन में समर्थ इच्छावाला और उसके उदासीन न होने के कारण पुरुष ही कर्म व ज्ञान का अधिकारी है। पुरुष में आत्मा का पूर्णतया आविर्भाव हुआ है; वही प्रकृष्ट ज्ञान से सबसे अधिक सम्पन्न है। वह जानी-बूझी बात कहता है, जाने-बूझे पदार्थों को देखता है। वह कल होनेवाली बात को आज भी जान सकता है, उसे उत्तम और अधम लोक का भी ज्ञान है तथा वह कर्म-ज्ञान-रूपी नश्वर साधनों के द्वारा अमर पद की इच्छा करता है। इस प्रकार वह विवेक-सम्पन्न है।' उसके सिवा अन्य पशुओं को तो केवल भूख-प्यास का ही विशेष ज्ञान होता है।

2. सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं विषय रत मंद मंदतर।।
कांचु किरिच बदले ते लेहीं। कर ते डारि परस मनि देहीं।।
मनुष्यं प्राप्य ये नाथ, नार्चितो हरितीश्वरः।
काकविप्रासिता तेन हरितो कामदो मणिः।।

पंच-तत्त्व-दर्शन

इन्द्रिय-द्वार—शरीर पंचभूतों का बना हुआ है। इन्हीं पंचभूतों को ग्रहण करने के लिए उनसे सम्बन्धित इन्द्रियां हैं।

1. आकाश का गुण शब्द है, उसकी इन्द्रिय कान है।
2. वायु का गुण स्पर्श तथा शब्द है, उसकी इन्द्रिय त्वचा है।
3. अग्नि का गुण शब्द, स्पर्श तथा रूप है, उसकी इन्द्रिय नेत्र है।
4. जल का गुण शब्द, स्पर्श, रूप, तथा रस है, उसकी इन्द्रिय जिह्वा है।
5. पृथ्वी का गुण शब्द, स्पर्श, रूप रस तथा गन्ध है, उसकी इन्द्रिय नासिका है।

देवता शब्द के अर्थ निम्न हैं—

1. जो प्रकाशित करे।
2. जो धन दे।
3. जो स्वास्थ्य दे।
4. जो मार्ग दिखलावे।
5. जो दूसरों को प्रकाशित करे।
6. जिससे संगीत फूट निकले।
7. जो ज्ञान और बुद्धि दे।

ये सभी अर्थ देवता के रूप में इन्द्रियों पर लागू होते हैं।

1. नासिका पृथ्वी का गुण प्रकाशित करती है, जिह्वा जल का गुण, त्वचा वायु का गुण तथा कान आकाश का गुण प्रकाशित करता है। इस प्रकार उपर्युक्त देव अपनी-अपनी इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव कहलाये।

2. जिस देव के पास जो धन है (उदाहरणार्थ आकाश के पास शब्द का धन है), वह धन अपनी इन्द्रियों को देकर वह अपनी इन्द्रिय को धनी बनाता है।

3. इन्द्रियों को उनके देवता स्वास्थ्य देते हैं। आकाश न हो तो कान बेकार

हैं, स्वास्थ्यविहीन हैं। नेत्रों को सूर्य से स्वास्थ्य मिलता है। सुना है सागर में जिस स्थान पर सूर्य नहीं पहुंच पाता, वहां मछलियों के नेत्र ही नहीं होते।

4. प्रकाश नेत्रों का मार्गप्रदर्शन करता है। पृथ्वी नासिका का—आदि।

5. देवता इन्द्रियों को अपने गुणों से प्रकाशित करता है।

6. जो जिसे प्रिय है वह उसका संगीत है। अग्नि से नेत्रों का संगीत फूटता है, पृथ्वी से नासिका का—आदि

इन्द्रियों को अपने कर्मों का ज्ञान अपने देवताओं से ही होता है। वे न रहें तो इन्द्रियां कर्महीन हैं।

सारांश यह है कि जो इन्द्रिय जिस उपलब्ध माध्यम में काम कर सकती है, वही उसका देव है। नेत्रों का देवता सूर्य है तो कानों का आकाश। नेत्र सूर्य के बिना काम नहीं कर सकते, और कानों के लिए यदि आकाश न हुआ, तो शब्द का उदय ही न होगा, कान ग्रहण क्या करेंगे!

पंचतन्मात्र ज्ञानेन्द्रियों के विषय

विषय	इन्द्रियां	इन्द्रियों के देवता
शब्द	श्रवण	दिशा
स्पर्श	त्वचा	पवन
रूप	नेत्र	सूर्य
रस	जिह्वा	वरुण प्रचेता
गन्ध	नासिका	अश्विनीकुमार

कर्मेन्द्रियों के विषय—

बोलना	वाक्	अग्नि
लेना-देना	हाथ	इन्द्र
चलना	पैर	जग विष्णु
मल-त्याग	गुदा	यम
मूत्र-त्याग	लिंग	दक्ष
निश्चय करना	बुद्धि	ब्रह्मा
अनुसंधान	चित्त	विष्णु
अहंता होना	अहंकार	शिव
शंका करना	मन	चन्द्रमा

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतेति ॥3॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥4॥ ऐत० उप०, द्वितीय खंड

भावार्थ—यह बहुत सुन्दर बन गया। सचमुच ही मनुष्य-शरीर सुन्दर रचना है। तब उन देवताओं से कहा कि अपने-अपने योग्य आश्रम में प्रविष्ट हो जाओ।

अग्नि देवता वाक्-इन्द्रिय बनकर मुख में प्रविष्ट हो गये। वायु देवता प्राण बनकर नासिका के छिद्रों में प्रविष्ट हो गये। सूर्य देवता नेत्र-इन्द्रिय बनकर आँखों के द्योतकों में प्रवेश कर गये; दिशाओं के देवता श्रोत्र बनकर कानों में प्रवेश कर गये। औषधि और वनस्पतियों के देवता रोमावली बनकर त्वचा में प्रविष्ट हो गये। चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हो गया। मृत्यु देवता अपानवायु बनकर नाभि में प्रविष्ट हो गये। जल का अभिमानी देवता वीर्य बनकर लिंग में प्रविष्ट हो गया।

इन्द्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहिं विषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥6॥

—उ० कां०, 118

भावार्थ—इन्द्रियों के द्वार हृदय-रूपी घर के अनेकों झरोखे हैं। वहाँ वहाँ (प्रत्येक झरोखे पर) एक देवता स्थान किये बैठा है। ये देवता ज्यों ही विषय-रूपी हवा को आते हुए देखते हैं, त्यों ही हठपूर्वक किवाड़ खोल देते हैं।

साम्य—

उपनिषद्-वाक्य	मानस-चौपाई
अग्नि देवता का मुख में, वायु देवता का नासिका में, सूर्य देवता का नेत्र में, दिशाओं के देवता का कान में, वनस्पतियों के देवता का त्वचा में, चन्द्रमा देवता का मन में, मृत्यु देवता का नाभि में, जल देवता का लिंग में प्रविष्ट होना।	'इन्द्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना'॥ ऊपर उद्धृत पूरे वाक्य के अर्थ को एक साथ देखने से उसकी सुन्दरता पूर्ण रूप से उभरती है। पहले मनुष्य-शरीर की रचना हो गयी तब "ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतेति" का आदेश पाकर मनुष्य-देह में देवता अपने-अपने योग्य स्थानों में प्रवेश कर गये। प्रवेश-मार्ग द्वार या झरोखा ही हो सकता है। अतः इन्द्रियाँ वे द्वार या झरोखा हैं जहाँ देवता अपना-अपना स्थान बनाकर बैठे हैं।

मानस उपनिषद्-भावों को व्यक्त करते समय कभी संक्षिप्त हो जाती है, तो कहीं विस्तृत रूप से विषय को प्रतिपादित करती है, और कहीं केवल कथा-प्रसंग में मूल भाव को व्यक्त करके आगे बढ़ जाती है। जिस प्रकार बालक का ज्ञान-वर्द्धन हमारा अभिप्राय होते हुए भी हम उसके सब प्रश्नों का उत्तर एक समान नहीं देते, किसी को विस्तार से समझाते हैं तो किसी को संक्षेप में, और किसी की चर्चा मात्र करके हम आगे बढ़ जाते हैं। मनोविज्ञान के इसी दृष्टिकोण को उदाहरणार्थ रख-कर मानस जन-समुदाय की बाल-बुद्धि के अनुसार, जहाँ जितना हितकारी समझती है, वहाँ विषय का वैसा और उतना ही प्रतिपादन करती है। अपक्व बुद्धि को उप-निषद् वाक्य का 'शरीर,इन्द्रिय व देवता' सम्बन्ध समझाना उसको विक्षिप्त कर देना है। विक्षिप्त बुद्धि केवल ज्ञान का मार्ग ही अवरुद्ध नहीं करती, वरन् जो कुछ ज्ञान उपार्जन किया है, उसको भी संशय में डाल देती है। वैद्य ही जानता है कि किसी के लिए औषधि की कितनी मात्रा कब उपयोगी है। अधिक मात्रा औषधि का कार्य करने के स्थान पर रोग-वृद्धि का कारण बन सकती है। अतः मानस भी, जन-हिताय उद्देश्य को, तथा उसके मनोविज्ञान को सम्मुख रखकर उपनिषद्-वाक्य के भावों की मात्रा के अनुपात का निर्णय करती है।

माया और हृदय-ग्रन्थि

तर्क की दृष्टि से देखा जाय तो माया 'अनिर्वचनीय' है। ज्ञान के दृष्टिकोण से देखा जाय तो माया 'तुच्छ व मिथ्या' है; और, साधारण प्राणी के दृष्टिकोण से देखा जाय तो माया 'वस्तु-स्थिति' है।

माया (मा+या)—वह, जो नहीं है और होने का आभास देती है। वही माया है। जिस प्रकार रज्जु में सर्प, सीप में रजत, मरुभूमि में जलाभास और खम्भे में प्रेत की भ्रान्ति होती है, उसी प्रकार ब्रह्म के वास्तविक सत्य स्वरूप पर माया की भ्रान्ति होती है।

भ्रम की यह मानसिक धारणा मानसिक कल्पना के अनुरूप ही हुआ करती है—रज्जु में सर्प या जल की रेखा या लकड़ी का आभास अपनी-अपनी कल्पना के अनुरूप होता है। खम्भे में प्रतीत होनेवाले प्रेत की रूप-रेखा तथा मृगतृष्णा में सरोवर, सागर व मृग-समूह की भ्रान्ति का चित्रण, मानसिक कल्पना के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्राणियों में भिन्न-भिन्न होता है। भ्रम स्वयम् एक मानसिक धारणा है।

इस भ्रमात्मक मानसिक धारणा का कारण है, 'अज्ञान'। जिस प्रकार भ्रान्ति-स्थल पर प्रकाश की किरणें फेंकने पर 'रज्जु' का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है और 'सर्प' का भ्रमात्मक स्वरूप अन्तर्धान हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञान से 'भ्रम' की उत्पत्ति होती है और ज्ञान की किरण से मिथ्या होते हुए सत्य प्रतीत होनेवाले मायाजन्य भ्रम का निवारण हो जाता है।

जगत् के वास्तविक स्वरूप के प्रति अज्ञान होने के कारण हम मिथ्या मानसिक धारणाएँ बना लेते हैं; फिर उन मिथ्या धारणाओं के दृष्टिकोण से ही जगत् को देखते हैं। तत्पश्चात्, उनके अनुरूप ही शरीर क्रिया करता है तथा भिन्न-भिन्न भावों (मोह, क्रोध, शोक आदि) की प्रतिक्रियाएँ शरीर में जन्म लेती हैं। इस पर जिज्ञासा होती है कि माया का ईश्वर से क्या सम्बन्ध है? माया ईश्वर की ही एक शक्ति है।

इसी प्रकार ब्रह्म में माया एक गुण है एक अध्यास है। ब्रह्म माया उपाधि-उपहित होने के पश्चात् ईश्वर है, और ब्रह्म अविद्या-उपाधि-उपहित होने के जीव होता है।

1. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥80॥

—श्वेता. उप., अ. 4

माया तो प्रकृति को समझना चाहिए, और मायापति महेश्वर को समझना चाहिए। उसी के अंग-भूत कारण-कार्य-समुदाय से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है।

2. प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेते विकल्पिताः।
मायैषा तस्य देवस्य यया सम्मोहितः स्वयम् ॥1॥

—मा. उप. कारिका, वैतथ्य प्रकरण

प्राणादि अनन्त भावों से विकल्पित यह जीव देव की माया से विमोहित है।

3. अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अनमनिद्रयस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥16॥

—मा. उप. कारिका, अगम-प्रकरण

माया के प्रभाव से व्याप्त सुषुप्त जीव जब जाग उठता है, तब वह अपने स्वप्न-भाव से रहित अज अस्तित्व का ज्ञान करता है।

4. प्रपंचो यदि विद्यते विवर्तेन न संशयः।
मायाभावमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥17॥

—मा. उप. कारिका, अगम-प्रकरण

जितना प्रपंच दिखाई पड़ता है, वह वास्तव में माया ही है। परमार्थ केवल अद्वैत ही है।

5. माया स्वाव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति, माया चाविद्या च स्वयमेव भवति। सैषा विचित्रा सुदृढा बह्वंकुरा स्वयंगुणभिन्ना सर्वत्र ब्रह्मविष्णुशिवरूपिणी चैतन्यदीप्ता तस्मादात्मन एव त्रैविध्यं सर्वत्र योनित्वमप्यभिमन्ता जीवो नियन्तेश्वरः ॥ नृसिंहोत्तर उप., खंड 9 ॥

माया अपने अभिन्न व परिपूर्ण क्षेत्रों को दिखाकर चेतन आत्मा को जीव व ईश्वर के भेद में प्रतिष्ठित कर देती है। वह स्वयं ही माया और अविद्या बन जाती है। यह प्रसिद्ध माया अति विचित्र, अत्यन्त दृढ़, अनेक अंकुरों वाली, स्वयं तीन गुणों से विभक्त होकर अंकुरों में भी त्रिगुणमय स्वरूप से स्थित रहने वाली, सर्वत्र ब्रह्म-विष्णु-शिव रूप में उपस्थित और आत्म-चैतन्य से उद्दीप्त रहने वाली, है।

चौपाइयाँ—

1. माया वस्य जीव अभिमानी । ईस वस्य माया गुन खानी ।।
—उ. कां. 3/78

माया के वश में अपने अहं में विश्वास रखने वाला जीव है। वह माया ईश्वर के वश में है।

2. जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मायाधीस ग्यान गुन धामू ।।
जासु सत्यता तें जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ।।
रजत सीप महुँ भास जिमि, जथा भानु करि बारि
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकइ कोइ टारि ।।117।।
—बा. कां.

4. श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीश माया जानकी ।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की ।।126 (क)
—अयो. कां.

5. ग्यानी भगत सिरोमनि, त्रिभुवनपति कर जान ।
ताहि मोह माया नर, पावँर करहि गुमान ।।62 (क)।।
—उ. कां.

5. तव मायावस फिरउँ भुलाना । ता ते मैं नहिं प्रभु पहिचाना ।।5-1
—कि. कां.

6. नाथ जीव तव माया मोहा । सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा ।।1-3
—कि. कां.

7. तव माया बस जीव जड़, संतत फिरइ भुलान ।।108 (ग) —उ. कां.

8. हरि माया करि अमित प्रभावा । बिपुल बार जेहि मोहि नचावा ।।2-60
—उ. कां.

9. प्रभु माया बलवंत भवानी । जाहि न मोह कवन अस ग्यानी ।।5-62
—उ. कां.

10. मैं अरु मोर तोर तें माया । जेहि बस कीन्हें जीव निकाया ।।1-15
—अर. कां.

11. तारा बिकल देखि रघुराया । दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया ।।
छिति जल पावक गगन समीरा । पंच रचित अति अधम सरीरा ।।2-11
—कि. कां

12. पुरइनि सघन ओट जल, बेगि न पाइअ मर्म ।
मायाछन्न न देखिऐ, जैसे निर्गुन ब्रह्म ।।39 (क)
—अर. कां.

13. तव विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥
जे नाथ कर करुना बिलोके त्रिविधि दुख ते निर्बहे।
भव खेद छेदन दच्छ हम कहुँ रच्छ राम नमामहे॥2-13 (क)
—उ. कां

14. माया कृत गुन दोष अनेका। मोह मनोज आदि अविवेका॥1॥
रहे ब्यापि समस्त जग माहीं। तेहि गिर निकट कबहुँ नहि जाहीं॥2-57
—उ. कां.

15. मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥
तृस्नाँ केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहि दाहा॥7॥
ग्यानी तापस सूर कवि, कोविद गुन आगार।
केहि कै लोभ विडंवना, कीन्हि न एहि संसार॥70 (क)॥
—उ. कां.

श्री-मद बक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि के नैन सर, को अस लाग न जाहि॥70 (ख)॥
—उ. कां.

चौपाई—

गुन कृत सन्यपात नहि केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही॥
जोबन ज्वर केहि नहि बलकावा। ममता केहि कर जस न नसावा॥
मच्छर काहि कलंक न लावा। काहि न सोक समीर डोलावा॥
चिन्ता साँपिनि को नहि खाया। को जग जाहि न व्यापी माया॥
कीट मनोरथ दास सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा॥
सुत वित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥
यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनै पारा॥
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥
ब्यापि रहेउ संसार महुँ, माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट, दंभ कपट पाषंड॥71 (क) —उ. कां.
सो दासी रघुबीर कै, समुझें मिथ्या सोपि।
छूट न राम-कृपा बिनु, नाथ कहेउँ पद रोपि॥71 (ख)
—उ. कां

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रू-बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥1-72(क)
—उ. कां

17. सिव बिरंचि कहुँ मोहइ, को है बपुरा आन।
अस जियँ जानि भजहिं मुनि, मायापति भगवान ॥62 (ख)

—उ. कां.

18. ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्माण्ड अनेक निकाया ॥1-92 (ख)

—उ. कां.

साम्य

वाक्य	चौपाई
3. अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते। अनन्मनिद्रयस्वप्न-मद्वैतं बुध्यते तदा ॥ (माया के प्रभाव से व्याप्त सुषुप्त जीव जब जाग उठता है, तब वह अपने स्वप्न-भाव से रहित अज अस्तित्व का ज्ञान करता है।)	(11) तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया ॥ छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रहित अति अधम शरीरा ॥' 'दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया' —माया का हर लेना सुषुप्ति-ग्रस्त जीव को जाग्रत कर देना है।
4. प्रपंचो यदि विद्यते विवर्तेन न संशयः। मायाभावमिदं द्वैतम् अद्वैतं परमार्थतः ॥ (जितना प्रपंच दिखायी पड़ता है, वह सब माया ही है। परमार्थ केवल अद्वैत है।)	(12) 'पुरइनि सघन ओट जल, बेगि न पाइअ मर्म। मायाच्छन्न न देखिऐ जैसे निर्गुन ब्रह्म ॥'—कमल-पत्रों द्वारा छिपा सरोवर-जल उसी प्रकार नहीं दिखायी पड़ता है जैसे माया द्वारा आच्छादित ब्रह्म नहीं दिखायी पड़ता है। उसके हट जाने पर जो दिखायी पड़ता है, वह निर्गुण ब्रह्म है। अर्थात्—माया का प्रपंच हट जाने पर जो दिखायी पड़ता है, वह ब्रह्म है।
5. सैषा विचित्रा सुदृढा बह्वंकुरा स्वयम्। गुणभिन्नांकुरेष्वपि गुणभिन्ना सर्वत्र ॥	मानस ने माया के परिवार के रूप में माया की विचित्रता का वर्णन किया है।

(यह प्रसिद्ध माया अति विचित्र, अत्यन्त दृढ़, अनेक अंकुरों वाली, स्वयं तीन गुणों से विभक्त होकर अंकुरों में भी त्रिगुणमय स्वरूप से स्थित रहने वाली है।

'मोहन न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥
तृष्ना केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहीं दाहा॥'

ग्यानी तापस सूर कवि, कोविद गुन आगार।
केहि कैं लोभ बिडंबना, कीन्हि न एहिं संसार॥ 70॥ क

श्री मद वक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि के नयन सर, को अस लाग न जाहि॥ 70॥ ख

गुन कृत सन्यपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही।
जोवन ज्वर केहि नहिं बलकावा। ममता केहि कर जस न नसावा॥
मच्छर काहि कलंक न लावा। काहि न सोक समीर डोलावा॥
चिन्ता साँपिनि को नहिं खाया। को जग जाहि न व्यापी माया॥
कीट मनोरथ दास सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा॥
सुत वित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥
यह सब माया कर परिवारा। प्रवल अमित को बरनै पारा॥

वाक्य-वर्णित माया के त्रिगुणात्मक स्वरूप का विवरण उपर्युक्त चौपाइयों में आ गया है।

सत्त्व गुण और उस पर माया का प्रभाव—'ग्यानी तापस सूर कबि, कोविद गुन आगार'—ये सत्त्व-प्रधान प्राणी हैं।

श्रीमद्-वक्र, प्रभुता बधिर, मृगलोचनि के नयन-सर को अस लाग न जाहिं', गुनकृत सन्यपात, मान-मद, जोवन-ज्वर—ये सब रजोगुण-प्रधान अवगुण हैं।

'मच्छर काहि कलंक न लावा, काहि न सोक समीर डोलावा', तथा 'चिन्ता साँपिनि को नहिं खाया'—ये तमोगुण-प्रधान अवगुण हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, शिवरूपिणी— (क) सिव चतुरानन जाहि डेराहीं।
(ख) सिव बिरंचि कहुं मोहइ,
को है बपुरो आन।
अस जियँ जानि भजहिं मुनि,
मायापति भगवान॥

माया चैतन्य से उद्दीप्त है— (क) 'सो प्रभु भ्रू-बिलास खगराजा।
नाच नटी इव सहित समाजा॥
भ्रू-विलास—भौंहों के संकेत से सबको

नचा सके, वह सब तरह से उसका सर्वेश्वर ही होगा।

ग) 'ऊमरि तरु विसाल तव माया।
फल ब्रह्मांड अनेक निकाया।।'

माया गूलर के वृक्ष के समान है जिसमें गूलर के फल के समान अनेक ब्रह्माण्ड लटके हुए हैं। अर्थात् वह ब्रह्माण्डों का संचालन कर रही है। यह माया के सर्वव्यापी होने का प्रमाण है।

०००

(1) माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।। 10 ।। श्वेता० उप०, अ० 4

भावार्थ—प्रकृति को तो माया समझना चाहिए, और परमेश्वर को मायापति समझना चाहिए। उसी के अंगभूत कारण-कार्य-समुदाय से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है।

उपर्युक्त वाक्य से साम्य स्थापित्त करने वाली चौपाइयाँ—

(1) माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी।। 3/78 ।।

—उ० कां०

(2) ब्यापि रहेउ संसार महुँ, माया कटकु प्रचण्ड।
सेनापति कामादि भट, दंभ कपट पाषंड।।
सो दासी रघुबीर कै, समुझें मिथ्या सोपि।
छूट न राम-कृपा बिनु, नाथ कहेउँ पद रोपि।। 71 (ख) ।।

—उ० कां०

(3) जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू।।
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।।
रजत सीप महुँ भास जिमि, जथा भानु कर बारि।।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि।। 117 ।।

—अयो० कां०

(4) श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की।। 126 (क)।।

—अयो० कां०

साम्य

वाक्य का भाव है कि माया समझना चाहिए। इस माया का पति परमेश्वर है। दोनों में परस्पर कारण-कार्य का सम्बन्ध है। इस समस्त जगत् में कुछ व्याप्त हो रहा है, वह उसका प्रकाशक राम[2] (कारण) हैं; तथा जगत् उनका प्रकाश (कार्य) है।

परमेश्वर का मायापतित्व स्वरूप— 'मायाधीस ग्यान गुन धामू।' 'मायाधीश' शब्द माया का परमेश्वर के अधीन होने का द्योतक है।

माया का प्रकृति होना— (4) 'जो सृजति जगु पालति हरति'— जो माया जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहार करती है, वह प्रकृति के अन्तर्गत आती है।

परमेश्वर का मायापति स्वरूप— 'रुख पाइ कृपा-निधान की।' 'रुख पाइ' शब्द में परमेश्वर के मायापति होने की ओर संकेत है। आधीन प्राणी अपने स्वामी का 'रुख' देखकर उसके अनुसार ही कार्य करते हैं।

प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः।
मायैषा तस्य देवस्य यया सम्मोहितः स्वयम् ॥ 1 ॥

—मां० उ० कारिका, वैतथ्य प्रकरण

भावार्थ—प्राणादि अनन्त भावों से विकल्पित यह जीव देव की माया से विमोहित है।

उपर्युक्त मंत्र से साम्य स्थापित करने वाली चौपाइयाँ—

(5) ग्यानी भगत सिरोमनि, त्रिभुवनपति कर जान।
ताहि मोह माया नर, पाँवर करहिं गुमान ॥—उ० कां०, 62(क)

(6) नाना भाँति मनहि समुझावा। प्रगट न ग्यान हृदयँ भ्रम छावा ॥
खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई। भयउ मोहबस तुम्हरिहि नाई ॥

—1/59/7, उ० कां०

(7) तव माया बस फिरउँ भुलाना। ता ते मैं नहिं प्रभु पहचाना ॥ 5/1 ॥

—कि० कां०

(8) नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा ॥ 1-3 ॥

—कि० कां०

(परमेश्वर) का कार्य रूप है। इस प्रकार इस वाक्य में दो भाव उभरे हैं।

एक है परमेश्वर का मायापति होना, तथा माया को प्रकृति रूप में उसके अधीन मानना; तथा दूसरा भाव है माया व परमेश्वर का कारण-कार्य-सम्बन्ध। परमेश्वर कारण है तथा माया उसका कार्य।

वाक्य के उपर्युक्त वर्णित दोनों भाव साम्य के लिए प्रस्तुत चौपाइयों में व्याप्त हैं।

वाक्य भाव	चौपाइयां
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् मायापति परमेश्वर है— माया को प्रकृति समझना चाहिए	(1) 'माया बस्य जीव अभिमानी' ईस बस्य माया गुन खानी' प्रकृति के अन्तर्गत आने वाले पंच-भूत तत्त्वों का उपाधिधारी जीव (अपने में कर्ता का अभिमान करने के कारण) प्रकृति माया के वश है। इस प्रकार चौपाई का भावार्थ वाक्य-भाव की पुष्टि करता है। ००
परमेश्वर का मायापति स्वरूप—	(2) (क) 'सो दासी रघुबीर कै' माया को दासी कहना उस-पर परमेश्वर का स्वामित्व स्वीकार करना है। (ख) 'छूट न राम कृपा बिनु।' 'राम की कृपा के बिना न छूट सकना' माया पर परमेश्वर के आधिपत्य का सूचक है।
माया को प्रकृति जानना चाहिए—	'ब्यापि रहेउ संसार महुँ, माया कटकु प्रचंड। सेनापति कामादि भट, दंभ कपट पाखंड॥' संसार में प्रकृति का जो स्वरूप व्याप्त है, उसका वर्णन ही उपर्युक्त चौपाई में है। वही माया के प्रचंड स्वरूप का वर्णन है। माया व प्रकृति एक होने से दोनों का स्वरूप एक है। ०००

परमेश्वर व माया का कार्य-कारण सम्बन्ध	(3) 'जगत प्रकास्य पकासक रामू' राम प्रकाशक (कारण) हैं; तथा जगत् उनका प्रकाश (कार्य) है।
परमेश्वर का मायापति स्वरूप	'मायाधीस ग्यान गुन धामू।' 'मायाधीश' शब्द माया का परमेश्वर के अधीन होने का द्योतक है।
माया का प्रकृति होना	(4) 'जो सृजति जगु पालति हरति' जो माया जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा उसका संहार करती है, वह प्रकृति के अन्तर्गत आती है।
परमेश्वर का मायापति स्वरूप	'रुख पाइ कृपानिधान की।' 'रुख पाइ' शब्द में परमेश्वर का मायापति होने की ओर संकेत है। आधीन प्राणी अपने स्वामी का 'रुख' देखकर उसके अनुसार ही कार्य करते हैं।

(2) प्राणदिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः ।
मायैषा तस्य देवस्य यया सम्मोहितः स्वयम् ॥1॥
(मा० उ० कारिका वैतथ्य प्रक०)

भावार्थ—प्राणादि अनन्त भावों से विकल्पित यह जीव देव की माया से विमोहित है।

उपर्युक्त मंत्र से साम्य स्थापित करने वाली चौपाइयाँ—

(5) ग्यानी अगत सिरोमनि, त्रिभुवनपति कर जान ।
ताहि मोह माया नर, पावँर करहिं गुमान ॥62(क)॥
(उ० कां०)

(6) नाना भाँति मनहिं समुझावा। प्रगट न ग्यान हृदयँ भ्रम छावा ॥
खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई। भयउ मोह बस तुम्हरिहि नाई ॥1।59॥
(उ० कां०)

(7) तव माया बस फिरउँ भुलाना। ता ते मैं नहिं प्रभु पहचाना ॥5॥
(कि० कां०)

(8) नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा ॥1।3॥
(कि० कां०)

(9) तव माया बस जीव जड़, संतत फिरइ भुलान ॥ 108 ॥
(उ० कां०)

(10) हरि माया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा ॥
(2।60, उ० कां०)

(11) प्रभु माया बलवंत भवानी, जाहि न मोह कवन अस ग्यानी ।।5-62।।
(उ० कां०)

(12) मैं अरु मोर तोर तें माया, जेहि बस कीन्हें जीव निकाया ।।1-15।।
(अर० कां०)

(13) पुरइनि सघन ओट, जल बेगि न पाइअ मर्म ।
मायाछन्न न देखिऐ, जैसे निर्गुन ब्रह्म ।। 39 (क) (उ० कां०)

(14) तव विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे ।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे ।।
जे नाथ कर करुना विलोके त्रिविधि दुख ते निर्वहे ।
भव खेद छेदन दच्छ हम कहुं रच्छ राम नमामि हे ।।
।।2।।13 (क) (उ० कां०)

साम्य—

वाक्य	मानस
यह जीव देव की माया से विमोहित है ।	(5) "ग्यानी भगत सिरोमनि, त्रिभुवनपति कर जान । ताहि मोह माया नर, पावँर करहिं गुमान ।।" दृष्टांत द्वारा भाव-अभिव्यक्ति—जब ज्ञानी भक्त-शिरोमणि श्री गरुड़जी भी माया द्वारा मोहित हो गए, तब फिर नीच प्राणी किस बात का अभिमान करते हैं ? अर्थात्, वे तो माया के वश में हैं ही । (6) नाना भांति मनहिं समुझावा । प्रगट न ग्यान हृदयें भ्रम छावा ।। खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई । भयउ मोह बस तुम्हरिहि नाईं ।। व्यक्तिगत उदाहरण द्वारा भाव-अभिव्यक्ति तथा मोहवश प्राणी के व्यवहार का दिग्दर्शन । (7) तव माया बस फिरउँ भुलाना । ता ते मैं नहिं प्रभु पहचाना ।। (8) नाथ जीव तव माया मोहा । सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा ।।

(9) तव माया बस जीव जड़,
संतत फिरइ भुलान।

(10) हरि माया कर अमित प्रभावा।
विपुल बार जेहि मोहि नचावा।।

(11) प्रभु माया बलवंत भवानी।
जाहि न मोह कवन अस ग्यानी।।

(12) मैं अरु मोर तोर तें माया।
जेहि बस कीन्हें जीव निकाया।।
माया के भ्रम का स्वरूप 'मैं अरु मोर, तें अरु तोर' है।

(13) पुरइन सघन ओट जल[1],
बेगि न पाइअ मर्म।
मायाच्छन्न न देखिऐ,
जैसे निर्गुन ब्रह्म।।

कारण-रूप से विषय का प्रतिपादन—

कमल-पल्लवों से आच्छादित जल जिस प्रकार नहीं दिखायी पड़ता, उसी प्रकार माया से आच्छन्न होने के कारण ब्रह्म भी नहीं दीखता। इस कारण जीव माया में ही आबद्ध रहता है।

(14) तव विषम माया बस सुरासुर,
नाग नर अग जग हरे।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस,
निसि काल कर्म गुननि भरे।।
आपकी दुस्तर माया के वशीभूत होने के कारण ही देवता, राक्षस, नाग, मनुष्य, चर, अचर सभी काल, कर्म व गुणों के कारण भवसागर में भटक रहे हैं।
वाक्य के 'जीव' भाव को चौपाई ने देवता, राक्षस, नाग, मनुष्य, चर व अचर आदि के दृष्टांत देकर स्पष्ट किया है।

अविद्या -

आत्मा के स्वरूप को न जानना ही अविद्या है। सभी काम तथा कर्म अविद्या के अन्तर्गत आते हैं। इसलिए अविद्या का अर्थ हुआ, आत्म-अज्ञान, काम और कर्म। सम्पूर्ण वेद के कर्म-कांड अविद्या ही हैं, क्योंकि उनसे विद्या (अत्म-विद्या) की प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार वेदों के पूर्व पक्ष में वर्णित ये कर्म-कांड अविद्या को और घनीभूत करते हैं। 'कर्म-काण्ड' की सकाम उपासना भव-चक्र से मुक्ति नहीं दे सकती; उल्टा वह इस चक्र में उसे बाँधती चली जाती है। भगवान् शंकराचार्य ने कहा है—"सा विद्या या विमुक्तये।" —विद्या वह है जोकि मुक्ति दे—इस कारण जो इस भव-चक्र में बाँधे, वह अविद्या है।

1. संकल्पो विचिकित्सेत्यादि सर्वं मन एव।
त्वदव्यतिरिक्त यत्किंचित्प्रतीयते तत्सर्वं बाधितामेतिनिश्चितम् ॥15।3॥
(बृह० उप०)

काम, संकल्प, विचिकित्सा —यह सब मन ही है। उसके अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह सब बुद्धि द्वारा बाध्य है।

2. अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ॥10॥ (ईशा० उप०)
विद्या से दूसरा फल बतलाते हैं और अविद्या से दूसरा।

3. अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ॥13॥ (ईशा० उप०)

'सम्भवात्' (ब्रह्म) की उपासना से एक फल मिलता है। 'असम्भवात्' देव-पितर की उपासना से दूसरा।

4. द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥1॥
(श्वेता० उप०, अ० 5)

परम ब्रह्म परमात्मा में विद्या और अविद्या दोनों ही स्थित हैं। विनाशशील जड़ वर्ग अविद्या के नाम से कहा गया है। अविनाशी वर्ग को विद्या नाम से कहा गया है। जो उन दोनों पर शासन करता है, वह उन दोनों से भिन्न, सर्वथा विलक्षण है।

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिशय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें ॥3।15॥
(अर० कां०)

भावार्थ—इन्द्रियों के विषयों में जहाँ तक मन जाता है, वह सब माया ही है। उसके भी दो भेद—विद्या और अविद्या—सुनो! प्रथम अविद्या दुष्ट है और

अत्यन्त दुःख-रूप है; इसीके वश में होकर जीव संसार-रूपी कुएँ में पड़ा है। दूसरा भेद विद्या है, जिसके वश में गुण है और जो जगत् की रचना करती है। वह प्रभु से ही प्रेरित होती है, उसके अपना बल कुछ नहीं है।

साम्य—

वाक्य	चौपाई
1. संकल्पो विचिकित्से··· ···बाधितामेति निश्चितम्। (काम, संकल्प और विचिकित्सा मन में ही हैं। उसके अन्यथा जो कुछ भी है, वह बुद्धि द्वारा बाध्य होता है।)	"गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानउ भाई॥" बुद्धि तथा मन माया में ही कार्य करते हैं। मन और बुद्धि के कार्य-भेद को साधारण जन नहीं समझ सकते, अतः मानस ने वाक्य का मुख्य भाव पकड़ लिया है कि 'मन और बुद्धि के कार्यक्षेत्र में ही प्रत्येक जगत् के कार्य होते हैं'—संक्षेप में वही माया है।
2. "अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुर विद्यया"—(विद्या का दूसरा फल है, अविद्या का दूसरा —अर्थात् वे दोनों भिन्न हैं।)	—"तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥" विद्या और अविद्या— उनके दो भेद हैं।
3. "अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्" (सम्भूत की उपासना से एक फल मिलता है, असम्भूत की उपासना से दूसरा।) यह वाक्य भी उनकी भिन्नता दर्शाता है।	उपनिषद्-वाक्यों के समान ही मानस भी —विद्या और अविद्या—ऐसे दो पृथक् भेदों का अस्तित्व बता रही है।
4. "द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये"—परम ब्रह्म परमात्मा में विद्या व अविद्या दोनों स्थित हैं—अर्थात् विद्या व अविद्या दो भिन्न वस्तुएँ हैं।	
"क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या"—(जो विनाशशील है वह अविद्या है। जो अविनाशी (अमृत) है	'एक दुष्ट अतिशय दुख रूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥' 'एक रचै जग गुन बस जाकें'

विद्या कहा गया है।)

मानस ने अविद्या के स्वरूप को स्पष्ट कर के व्यक्त किया है जिससे कि भक्त जन-समुदाय को उसका वास्तविक स्वरूप ग्राह्य हो सके। जीव का 'भवकूप' में पड़ना जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसने का द्योतक है। जन्म-मृत्यु का चक्र विनाशशील है। इस प्रकार 'भवकूपा' के द्वारा अविद्या का वाक्य-वर्णित विनाशशील स्वरूप ही मानस ने व्यक्त किया है।

'एक रचै जग गुन वस जाकें'--जग की रचना विनाशशील है, जो जग की रचना करने की सामर्थ्य रखता है, वह अविनाशी है। इस प्रकार की विद्या के अविनाशी स्वरूप को प्रकट किया गया है।

'विद्याविद्ये ईशते—
यस्तु सोऽयन्यम्'—
(जो उन दोनों पर शासन करता है, वह उन दोनों से भिन्न सर्वथा विलक्षण है।

'प्रभू प्रेरित नहिं निज बल ताकें'
वाक्य का भाव है कि यह प्रभु द्वारा प्रेरित है। प्रभु द्वारा प्रेरित होने में 'ईशते यस्तु सोऽन्यं' का भाव स्पष्ट होता है।

हृदय-ग्रन्थियों का कारण अविद्या है। आत्म-स्वरूप को न जानना अविद्या है। आत्म-स्वरूप का अज्ञान, काम तथा कर्म—तीनों का संमिश्रण अविद्या है। अत: वासना-क्षय (काम), मनोनाश (कर्म) तथा विज्ञान (आत्मस्वरूप के ज्ञान) द्वारा ही अविद्या का क्षय सम्भव है। हृदय-ग्रन्थि भी तीन हैं—आत्म-अज्ञान, काम तथा कर्म। जिससे अविद्या का नाश किया जाता है, उसी से ये तीनों हृदय-ग्रन्थियाँ भी खोली जा सकती हैं। आत्म-ज्ञान, वासनाक्षय व मनोनाश होने पर हृदय-ग्रन्थियाँ स्वयं ही खुल जाती हैं।

(1) पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सोम्य ॥मुं. उ. 2-10॥

अर्थ—पुरुष ही सारा विश्व, कर्म व तप है। वह सबके परे अविनाशी ब्रह्म है। जो इसको इस प्रकार समझता है, वह अपने हृदय की ग्रन्थियाँ खोल लेता है।

(2) यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥15॥ (कठोप. अ 2, व 3)

अर्थ—जब हृदय की सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ भली भाँति खुल जाती हैं, तब वह मरणधर्मा मनुष्य इस शरीर में अमर हो जाता है। बस, इतना ही सनातन उपदेश है।

(3) भिद्यन्ते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ (2।2।8, मुं० उप०)

अर्थ—कार्यकारण-स्वरूप उस परात्पर पुरुषोत्तम को तत्त्व से जान लेने पर जीवात्मा के हृदय की गाँठ खुल जाती है। संपूर्ण संशय कट जाते हैं, और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।

(4) स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥
(3।2।9, मुं० उप०)

निश्चय ही जो कोई भी उस परम ब्रह्म परमेश्वर को जान लेता है, वह महात्मा ब्रह्म ही हो जाता है। उसके कुल में ब्रह्म को न जानने वाला कोई नही रहता। वह शोक से पार हो जाता है, पाप-समुदाय से तर जाता है। हृदय की गाँठ के खुल जाने से वह सर्वदा के लिए अमर हो जाता है।

त्रय एवं समं यावन्नाभ्यस्ताश्च पुनः पुनः। तावन्न पदसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाशतैः ॥11॥ एकैकशो निषेव्यन्ते यद्येते चिरमप्यलम्। तन्न सिद्धिं प्रयच्छन्ति मंत्राः संकीर्तिता इव ॥12॥ त्रिभिरेतैश्चिराभ्यस्तैर्हृदयग्रन्थयो दृढाः। निःशंकमेव त्रुट्यन्ति बिसच्छेदाद्गुणा इव ॥13॥ जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासना। सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥2-14, मुक्ति उप०॥

भावार्थ—जब तक इन तीनों का एक साथ चिरकाल तक अभ्यास न किया जाय, तब तक, सैकड़ों वर्ष बीतने पर भी, कैवल्य पद की प्राप्ति नहीं होती ॥11॥ यदि अलग-अलग इन सबका चिरकाल तक भी अभ्यास न किया जाय, तो जिस प्रकार टुकड़े-टुकड़े किया गया मंत्र सिद्ध नहीं होता, उसी प्रकार यह भी सिद्ध नहीं होता ॥12॥ यदि चिरकाल तक अभ्यास किया जाय, तो हृदय की दृढ़ ग्रन्थि भी निस्संदेह उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे कमल की नाल को तोड़ने पर उसके रेशे टूट जाते हैं ॥13॥ जन्म-जन्मान्तर से जिस मिथ्या संसार-रूप वासना का अभ्यास किया जा रहा है, वह चिरकाल तक विचार-अभ्यास के योग के विना कदापि क्षीण नहीं होती ॥14॥ साम्य के लिए प्रस्तुत चौपाइयाँ—

सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनइ न जाइ बखानी॥
ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥1॥

सो मायावस भयउ गुसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥2॥
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥3॥
जीव हृदयँ तम मोह बिसेषी। ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी॥
अस संजोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई॥4॥
सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई॥
जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥5॥
तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई॥
नोइ निवृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा॥6॥
परम धर्म मय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई॥
तोष मरुत तब छमाँ जुड़ावै। धृति सम जावनु देइ जमावै॥7॥
मुदिताँ मथै बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता॥8॥

जोग अगिनि करि प्रकट तब, कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत, ममता मल जरि जाइ॥117॥ (क)
तब बिग्यानरूपिनी, बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिआ भरि धरै दृढ़, समता दिअटि बनाइ॥117॥ (ख)
तीनि अवस्था तीनि गुन, तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि, बाती करै सुगाढ़ि॥117॥ (ग)
एहि बिधि लेसै दीप, तेज रासि बिग्यानमय।
जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब॥117॥ (घ)

सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा॥
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल भेद भ्रम नासा॥1॥
प्रबल अबिद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा॥
तब सोइ बुद्धि पाइ उँजिआरा। उर गृहँ बैठि ग्रंथि निरुआरा॥2॥
छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तब यह जीव कृतारथ होई॥
छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया॥3॥
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई॥
कल बल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा॥4॥
होइ बुद्धि जौं परम सयानी। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी॥
जौं तेहि बिघ्न बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी॥5॥
इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥6॥

जब सो प्रभंजन उर गृहँ जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई॥
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा॥7॥
इंद्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सुहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई॥
बिषय समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी॥8॥
तब फिरि जीव बिबिध बिधि, पावइ संसृति क्लेस।
हरि माया अति दुस्तर, तरि न जाइ बिहगेस॥118॥
कहत कठिन समुझत कठिन, साधन कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं, पुनि प्रत्यूह अनेक॥118॥

साम्य के लिए प्रस्तुत मानस के दोहों की संख्या 117 (क-ख-ग-घ) तथा आगे अंकित उपनिषद्-उदाहरण, संख्या 5 (मुक्ति उप०) का साम्य—

उपनिषद् प्रकरण-वर्णित तीनों भाव दोहों में एक साथ समाहित होकर साधक की उन्नति के क्रम से आये हैं—

दोहा (क)—वासना-क्षय : 'कर्म सुभासुभ लाइ'—शुभ व अशुभ कर्मों को ईंधन-रूप से जला डालना ही वासना का क्षय है।

मनोनाश—'ममता मल जरि जाय' ममता मन का गुण है। ममता-रूपी मल को जला देना ही मन का नाश करना है।

विज्ञान—'जोग अगिनि व ग्यान घृत'—योग की अग्नि को जलाना व ज्ञान-रूपी घृत को ठंठा करना विज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया है।

दोहा (ख) वासना-क्षय : समता दिअटि बनाइ—शुभ व अशुभ कर्मों के जल जाने के पश्चात् सम-भावना का उदय होता है। शुभ-अशुभ द्वैत-भावना है (सुख-दुःख, पाप-पुण्य के समान द्वन्द्व भावना)। उसके नष्ट होने पर जो बचेगा, वह एक-रस होगा, 'सम' होगा अतः 'समता का दिअट' अब बन सकता है।

मनोनाश : चित्त दिआ भरि धरै—चित्त शान्त है। मन अपने चांचल्य के लिए प्रसिद्ध[1] है। ममता अर्थात् ममत्व व आसक्ति के नाश हो जाने पर मन शान्त हो जाता है। तब उस शान्त मन के द्वारा चित्त में भरे हुए दीपक के समान तैल (तत्त्व) ग्रहण करके ठहरे रहने की सामर्थ्य आ जायेगी। 'भरि धरै' शब्द उसके शान्त हो जाने का द्योतक है।

विज्ञान : विज्ञान-रूपिणी बुद्धि—विज्ञान की प्रक्रिया पूर्ण होने पर[2] बुद्धि का स्वरूप विज्ञान-मय हो जायेगा।

दोहा (ग) वासना-क्षय : तीन अवस्था—तीन अवस्थाओं[1] में जगत् की रचना प्राणी अपनी वासनाओं के आधार पर करता है।

जाग्रत्-अवस्था में अपनी वासनाओं के आधार पर अपना जगत् बनाता है; स्वप्न-अवस्था में अपनी वासना के अनुसार स्वप्न रचता है। तीनों अवस्थाओं की कपास की वाती वनना वासना-क्षय की ओर संकेत करता है।

मनोनाश : तीन गुण —तीनों गुण—सत, रज और तम —के आधार पर प्राणी का मन वनता है। मानसिक विचार गुणों के अनुरूप वनते हैं। उनके कपास की वत्ती वनाने में मनोनाश के भाव की ओर संकेत है।

विज्ञान : तूल तुरीय सँवारि—'तुरीय'-अवस्था को सँभालना विज्ञान की ओर संकेत करता हैं। यह वह अवस्था है जो ज्ञानवान् को ही प्राप्त होती है।

दोहा (घ) **वासना-क्षय** : द्वन्द्व भाव हट जाने के पश्चात् (क) ममता आ जाने के पश्चात् (ख) तथा तीनों अवस्थाओं के वासना-क्षय के पश्चात् (ग) वासना-क्षेत्र अस्तित्वहीन हो जाता है।

मनोनाश : ममता-मल के नाश के पश्चात् (क) चित्त की शान्त अवस्था में (ख) तीनों गुणों का प्रभाव मन से हटने के पश्चात् (ग) मन अपनी चंचलता खो बैठता है।

विज्ञान : 'एहि विधि लेसै दीप' उपर्युक्त वर्णित रीति द्वारा ज्ञान-दीप प्रज्वलित किया जाता है। योग अग्नि व ज्ञान घृत जला कर विज्ञान-रूपिणी बुद्धि (क) खंड में 'तुरीय' की वाती सँवार कर (ग) 'तेज रासि बिग्यानमय।

पुनः पुनः—वाक्य-वर्णित पुनः पुनः की भावपूर्ति मानस ने इन भावों को 'पुनः पुनः' लिखकर की है। 'पुनः पुनः' शब्द की व्यंजना में 'चिरकाल' का भाव निहित है। "सुनहु तात यह अकथ कहानी' से चौपाइयों का क्रम इस रूप से आया है कि चिरकाल शब्द अकथ होने पर भी जो प्रभाव पड़ता है, वह चिरकाल-साधना का पड़ता है।

जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासनाः—'प्रबल अविद्या कर परिवारा' व उपनिषद् वर्णित जन्म-जन्मान्तरों की मिथ्या संसार-वासना का प्रभाव मानस में 'प्रवल अविद्या कर परिवारा' के रूप में वर्णित है। जन्म-जन्मान्तरों तक जो भाव वरावर उदित होगा, वह अपने प्रभाव में प्रवल होगा। 'अविद्या का परिवार' (मानस) सांसारिक वासनाएँ (उपनिषद्) हैं।

अभ्यासयोगेन बिना न क्षीयते क्वचित्—'उर गृहँ बैठि ग्रंथि

निरुआरा' 'अभ्यास' (उपनिषद्) शब्द में समय लगने का भाव तथा धैर्य होने का भाव निहित है—'उर गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा' में भी ये दोनों भाव निहित हैं। बैठकर ग्रंथि को खोलने में दोनों ही भाव चाहिए--समय और धीरज।

118 (ख) नीचे आने वाली आठ चौपाइयां व दो दोहे 'ग्रन्थि को निरुआने' की प्रक्रिया का सविस्तार वर्णन करते हैं।

इस प्रकार क्रम से किस प्रकार उपनिषद् में वर्णित वासना-क्षय, मनोनाश, व विज्ञान को एक साथ रखकर साधक अपना विकास कर सकता है, यह प्रक्रिया हमें इन दोहों में प्राप्त हुई है।

पिछले अध्ययन में हम यह देख चुके हैं कि मानस का यह एक विशेष गुण है कि एक ओर वह उपदेश देती जाती है, और साथ ही, उस उपदेश को ग्रहण करने का अधिकार भी जगाती जाती है। उपनिषद्-ग्रन्थों में ज्ञान का अधिकारी होने पर ही ज्ञान प्राप्त होता है। मानस ज्ञान भी देती जाती है और साथ ही उस ज्ञान को ग्रहण करने का अधिकारित्व भी पाठक के हृदय में उदित करती जाती है। मानस-पठन की आवृत्तियों के अनुरूप जितना अधिकारित्व पाठक प्राप्त करता है, उसी अनुपात में उसको ज्ञान-लाभ होता जाता है। कथा-प्रसंग के रस के साथ मानस ज्ञान-लाभ किस रूप से कराती है, ये दोहे उसका उदाहरण हैं।

पूर्व-उल्लिखित उपनिषद्-प्रकरण का साम्य जिन दोहों से स्थापित किया गया है, वे संख्या में चार हैं। ये चारों दोहे व एक सोरठा, एक साथ आये हैं; उनका विषय भी एक है। क-ख-ग-घ के द्वारा उनका विभाजन किया गया है, अतः यह स्पष्ट है कि वे एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। उपनिषद् के भाव को लेकर चार की संख्या अपनाकर मानस को उपनिषद् की भाव-अभिव्यक्ति क्यों करनी पड़ी। इस पर अन्तिम सोरठा प्रकाश डालता है—'एहि विधि लेसै दीप, तेज रासि बिग्यानमय'। उपनिषद् ने जहां साधक को अभ्यास करने का परामर्श दिया है, वहां मानस ने जन-हित के उद्देश्य से 'अभ्यास करने की विधि' बतलायी है। इस प्रकार प्रथम उद्देश्य तो पूरा हुआ; दूसरा उद्देश्य है; 'त्रय' शब्द-क्रम से उपनिषद्-उदाहरण में आया है। मानस ने इस 'त्रय' शब्द की पूर्ति तीन दोहे लिख कर की है तथा प्रत्येक दोहे में तीनों भाव (वासनाक्षय, मनोनाश, विज्ञान) समाहित कर दिए हैं। इस प्रकार उपनिषद् में आयी 'त्रय' तीन की संख्या तो तीन दोहों में भी आकर व्यक्त हो गयी तथा उपनिषद्-कथन में त्रय की संख्या में जो तीनों भाव आए थे, वासना-क्षय, मनोनाश तथा विज्ञान के, ये तीनों भाव प्रत्येक दोहे में व्यक्त होने से तीन-तीन बार व्यक्त हो गए। दोनों की अभिव्यक्ति में यहां साम्य जिस प्रकार स्थापित हुआ है, वह आप देख ही चुके है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि तीन की संख्या एक महत्त्वपूर्ण संख्या है। निर्णयात्मक प्रसंगों

में तीन की संख्या अन्तिम संख्या मान ली जाती है तथा तीन संख्या पार होने पर चेतावनी भी पर्याप्त मान ली जाती है। अतः तीनों दोहों में उपनिषद् की भाव-अभिव्यक्ति को तीन-तीन वार व्यक्त करके मानस ने महत्त्वपूर्ण रूप से यह स्पष्ट कर दिया है कि वे तीन वस्तुएँ क्या हैं, जिनका एक साथ अभ्यास करना है; तथा वे तीनों वस्तुएँ जीवन के कर्म क्षेत्र में हमारे अन्दर किस प्रकार व्याप्त हैं, तथा हृदय में व्याप्त 'मदादि रूप शलभों' को जलाने के लिए तथा विज्ञानमय तेज-दीप' प्रज्वलित करने के लिए उनका निराकरण कितना आवश्यक है।

आगे अंकित प्रायः सभी उपनिषद् उद्धरण[1] मानस की निम्नांकित चौपाई के अपना साम्य पा लेते हैं—

छोरत ग्रन्थि पाव जो सोई। तब यह जीव कृतारथ होई ॥3-118 (ख) ॥

सभी उपनिषद् उदाहरणों में 'छोरत ग्रन्थि पाव जो सोई' का भाव एक समान ही आया है—

'सा अविद्या-ग्रन्थिः विकिरतीह'	(उदाहरण 1)
'सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः'	(उदाहरण 2)
'भिद्यते हृदय-ग्रन्थिः'	(उदाहरण 3)
'गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तो'	(उदाहरण 4)

चौपाई का अन्तिम पद है 'तब यह जीव कृतारथ होई'। 'कृतार्थ' शब्द के अर्थ पर प्रकाश डाला जाय तो उपर्युक्त उपनिषद्-उदाहरणों के भाव भी 'कृतार्थ' शब्द में समा जाते हैं। 'कृतार्थ' शब्द का अर्थ है, सर्वम् कृतकृत्यम्' जो-जो काम करने थे, उनको कर लेने के पश्चात् जो एक तृप्ति तथा आभार का भाव हृदय में उठता है, वह भाव 'कृतार्थ' शब्द में निहित है। प्रत्येक प्राणी की कृतार्थ-भावना अपनी-अपनी कार्य, रुचि व आकांक्षा के अनुसार भिन्न हुआ करती हैं। इस कारण मानस ने अलग-अलग भावनाएँ न लिखकर 'कृतार्थ' शब्द का प्रयोग किया है जिससे समस्त भिन्न-भिन्न प्राणियों की भिन्न-भिन्न भावनाएँ इस शब्द के अन्तर्गत सिमिट सकें। इस प्रकार उपनिषद्-उदाहरणों की समस्त भावनाएँ मानस की चौपाई के 'कृतार्थ' शब्द के अन्तर्गत आ जाती हैं।

उदाहरण—

(1) एवेद ब्रह्म परामृत—इन सबके परे अविनाशी ब्रह्म को मानना।

(2) अथ मर्त्योऽमृतो— मरणधर्मा मनुष्य का शरीर में अमर हो जाना।

(3) क्षीयते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे- -संपूर्ण संशय कट जाते हैं, समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। ~

(4) ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति, तरति शोकं, तरति पाप्मानं—वह महात्मा ब्रह्म ही हो जाता है, और उसके कुल में ब्रह्म को न जानने

वाला कोई नहीं रहता। वह शोक से एवं पाप-समुदाय से भी तर जाता है।

उपर्युक्त सभी भाव मानव के हृदय में 'कृतकृत्यता' का भाव उदय करके उसको कृतार्थ करते हैं।

संदर्भ

1. तच्छैवालपनये सम्यक् सलिलं प्रतीयते शुद्धम्।
   तृष्णासन्तापहरं सद्यः सौख्यप्रदं परं पुंसः॥ 152॥
   पंचानामपि कोशानामपवादे विभात्ययं शुद्धः।
   नित्यान्दैकरसः प्रत्यग्रूपः परः स्वयं ज्योतिः॥ 153॥—विवेकचूड़ामणि

   जिस प्रकार उस शैवाल (सिवार) के दूर हो जाने पर मनुष्यों के तृषा-रूपी ताप को दूर करने वाला जल स्पष्ट प्रतीत होने लगता है, उसी प्रकार पाँचों कोशों का अपवाद करने पर एकरस, निर्गुण शुद्ध, नित्यानन्दैक-रस-स्वरूप अन्तर्यामी, स्वयंप्रकाश परमात्मा भासने लगता है।
2. राम को मानस में साक्षात् परमेश्वर-स्वरूप माना गया है।
3. इस दोहे के संदर्भ के पूर्व आये दोहे का भाव 'ममता मल जरि जाय' दोहा (क)।
4. 'जोग अगिनि···बुद्धि सिरावै ग्यान घृत" ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया, जो वर्णित दोहे के पूर्ववाले दोहे का भाव है।
5. तीन अवस्था—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति।
6. तीनि अवस्था, तीनि गुन, तेहि कपास तें काढ़ि।
   तूल तुरीय सँवारि पुनि, बाती करै सुगाढ़ि॥
7. छोरन ग्रन्थि पाव जो सोई···पुनि प्रत्यूह अनेक॥ (118-ख उ० कां०)
8. 117 (क) (ख) (ग) (घ) (उ० कां०)
9. प्रथम उद्धरण (संख्या 1. मुं० उप०) को छोड़कर।

जगत् की स्थिति : स्वप्नवत्

प्राचीन काल से ही अध्यात्मवाद की ओर उन्मुख प्राणी, इस जगत् को स्वप्नवत् मानते चले आ रहे हैं। उपनिषदों में कई स्थानों पर तथा कई मंत्रों में इसका उल्लेख मिलता है। वास्तव में जगत् को 'स्वप्न नहीं, स्वप्नवत्' कहा गया है। 'स्वप्न' होने व 'स्वप्नवत्' होने में बड़ा अंतर है। 'यह प्राणी श्याम के समान है' का अर्थ यह हुआ कि यह प्राणी श्याम नहीं है परन्तु इसमें श्याम की झलक है। श्याम एक दूसरा पुरुष है, और यह प्राणी उससे एक पृथक् पुरुष। इन दोनों में एक ऐसी समानता है जो इस प्राणी को ही श्याम-सा होने का आभास देती है, पर वास्तव में तथ्य ऐसा नहीं है कि वे एक ही हों।

यही अन्तर जगत् को 'स्वप्न' न कहकर 'स्वप्नवत्' कहने में आ जाता है। यह जगत् तथा वह स्वप्न दो सर्वथा भिन्न वस्तुएँ हैं। इस जगत् में तथा उस स्वप्न में कोई समानता है जो इस जगत् को स्वप्नवत् कर देती है। इस जगत् में स्वप्न की कोई ऐसी झलक आती है, जो यह आभास देती है मानो यह जगत् स्वप्न ही हो। जिस प्रकार उन दोनों पुरुषों के रूपों में समानता होने के कारण एक में दूसरे के होने का आभास देते हैं, उसी प्रकार 'संसार' व 'स्वप्न' के स्वरूपों में 'नश्वरता' की समानता के कारण, एक दूसरे में आभास होता है। परन्तु यह कहने में, कि संसार स्वप्न ही है, वही त्रुटि मानी जाएगी, जो दूसरे पुरुष को श्याम ही मान लेने में होगी।

जगत् को स्वप्न ही मान लेने से एक बहुत बड़ी हानि होगी। श्याम के सदृश किसी अन्य पुरुष को श्याम मान लेने पर आप उसके साथ, श्याम जैसा ही व्यवहार करेंगे, जब कि आपको उसके साथ, अन्य पुरुष होने के कारण, अन्य पुरुष-जैसा व्यवहार करना चाहिए। जगत् को भी स्वप्न मान लेने से हम जगत् के साथ स्वप्न जैसा ही व्यवहार करने लग जाते हैं। जगत् केवल स्वप्न के समान है। अर्थात्, दोनों में केवल 'नश्वरता की समानता' है। उसको स्वप्न ही मान लेने से

हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ जायेंगे और सारा पुरुषार्थ खो बैठेंगे, क्योंकि स्वप्न में हमारे साथ जो घटनाएँ घटती है, उनमें हमारा कुछ भी हाथ नहीं होता है। हम जगत् को स्वप्न मानते ही अकर्मण्य होकर बैठ जायेंगे और अपने पुरुषार्थ को तिलांजलि दे देंगे। यह भूल जायेंगे कि जगत् कर्मभूमि है, जब कि स्वप्न वैसा नहीं है। हम जगत् को स्वप्न मानते ही कर्मभूमि वाला दृष्टिकोण पूर्णतया भूल जायेंगे, और कोरे भाग्यवादी व निराशावादी बनकर समाज का एक असहाय अंग-मात्र रह जायेंगे।

जगत् परब्रह्म पर 'रज्जु-सर्प' के समान अध्यस्त है। अध्यस्त वस्तु की कल्पना स्वरचित होती है। इस प्रकार इस जगत् की वस्तुओं का जो स्वरूप हमको प्रतीत होता है, उसकी प्रतीति उसी प्रकार स्वचरित है, जिस प्रकार 'स्वप्नावस्था' में स्वप्न स्वचरित होता है, कोई अन्य उसकी रचना करने नहीं आता। इस प्रकार 'स्वचरित' होना एक दूसरी समानता है जो जाग्रत् अवस्था तथा स्वप्न-अवस्था में एक समान होती है तथा जाग्रत-अवस्था को 'स्वप्नवत्' विशेषण के अनुरूप बनाती है।

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्त्ता ॥

(4/3/10 बृह० उप०)

भावार्थ—इस अवस्था में न रथ है, न रथ में जोते जानेवाले अश्वादि, और न मार्ग ही है, परन्तु वह रथ, रथ में जोते जाने वाले अश्वों व मार्गों की रचना कर लेता है। इस अवस्था में आनन्द और प्रमोद कुण्ड, सरोवर एवं नदी आदि सभी की रचना कर लेता है जो वहाँ नहीं होते। वही उनका कर्त्ता है।

चौपाई

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता ॥2॥
योग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ॥
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू। संपति-बिपति करमु अरु कालू ॥3॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू ॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं ॥

(अयो० कां०, 92)

भावार्थ— कोई किसी को सुख-दुःख देनेवाला नहीं है, सब अपने ही किए हुए कर्मों का फल भोगते हैं। संयोग-वियोग, भले-बुरे भोग, शत्रु-मित्र और उदासीन, ये सभी भ्रम के फंदे हैं; जन्म-मृत्यु, सम्पत्ति-विपत्ति, कर्म और काल जहाँ तक जगत् के जंजाल हैं; धरती, घर, नगर, परिवार, स्वर्ग और नरक आदि जहाँ

तक व्यवहार है; जो देखने, सुनने और मन के अन्दर विचार करने में आता है, इन सबका मूल मोह (अज्ञान) है। परमार्थ इनके मूल में नहीं है।

उपर्युक्त वाक्य के दो अर्थ निकलते हैं। एक अर्थ तो रथ, अश्व, मार्ग आदि को लेकर निकलता है। वह अर्थ ऊपर दिया जा चुका है। दूसरा अर्थ व्यंजना से निकलता है। उपनिषदों में रथ की उपमा शरीर से दी गई है। रथ व शरीर एक प्रकार से पर्यायवाची दो शब्दों के रूप में भी वहां प्रयुक्त होने लगे थे। इस प्रकार उपनिषद्-वाक्य का दूसरा अर्थ यह निकला---जिस प्रकार स्वप्न में रथ आदि नहीं हैं उसी प्रकार जगत् की स्वप्नवत जाग्रत्-अवस्था में भी न शरीर (रथ) है, न रथयोग (इन्द्रियां) हैं, न जीवन-पथ ही है। परन्तु जीव उन सब की कल्पना (प्रतीति) के आधार पर रचना (मृगतृष्णा के समान) कर लेता है। इस अवस्था में आनन्द, मोद-प्रमोद, जीवन-पथ पर आने वाले भिन्न-भिन्न पदार्थों (कुण्ड, सरोवर, नदी) की रचना कर लेता है जो वास्तव में नहीं होते। अतः वही उनका कर्त्ता है।

वास्तव में हमको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस द्वितीय अर्थ की भाव-अभिव्यक्ति के लिए ही यह लिखा गया है। प्रथम अर्थ तो केवल शाब्दिक अर्थ है। उपनिषद्-वाक्य में सांकेतिक रूप से प्राप्त हुआ यह अर्थ उपर्युक्त मानस-चौपाई में अधिक स्पष्ट होकर आया है।

उपनिषद्-वाक्य	चौपाई
'स हि कर्त्ता' (वही उनका कर्ता है)	'निज कृत कर्म भोग सबु भ्राता' वाक्य के 'स हि कर्त्ता' का भाव चौपाई की 'निज कृत कर्म' शब्दावली में आ जाता है। हे भाई! सब अपने ही किए 'कर्मों का फल' भोगते हैं। अतः भावार्थ हुआ कि जगत् में जो कुछ भी हो रहा है उसके कर्त्ता वे स्वयं हैं। वाक्य-भाव है कि, स्वप्न-जगत् के कर्ता वे स्वयं ही हैं; मानस-भाव है कि अपने किए गए कर्मों का भोग ही सब लोग भोग रहे हैं। अर्थात् उन कर्मों के कर्त्ता वे ही हैं। इस प्रकार विचार-विमर्श का निष्कर्ष यह निकलता है कि प्राणी जो कुछ अनुभव प्राप्त करते हैं उसके स्रष्टा वे स्वयं होते हैं।

रथ, मार्ग तथा रथ-मार्ग के आनन्द-प्रमोद सरोवर, कुंड आदि मार्ग में आने वाली भिन्न-भिन्न वस्तुएँ	'जनम मरनु जहँ लगि जग जालू' जन्म-मरण और जगत् के जंजाल—ये रथ के मार्ग हैं, क्योंकि जीवन-रथ इन्हींके मध्य से होकर जाता है। 'संपति-विपति करमु अरु कालू' 'धरनि धामु धनु पुर परिवारू। मरगु नरकु जहँ लगि व्यवहारू॥ संपत्ति, विपत्ति, कर्म, काल धरती, घर-परिवार ये सब मार्ग में आनेवाली भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं। वाक्य-वर्णित सरोवर, कुंड, रथ-भूमि पर पड़े न पड़े, पर जीवन-रक्षा मार्ग पर जो कुछ अवश्यमेव पड़ता है मानस ने व्यावहारिक दृष्टिकोण रख कर उन सबका उल्लेख किया है। (ख) 'मोह निसा सब सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥' उपनिषद्-वाक्य का भावार्थ है कि निद्रा-अवस्था में प्राणी अनेक प्रकार के सपने देखता है। बीज रूप मोह का कार्य स्वप्न है, अतः मानस स्वप्न का कारण देकर, स्वप्न की अवस्था का वर्णन करते समय उपनिषद्-दृष्टांत के भाव को पहुँच जाती है।

स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव स यत्तत्र किंचित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगो ह्ययं पुरुषः इत्येवमेवैतद्॥ बृह० उप० 4/3/16॥

यह आत्मा इस स्वप्नावस्था में रमण और बिहार कर तथा पुण्यों और पापों को देखकर फिर जिस प्रकार आया था, और जहाँ से आया था, उस जाग्रत् स्थान को ही लौट जाता है। वह वहाँ जो कुछ भी देखता है, उससे असंश्लिष्ट रहता है, क्योंकि यह पुरुष असंग है।

चौपाइयां—

सपने होइ भिखारि नृपु, रंकु नाकपति होइ।
आगे लाभु न हानि कछु, तिमि प्रपंच जियँ जोइ ॥92॥
अस बिचारि नहिं कीजिअ रोसू। काहु हि बादि न देइअ दोसू ॥
मोह निसां सब सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा ॥1॥
होइ बिवेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥
सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू ॥3॥
राम ब्रह्म परमारथु रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा ॥
सकल बिकाररहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा ॥4॥
(अयो० कां०, 93)

साम्य

उपनिषद्-प्रकरण	मानस-प्रकरण
यह आत्मा स्वप्नावस्था में रमण और विहार करता है तथा पाप और पुण्य देखता है।	(क) 'सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ' उपनिषद्-प्रकरण के समान मानस की चौपाइयां भी स्वप्न-अवस्था में विपरीत भावों की प्राप्ति का उल्लेख कर रही हैं। स्वप्न में नृप का रंक हो जाना पाप का लक्षण है तथा रंक का नृप हो जाना पुण्य का। अपनी-अपनी अवस्था के अनुसार स्वप्नकर्ता रमण व विहार करता है।
वह जिस प्रकार आया था और जहां से आया था, जाग्रत्-अवस्था में वैसा ही लौट जाता है।	'जागे लाभ न हानि कछु' जागने पर उसकी न कोई हानि होती है, न लाभ। अर्थात्,जाग्रत्-अवस्था से स्वप्न-अवस्था में वह जहां से, जैसा आता है, वैसा ही लौट जाता है।
'वहां वह जो कुछ देखता है, उस से असंश्लिष्ट रहता है।'	वाक्य जो अभिव्यक्ति कर रहे, हैं वह विचार का विषय है। अतः मानस निम्नांकित चौपाइयों के माध्यम से विचार की प्रेरणा दे रही है। 'तिमि प्रपंच जियं जोइ' —इस दृश्य-प्रपंच को हृदय में देखना चाहिये तथा उसके फलस्वरूप—'अस बिचारि नहिं कीजिअ रोसू, काहुहि बादि

न देइअ दोसू ॥' मानस के उपर्युक्त प्रकरण से यही भावार्थ निकलता है कि ये सब मोह-निशा के स्वप्न हैं, इससे अछूते रहो, किसी पर व्यर्थ क्रोध व दोपारोपण न करो और हृदय में इस विश्व-प्रपंच का विचार करो।

उपनिषद्-प्रकरण में जो कथन निष्कर्ष-रूप में आया है, मानस ने उस कथन को जन-हित में सुलभ करने को स्पष्ट करके लिखा है।

...क्योंकि यह पुरुष असंग है।

भगवान् के असंग-रूप का प्रतिपादन मानस की निम्न चौपाइयों से होता है—

'राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अविगत अलख अनादि अनूपा ॥
सकल विकाररहित गतभेदा।
कहि नित नेति निरूपहि वेदा ॥

उपनिषद् वाक्य में प्रयुक्त हुए 'असंग' शब्द से ब्रह्म के केवल अद्वैत, अनुपम स्वरूप की स्थापना होती है। मानस ने इन चौपाइयों में 'असंग' शब्द का प्रयोग किये बिना[1] 'असंग' शब्द की व्याख्या कर दी है। श्रीरामजी परमब्रह्म, परम वस्तु,[2] अविगत, अलख, अनादि उपमा-रहित, अविकारी, भेद-शून्य है। असंग होने के कारण ही "न इति-न इति" कहकर निषेध विधि से वेद उनका वर्णन कर रहे हैं। इस प्रकार वाक्य में प्रयुक्त 'असंग' की व्याख्यास्वरूप उपर्युक्त चौपाई मानस में आई है। जो भाव जन-सुलभ नहीं होते, उन को जन-साधारण के हृदय में सुगम-रूप में उतारना मानस का अभिप्राय रहा है। इस अभिप्राय से मानस सदैव उनको अधिक स्पष्ट करके व्यक्त करती आई है। ००

तद्यथा महामत्स्य उभे कूलेऽनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥ (बृह० उप०, 4/1/18)

जिस प्रकार कोई बड़ा भारी मत्स्य नदी के पूर्व और अपर दोनों तीरों पर क्रमशः संचार करता है, उसी प्रकार यह पुरुष, स्वप्न-स्थान और जाग्रत-स्थान, इन दोनों ही स्थानों पर क्रमशः संचार करता है।

यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः ॥ (बृह० उप०, 4/1/20)

मार खाना, किसी के वश में होना, हाथी द्वारा खदेड़े जाना तथा गड्ढे में गिरने के समान जो कुछ भय मनुष्य जाग्रत्-अवस्था में देखता है, इन्हें स्वप्न-अवस्था में उन्हें अविद्या से मानता है। और यहाँ यह देवता के समान, राजा के समान अथवा मैं ही सब कुछ हूं, ऐसा मानता है। वह इसका परम धाम है।

साम्य के लिए प्रस्तुत चौपाइयाँ—

निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ पानी ॥
जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी ॥ 1 ॥
......
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया ॥ 4 ॥
रजत सीप महुँ भासु जिमि, जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥ 117 ॥ (बा. कां.)
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई ॥ 1 ॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई ॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा ॥ 2 ॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥
आनन-रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥ 3 ॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा ॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥ 4 ॥
जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान ॥ बा० कां० 118 ॥

भावार्थ—अज्ञानी पुरुष अपना भ्रम न देख कर प्रभु राम पर दोषारोपण करते हैं, जैसे आकाश में बादलों का पर्दा देखकर कुविचारी कहते हैं कि बादलों ने सूरज को ढक लिया। ......उसकी सत्ता से, मोह की सहायता पाकर जड़ माया भी सत्य प्रतीत होती है। जैसे सूर्य की किरणों में पानी की प्रतीति होती है, यद्यपि यह तीनों कालों में झूठ है, तथापि इस भ्रम को कोई मिटा नहीं सकता। इसी प्रकार यह

संसार भगवान् के आश्रित रहता है। यद्यपि वह असत्य है, तथापि दुःख तो देता ही है। जिस प्रकार स्वप्न में कोई सिर काट ले, तो जागे बिना वह दुःख दूर नहीं होता। उसका कोई आदि व अन्त नहीं है। वेदों ने अपनी मति के अनुसार उसको, बिना पैरों के चलने वाला, बिना कानों के सुनने वाला, बिना हाथों के विविध कार्य करने वाला, बिना मुख के सर्व रसों का भोगी, बिना वाणी के योग्य वक्ता, बिना शरीर के स्पर्श करनेवाला बिना नासिका के गन्धों को ग्रहण करनेवाला बताया है। उसकी अलौकिक करनी की महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता। जिनका वेद और बुध जन इस प्रकार वर्णन करते हैं तथा मुनि जिनका ध्यान करते हैं, वे ही भक्तों का हित करने वाले दशरथ के सुत, कोसलपति भगवान् रामचन्द्र हैं।

साम्य—

उपर्युक्त दोनों उद्धरण बृहदारण्यकोपनिषद् में क्रम से आये हैं, तथा भाव-अभिव्यक्ति में भी एक-दूसरे के सहायक हैं। उनकी भावाभिव्यक्ति का रूप है कि एक ही पुरुष जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी है। जाग्रत् व स्वप्न-अवस्था में जीव भ्रम व अज्ञान में आवद्ध रहता है। वह पुरुष की चौथी या परम अवस्था है, जिसमें वह अपने को सर्वेश्वर मानता है।

वाक्य	चौपाई
यत्रैनं घ्नन्तीव···गर्तामिव पतति ···अविद्या मन्यते···(सर्वभयों को स्वप्न में अविद्या से जानता है)	(क) जों सपने सिर काटै कोई। बिनु जागे न दूरि दुख होई॥
अविद्या व अज्ञान	(1) निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥ जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेहु भानु कहहिं कुबिचारी॥ 1॥ (2) जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥ 4॥ (3) रजत सीप महुँ भासु जिमि, जथा भानु कर बारि। जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि॥ 117॥ (4) एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥

यत्र देव इव राजेव···परमलोक: (देव, व राजा के समान मैं ही सब-कुछ हूँ, वही इसका परम धाम है)[1]	(क) जिस प्रकार काव्य का निष्कर्ष है कि अपने को देव, राजा, सर्वेश्वर मानना ही परम धाम है और वहां सब भ्रमों का निवारण हो जाता है । उसी प्रकार चौपाइयों का निष्कर्ष भी वही है— 'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई, गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई' रघुराई शब्द में, देव, राजा तथा सर्वेश्वर होने के तीनों वाक्य भाव समाहित होकर यहां आ गए हैं । रामचन्द्र जी मानस के भगवान हैं अतः देव हैं; रघुराई[2] के सम्बोधन से उनका राजा व सर्वश्रेष्ठ होना स्पष्ट रूप से उभर आता है ।
	(ख) जेहि इमि गावहि वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान । सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान ॥
देव स्वरूप की अभिव्यक्ति	(1) जेहि इमि गावहि वेद बुध । (2) जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
राजा के स्वरूप की अभिव्यक्ति	(1) दसरथ सुत—राजा का सुत समयावधि के बाद राजा ही होगा । (2) कोसल पति—कोसल देश का राजा ।
सर्वेश्वर व सर्वोऽस्मीति के स्वरूप की अभिव्यक्ति	(1) भगत हित (शक्तिशाली प्राणी ही दूसरे का हित कर सकता है । भक्त समुदाय का हित करनेवाला सर्वेश्वर व सर्वोऽस्मीति भाव का होगा, ऐसा अर्थ व्यंजना से निकलता है) (2) भगवान
परम लोक सर्वोऽस्मीति	परम धाम वह है जहां परमेश्वर असंग रूप से केवल द्रष्टा होकर निवास करता है । चौपाइयां परमेश्वर के असंग व द्रष्टा-स्वरूप का निरूपण कर रही हैं जिससे कि जन साधारण परमलोक का वास्तविक अर्थ समझ सके ।

आदि अंत कोउ जासु न पावा।
मति अनुमानि निगम अस गावा ।। 2 ।
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना।
कर बिनु करम करइ बिधि नाना ।।
आनन-रहित सकल रस भोगी।
बिनु बानी बकता बड़ जोगी ।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा।
ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा ।।
असि सब भाँति अलौकिक करनी।
महिमा जासु जाहि नहि बरनी ।।
बिना किसी उपाधि के सर्व भोगों का
ज्ञाता होना परमेश्वर के सर्वोऽस्मीति व
द्रष्टा होने को प्रकाशित करता है।

संदर्भ

1. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथि विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।। 2 ।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।। (कठोप० 1/3/3-4 ।।
2. जिसके आगे फिर और कुछ न हो।
3. रघुराई—रघुवंश—राई—राजा व सर्वश्रेष्ठ।
4. सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पंथा विततो देवयानः।
येनाक्रमत्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ।।
(मुं० उ० 3-1-6)

जहाँ सत्य-स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का उत्कृष्ट धाम है।

रहस्य तथा रहस्य-दर्शन

जीवात्मा तथा परमात्मा का स्वरूप एकराशि होने के कारण जीवात्मा को जब उसका ज्ञान होता है, तब उस ज्ञान में जीव व परमात्मा की कोई भिन्नता नहीं रह जाती। जिस प्रकार पृथक्-पृथक् घरों का जल मिलकर एकरस हो जाता है, उसी प्रकार घट-रूपी शरीर के न होने पर प्रत्येक आत्मा परमात्मा में एकरस हो जाती है। एकरस वस्तु में पृथकता का कोई स्थान नहीं रहता।

शास्त्र ब्रह्मविद्या को पुरुष-तंत्र नहीं मानते—पुरुष-व्यापार के अन्तर्गत वह नहीं आती। किसी पदार्थ या विषय के रूप में उसकी प्राप्त नहीं हो सकती। अत: जो जिज्ञासु अविद्या रूपी अध्यास का निवारण कर लेते हैं, वे अपने सहज रूप को प्राप्त हो जाते हैं। यह सहज स्वरूप ही वह चैतन्य-तत्त्व है जिसको शास्त्र 'ब्रह्म' की संज्ञा देते हैं।

परमात्मा व जीवात्मा का सहज स्वरूप, किसी घट द्वारा बाधित न होने पर जिस एकरसता को प्राप्त होता है, मानस की यह चौपाई 'जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई, उस एकरस भाव की ओर ही संकेत कर रही है।

मानस चौपाई—

जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ।।2/127।। (अयो० कां०)

अर्थ—आपको जानते ही वह आप का स्वरूप हो जाता है।

समभाव वाले उपनिषद् वाक्य—

(1) स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ।।3/2/9, मुंडक० उप०)

भावार्थ—निश्चय जो कोई भी उस परमब्रह्म परमेश्वर को जान लेता है, वह महात्मा ब्रह्म ही हो जाता है।

(2) धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ।।6/6।।

(श्वेता० उप०)

भावार्थ—धर्म की वृद्धि करने वाले, पाप-नाश करने वाले, सम्पूर्ण ऐश्वर्य के

अधिपति, समस्त जगत् के आधारभूत परमात्मा को अपने हृदय में स्थित जानकर अमृत-स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

(3) तद् ब्रह्मेत्युपासीत ब्रह्मवान् भवति

तै० उप० (भृगुवल्ली), 10/4

भावार्थ---वह ब्रह्म है, इस प्रकार समझकर जो उसकी उपासना करता है, वह ब्रह्म से युक्त हो जाता है।

(4) अन्यो ऽसावन्यो ऽहमस्तीति न स वेद (बृह० उप०, 1/4/20)

भावार्थ—जो, 'वह अन्य है और मैं अन्य हूँ', ऐसा जानता है, वह उसको नहीं जानता।

(5) ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति।
तस्मात्तत्सर्वमभवत् तद्यो, यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां
तथा मनुष्याणाम् ॥ बृह० उप०, 1/4/10॥

भावार्थ—सर्वप्रथम वह ब्रह्म ही था, उसने भी अपने को जाना कि मैं ब्रह्म हूँ, अतः वह सर्व हो गया। उसे मनुष्यों व देवों में से जिसने देखा, वही तद्रूप हो गया।

(6) परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति ॥ प्रश्न उप० 4/10॥

भावार्थ—जो कोई छाया, शरीर और वर्ण आदि से रहित इस शुद्ध एवं अविनाशी तत्त्व को जान लेता है, वह सब-कुछ जानने के अतिरिक्त सब-कुछ हो जाता है।

(7) विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणाभूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवा विवेशेति ॥प्रश्न उप०,4/10॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर में समस्त प्राणा, पाँचों महाभूत, समस्त नन्द्रियाँ, अन्तःकरण सहित विज्ञान रूप जीवात्मा आश्रय लेती है, उस परब्रह्म अविनाशी आत्मा को जो जानता है, वह सर्वज्ञ है तथा सर्व रूप परमेश्वर में प्रविष्ट हो जाता है।

(8) तं यथायथोपासते तथैव भवति। तस्माद् ब्राह्मणः पुरुषरूपं परं ब्रह्मैवाहमिति भावयेत्। तद्रूपो भवति ॥मुद्गल उप० 3/3॥

भावार्थ—जो जिस रूप की उपासना करता है, वह परम तत्त्व उसके लिए उसी रूप का हो जाता है। इसलिए ब्रह्मज्ञानी को, पुरुषरूप परमब्रह्म मैं ही हूँ'—यह भावना करनी चाहिए। इस भावना से वह 'परमब्रह्म मैं ही हूँ' के स्वरूप को प्राप्त होता है। जो इसको जानता है, वह तद्रूप हो जाता है।

(9) तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत मानवान् ॥3॥ तन्नम इत्युपासीत।

नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद् ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान् भवति ॥

(तै० उप० (भृगुवल्ली) 10/3)

भावार्थ—इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रतिष्ठा की भावना से प्रतिष्ठा, मान की भावना से मान, मन की भावना से उपासना करने पर मननशक्ति से सम्पन्नता प्राप्त होती है। वह नमस्कार-योग्य है तो उसी भावना से उपासना करने पर उपासक के लिए समस्त भोग-पदार्थ विनीत हो जाते हैं। वह ब्रह्म है, इस प्रकार उपासना करे तो वह ब्रह्ममय हो जाता है।

साम्य--

उपर्युक्त उपनिषद्-प्रकरणों का साम्य 'जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई' इस अर्ध चौपाई के साथ इतना स्पष्ट है कि उस पर अधिक प्रकाश डालना आवश्यक नहीं है। केवल चौपाई में प्रयुक्त 'जानत' शब्द से विचार करने से चौपाई का अन्तर्निहित भाव स्पष्ट हो जाता है। 'जानत' शब्द से अर्थ हुआ—किसी वस्तु को जानना। भक्ति करना, उपासना करना, शरणागत होना; इन सब क्रियाओं से द्वैत भाव की पुष्टि होती है, परन्तु किसी वस्तु को जान लेने से द्वैत का भाव हट जाता है। क्योंकि जानने में 'आत्मसात्' हो जाने का भाव है। पृथक् रहकर कोई वस्तु आत्मसात् नहीं हो सकती, अतः द्वैत का अन्त होने पर ही किसी वस्तु को जानने की एकरूपता प्राप्त हो सकती है। ब्रह्म को जानना उसके साथ एकरूप हो जाना–अतः मानस में 'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई' शब्दों का प्रयोग कितनी सतर्कता से किया गया है, 'जानत' शब्द का प्रयोग इसका एक प्रमाण है।

संदर्भ

1. अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रः ब्रह्मविद्या ॥ सूत्र 4 ॥ ब्रह्मसूत्र, (शंकर-भाष्य)
   (1) पुरुष-तंत्र--जो प्राणी को क्रिया की स्वतन्त्रता दे—करना है या नहीं करना है।
   (2) वस्तु-तंत्र—जिसमें स्वेच्छा का कोई स्थान न हो।

श्रद्धा

मन की यह वृत्ति, "जगत् में नियंत्रण है तो उसका एक नियंत्रणकर्त्ता भी है"—आस्तिक बुद्धि कहलाती है, तथा प्राणी को आस्थावान् बनाती है। आस्था जड़ है, श्रद्धा उसका विकसित पुष्प। विश्वास वह डाली है जिसपर श्रद्धा का पुष्प पनपता है। इस प्रकार आस्था, श्रद्धा और विश्वास एक ही पौधे के तीन रूप हैं। ये तीनों अपने अस्तित्व के लिए एक-दूसरे पर आश्रित हैं।

निष्ठा व आस्था का पुष्पित रूप है श्रद्धा। अतः पुष्प श्रद्धा से अर्पित किये जाते हैं। यह श्रद्धा का पुष्प फल-रूप में, जिस पर श्रद्धा होती है, उस ध्येय की प्राप्ति करता है।

इस प्रकार श्रद्धा वह आलम्बन है जिसके आधार पर प्राणी अपने ध्येय तक पहुँचता है। अतः ध्येय की प्राप्ति के लिए श्रद्धा एक आवश्यक अंग ही नहीं, वरन् अनिवार्य है और वही उसकी परिणति है।

'सत्यवाक्य अवधारणम् सा श्रद्धा —।'

(1) अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥

(कठ उप०/23/13)

भावार्थ—'वह अवश्य है' —इस प्रकार निश्चयपूर्वक ग्रहण करना चाहिए; तत्त्व-भाव से भी उसकी सत्ता स्वीकार करनी चाहिए। वह अवश्य है, इस प्रकार निश्चयपूर्वक मानने वाले साधक के लिए परमात्मा का तात्त्विक रूप प्रत्यक्ष हो जाता है।

(2) अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धयाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजन्त ॥

(प्रश्न उप० 1/10)

भावार्थ—श्रद्धा से युक्त होकर तप व ब्रह्मचर्य तथा आत्म-विद्या के द्वारा परमात्मा की खोजकर वे प्राणी उत्तरायण द्वारा सूर्यलोक को जीत लेते हैं।

(3) तस्य श्रद्धैव शिरः ॥

भावार्थ—उस विज्ञानमय आत्मा का श्रद्धा ही सिर है।

(4) यदा वै तिस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिष्ठिञ्छ्रद्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति निष्ठां भगवो विजिज्ञास ॥ इति ॥ (छां० उप०, 7/21)

भावार्थ—जिस समय मनुष्य श्रद्धा करता है, उसी समय मनुष्य मनन करता है। बिना श्रद्धा किये कोई मनन नही करता। अतः हे भगवन्, श्रद्धा की ही जिज्ञासा करनी चाहिए।

(5) यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति ना निस्तिष्ठञ्श्रद्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति ॥ (छां०उप० 7/20)

भावार्थ—जिस समय पुरुष की निष्ठा होती है, तभी वह श्रद्धा करता है। अपितु निष्ठा करने वाला ही श्रद्धा करता है।

चौपाइयां—

(1) बिनु बिस्वास भगति नहि, तेहि बिनु द्रवहि न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ, जीव न लह बिश्रामु ॥
90 (क), (उ० का० ।)

असि बिचारि मतिधीर, तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु राम रघुबीर, करुनाकर सुंदर सुखद ॥ 90 (ख) (उ. कां.)॥

(2) संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहुब्राता ॥3॥
तव सरूप गारुड़ि रघुनायक। मोहि जिआयउ जन सुख दायक ॥
तव प्रसाद मम मोह नसाना। राम रहस्य अनूपम जाना
॥ 4 ॥ 93 (क) (उ० कां०)।

(3) भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥ 2 ॥
(बा० कां०)

(4) मोह गएँ बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग ॥ 61, उ० कां० ॥

(5) सुनि सब कथा हृदय अति भाई। गिरिजा बोली गिरा सुहाई ॥
नाथ कृपां मम गत संदेहा। राम चरन उपजेउ नव नेहा ॥ 4 ॥
मैं कृतकृत्य भयउँ अब, तव प्रसाद बिस्वेस।
उपजी राम भगति दृढ़, बीते सकल कलेस ॥ 129, उ० कां० ॥

(6) मुनि दुर्लभ हरि भगति नर, पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर, सुनहिं मानि बिस्वास ॥ 126, उ० कां०॥

(7) कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा ॥ 4/90 (क) (उ० कां) ॥

(8) अस निज हृदयँ विचारि, तजु संसय भजु राम पद।
सुनि गिरराज कुमारि, भ्रम तम रवि कर वचन मम ॥
(बा० कां०, 115)

(9) मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा ॥।॥
1/36, (अर० कां०)।

(10) जे श्रद्धा संबल रहित, नहिं संतन्ह कर साथ।
तिन्ह कहुँ मानस अगम अति, जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ ॥
(बा० कां०, 38)

(11) राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अविहित तव बानी।
अस संसय आनत उर माहीं, ग्यान बिराग सकल गुन जाहीं ॥ 3 ॥
सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना। मिटि गै सब कुतरक कै रचना ॥
भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती ॥
4/119, (बा० कां०)

(12) मुनि दुर्लभ हरि भगति नर, पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर, सुनहिं मानि बिस्वास ॥ 126 (उ० कां०) ॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभाव : प्रसीदति ॥ (कठोप०, 2/3/13)

वह अवश्य है इस प्रकार निश्चयपूर्वक उसके अस्तित्व का दृढ़ निश्चय करना चाहिए, तत्त्व-भाव से भी उसको स्वीकार करना चाहिए। इन दोनों प्रकारों में, 'वह अवश्य है,' इस प्रकार निश्चयपूर्वक परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करने वाले साधक के लिए परमात्मा का तात्त्विक स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है।

जिज्ञासु नचिकेता के हृदय में उठे भावों[1] को समझकर, श्री यमराज, जो मंत्र उन भावों के उत्तर में कहते है, उपर्युक्त मंत्र उन्हीं में से एक है। वास्तव में नचिकेता का यह भ्रम, तथा यमराज के मुख से उसके उत्तर-रूप में प्राप्त होने वाले ये मंत्र मानस के कथा-प्रसंगों में एक कड़ी जोड़ते हैं। इस प्रकार यह साम्य केवल एक चौपाई व मंत्र में न होकर पूरे कथा-प्रसंग का है।

'काकभुशुण्डि व गरुड़-सम्वाद' में 'यमराज व नचिकेता-सम्वाद' की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रकार मानस के उत्तर कांड में कठोपनिषद् का एक अंश[2] ही उतर आया है। जिस प्रकार अपने संदेह के निवारण के लिए नचिकेता यमराज के पास जाता है, उसी प्रकार अपने संदेह-निवारण के लिए गरुडजी काकभुशुण्डि के पास जाते हैं।

जिस प्रकार 'उद्दालक' (नचिकेता के पिता), जिनके पास पहले नचिकेता शंका-निवारण के लिए गया, व्यस्त हैं (विश्वजित् यज्ञ में); उसी प्रकार गरुड़जी, जिनके पास (शिव जी) पहले-पहले शंका-निवारण के लिए जाते हैं, व्यस्त हैं

(जान रहेउँ कुबेर गृह-रहिहु उमा कैलास ।।60।। मिलेहु गरुड़ मारग महँ मोही। कवन भाँति समुझावँ तोही ।। 2/61,(उ० कां०) जिस प्रकार उद्दालक नचिकेता को यमराज के पास भेजते हैं, उसी प्रकार शिवजी गरुड़ महाराज को काकभुशुण्डि के पास जाने का आदेश देते हैं।

गरुड़ व नचिकेता, दोनों ही जिज्ञासु थे और व्याकुल थे।

[नचिकेता 'कथम् तदनु विजानीयाम् ।। (कठोप०, 2।2।14)

गरुड़—उपजा हृदय प्रचंड बिषादा ।।3।58।।

'खेद खिन्न' ।।1।59।।

ब्याकुल गयउ देवरिषि पाहीं ।।2।59।।

परमातुर बिहंगपति ।।6।। (उ० कां०)

दोनों ही के मन में शंकाएँ हैं।[1]

दोनों ही दृढ़-संकल्प होकर गुरु-गृह में प्रवेश करते हैं। नचिकेता को जो यमराज के दर्शन तीन दिन बाद होते हैं, वह तीन दिनों का अवकाश गरुड़जी का तीन स्थान पर भटकने में निकल जाता है।[2]

जिस प्रकार नचिकेता से मिलकर यमराज प्रसन्न होते हैं।

('प्रेष्ठः' का सम्बोधन, तथा 'नचिकेतः त्वादृक् प्रष्टा नः भूयात्')[1]

उसी प्रकार काकभुशुण्डिजी, गरुड़जी को देखकर प्रसन्न होते हैं।

(नाथ कृतारथ भयउ मैं, तव दर्शन खगराज)।[2]

जिस प्रकार नचिकेता के स्वभाव व श्रद्धा से यमराज सोत्साह ब्रह्म-ज्ञान देने को प्रेरित होते हैं।

(नचिकेतसम् विवृतम् सद्यःमन्ये)।

(1) सत्यस्साक्षी अतः धीराः विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये।

(2) विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ।।

(कठोप०, 7/2/4)

'मैं नचिकेता को विद्या का अभिलाषी मानता हूँ।'

'तुमको बहुत-से लोभ भी नहीं लुभा सके।'

उसी प्रकार काकभुशुण्डि जी गरुड़ जी के स्वभाव व श्रद्धा से प्रभावित होकर राम-भक्ति का उपदेश देने को प्रेरित होते हैं।

(1) भयउ तासु मन परम उछाहा।

लाग कहैं रघुपति गुन गाहा ।।

(2) परम रहस्य मनोहर गावउँ।

जिस प्रकार यमराज परब्रह्म का परिपूर्ण ज्ञान नचिकेता को देते हैं, उसी प्रकार काकभुशुण्डि सविस्तार रामकथा का कथानक गरुड़जी को सुनाते हैं। दोनों के भ्रमों का समान रूप से निवारण होता है। नचिकेता का प्रश्न था—मृत्यु के पश्चात्

आत्मा का क्या होता है। (इदम विचिकित्सन्ति) तथा गरुड़जी का प्रश्न था कि श्रीराम क्या वास्तव मे परब्रह्म हैं ?

सो अवतार सुनहुँ जग माँही। देखेहुँ सो प्रताप कछु नाहीं ॥

दोनों के प्रश्नों में समानता है: मृत्यु के पश्चात् आत्मा का क्या होता है अर्थात् आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है ? दोनों ही अपने-अपने अभीष्ट का वास्तविक स्वरूप खोज रहे हैं।

इस शंका-समाधान के फलस्वरूप नचिकेता के प्रति यमराज ब्रह्म स्वरूप[6] का प्रतिपादन करते हैं; तथा मानस में गरुड़जी के प्रति काकभुशुण्डि श्रीराम में ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन करते हैं तथा राम-कथा की पुनरावृत्ति करते हैं।[7] जिस प्रकार कठोपनिषद् की परिसमाप्ति ब्रह्म-स्वरूप-प्रतिपादन से होती है; उसी प्रकार मानस की परिसमाप्ति भी श्रीराम के स्वरूप-प्रतिपादन से होती है। ब्रह्मस्वरूप-प्रतिपादन का कारण कठोपनिषद् में 'यमराज-नचिकेता संवाद' है, तो मानस में काकभुशुण्डि-गरुड-संवाद उसका कारण बना है।

जिस प्रकार नचिकेता के सम्मुख यमराज ब्रह्म-विद्या के अनधिकारियों के दोष—

(अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः ॥ (कठोप०, 1।2।5)
प्रमाद्यन्तम् बालम् वित्तमोहेन मूढम् ॥ (कठोप०, 1।2।6)

प्रदर्शित करते हैं, उसी प्रकार कागभुशुण्डि गरुड़जी के सम्मुख राम-भक्ति के अनधिकारियों के दोष गिना रहे हैं—

जे मति मलिन विषय बस कामी।
माया बस मति मन्द अभागी।
हृदय जमनिका बहु बिधि लागी ॥40॥
ते सठ हठ बस संयत करहीं ॥5॥
काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त ॥73॥[2]

थोड़ा ध्यान से देखा जाय तो अनधिकारियों के जो अवगुण यमराज व काक-भुशुण्डि अपने-अपने शिष्यों को गिना रहे हैं, उनमें भी बहुत साम्य है। उपनिषद् के **'अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः'** का भाव मानस में 'तमकूप' शब्द द्वारा व्यक्त हुआ है। वास्तव में 'तमकूप' शब्द 'अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः' के भाव को पूर्ण-रूप से वहन करता है, क्योंकि यदि अन्धे का मार्गदर्शक अन्धा ही हो, तो वह 'तम-कूप' में ही पड़ा रहेगा।

'साम्पराय न प्रतिभाति अयम् लोक परः न अस्ति' को मानस में 'नयन-दोष व दिसिभ्रम' कहकर व्यक्त किया है। जो जैसा है वह वैसा न दिख कर कुछ और दिखे तो इसे नयन-दोष कहा जाता है। 'साम्पराय न प्रतिभाति' द्वारा उपनिषद् का कथन है कि 'पर लोक नहीं सूझता' अर्थात् —सत्य (जो परलोक) है, वह असत्य

प्रतीत होता है। इस भाव को मानस ने 'सूर्य को पश्चिम से उगते हुए' (सो कह पच्छिम उपउ दिनेसा) उदाहरण से स्पष्ट किया है। असत्य में सत्य की प्रतीति होना पूर्व में पश्चिम देखना है।

उपनिषद् ने जिसको 'बालं प्रमाद्यन्तं' 'वित्तमोहेन मूढम्'[1] कहा है, मानस ने उसको 'माया बस मतिमंद अभागी' कहा है। 'वित्तमोह' तथा 'प्रमाद' माया-जनित अवगुण हैं, अतः मानस के 'मायावस' शब्द में 'प्रमाद्यन्तं' व 'वित्तमोहेन' का भाव-साम्य आ जाता है। वाक्य का 'मूढम्' शब्द मानस में 'मतिमंद' के रूप में आया है क्योंकि जिसकी मति मंद होती है, वही मूढ़ होता है।

यहाँ तक तो मानस व कठोपनिषद् के कथा-प्रसंग का साम्य था। परन्तु मानस के कथा-प्रसंग में कठोपनिषद् के कथा-प्रसंग से एक सूक्ष्म अन्तर है, जो उसको एक विशिष्ट स्थान प्रदान करता है। गरुड़जी के भ्रम-निवारण के पश्चात् काकभुशुण्डि अपने भ्रम की कथा गरुड़जी को सुनाते हैं—

जेहि विधि मोह भयउ प्रभु मोही।
सो सब कथा सुनावउँ तोही ॥1174॥ (उ० कां०)

यह बताते हैं कि उनका भ्रम-निवारण किस प्रकार हुआ। एक ही कथा-प्रसंग में भ्रम-निवारण की दूसरी अन्तर्कथा (आपबीती) देने से कथा-विषय की पुनरावृत्ति हुई है। इस पुनरावृत्ति में मानस के दो अभिप्राय हैं।

प्रथम अभिप्राय तो जन-साधारण का मनोबल यह दर्शाकर ऊंचा उठाना है कि जन-साधारण का ही मन भ्रम-ग्रसित नहीं होता, महापुरुषों के हृदय में भी इस प्रकार के भ्रम उठा करते हैं। उन संदेहों व भ्रमों पर विजय प्राप्त करके ही वे महापुरुष बनते हैं। यह संकेत है कि भ्रम व संदेह का मन में उठना स्वाभाविक है और उनका निवारण करना इष्ट-प्राप्ति का पुरुषार्थ है।

दूसरा कारण मनोवैज्ञानिक है। साधारण जन-समुदाय की अपरिपक्व बुद्धि शंकाओं तथा संशयों का आगार है, उनके हृदय में किसी विषय को उतारने के लिए, उस विषय की पुनरावृत्ति आवश्यक है।

इसी अभिप्राय की पूर्ति के लिए मानस में अन्तर्कथा की पुनरावृत्ति हुई है—वह अभिप्राय इस परिशिष्ट के रूप में प्राप्त दोहे में स्पष्ट है—

मुनि दुर्लभ हरिभगति नर, पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरन्तर, सुनहिं मानि विस्वास॥

(उ०कां०, 126)

कथा-प्रसंग-साम्य के पश्चात् अब चौपाइयों का भाव-साम्य देखते हैं। उपनिषद् का मंत्र[1] वही है जिसके आधार पर यम-नचिकेता संवाद में 'गरुड़-काकभुशुण्डि संवाद' का साम्य स्थापित किया गया था।

कठोपनिषद् के प्रस्तुत मंत्र के अर्थ का भाव है—(1) निश्चयात्मक रूप से

उसकी सत्ता को स्वीकार करना चाहिए। (2) 'वह अवश्य है' इस प्रकार निश्चयात्मक रूप से उसकी सत्ता में विश्वास करने से परमात्मा का तात्त्विक रूप प्रत्यक्ष हो जाता है।

० ०

साम्य के लिए प्रस्तुत चौपाइयां

(1) संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु व्राता ॥3॥
तव सरूप गारुड़ि रघुनायक। मोहि जिआयउ जनसुखदायक ॥
तव प्रसाद मम मोह नसाना। राम रहस्य अनूपम जाना ॥4।93॥
(उ० कां०)

उपनिषद्-भाव	मानस-भाव
(1) निश्चयात्मक रूप से भगवान् की सत्ता में विश्वास करना।	'संसय-सर्प' का डँसना तथा 'कुतर्क की दुःखद लहर का उठना' भगवान् के स्वरूप में निश्चयात्मक विश्वास होने के पूर्व की अवस्था है। "तव सरूप गारुड़ि रघुनायक। मोहि जिआयउ जन सुखदायक ॥" निश्चयात्मक रूप से भगवान् में विश्वास उत्पन्न करने के द्योतक हैं।
2. निश्चयात्मक विश्वास हो जाने पर परमात्मा का तात्त्विक रूप प्रत्यक्ष हो जाता है।	'तव प्रसाद मम मोह नसाना' भगवान् में अटल विश्वास हो जाने के फलस्वरूप 'राम रहस्य अनूपम जाना'—श्रीराम के अनुपम रहस्य का ज्ञान हुआ है। उपनिषद् में जिस प्रकार निश्चयात्मक विश्वास उत्पन्न हो जाने पर परमात्मा के तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान होता है, उसी प्रकार अटल विश्वास उत्पन्न हो जाने पर गरुड़जी को श्रीराम के अनुपम रहस्य का ज्ञान हुआ। इस स्थान पर चौपाई में प्रयुक्त 'रहस्य' शब्द विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'तत्त्वभाव' गुह्य होने से सदैव रहस्यमय माना जाता है, अतः यहाँ 'रहस्य' शब्द श्रीराम के तात्त्विक स्वरूप को इंगित करता है, तथा चौपाई को उपनिषद्-प्रकरण के समीप ले आता है।

(2) विनु विस्वासु भगति नहिं, तेहि विनु द्रवहि न रामु।
रामकृपा विनु सपनेहुँ, जीव न लह विश्रामु ॥90॥
(उ० कां०)

असि विचारि, मतिधीर, तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु राम रघुवीर, करुनाकर सुंदर सुखद ॥90 (ख)॥
(उ० कां०)

उपनिषद्-भाव	मानस-भाव
1. निश्चयात्मक रूप से भगवान् की सत्ता में विश्वास होना	'असि बिचारि मति धीर, तजि कुतर्क संसय सकल। भजहु राम रघुबीर, करुनाकर सुंदर सुखद'। 'कुतर्क' को व 'संशय' को तजकर भगवान् का भजन करना निश्चयात्मक आस्था प्रदान करता है।
2. निश्चयात्मक विश्वास होने पर भगवान् का तात्त्विक रूप प्रत्यक्ष हो जाता है।	'विनु विस्वास भगति नहि-तेहि बिनु द्रवहिन रामु' 'विना विश्वास के भक्ति नहीं हो सकती और विना भक्ति के भगवान् द्रवित नहीं होते।' जो ज्ञानी के लिए तत्त्व-दर्शन है, भक्त के लिए वही इष्टदेव का दर्शन है। उपनिषद् व मानस के प्रकरण एक ही भाव की अभिव्यक्ति कर रहे हैं, कि संशय-विहीन होकर निश्चयात्मक रूप से साधना करने से ज्ञानी को तत्त्व-ज्ञान होता है और भक्त को इष्ट दर्शन होता है।

० ०

(3) भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥2॥
(बा० कां०)

उपनिषद्-भाव	मानस-भाव
1. निश्चयात्मक रूप से भगवान् की सत्ता में विश्वास।	'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ'— भवानी व शंकर को श्रद्धा व विश्वास का रूप मानना, भगवान् में प्रगाढ़ श्रद्धा होने का द्योतक है। श्रद्धा, विश्वास इतना निश्चय दृढ़ है कि

	परमात्मा के स्वरूप में और उनके विश्वास के बीच कोई अन्तर नहीं है।
2. निश्चयात्मक विश्वास होने पर भगवान् का तात्त्विक रूप प्रकट हो जाता है।	'याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्'—जिन के बिना सिद्ध जन अपने हृदय में स्थित ईश्वर को नहीं देख सकते। भगवान् को हृदय में देखना उसका तात्त्विक रूप जानना है। भगवान् को हृदय में देखना भक्त की भाषा है; तथा भगवान् का तात्त्विक रूप जानना ज्ञान की भाषा है। निश्चयात्मक विश्वास के लिए अनिवार्य है। यह भाव दोनों में समान है।

० ०

(4) मुनि दुर्लभ हरि भगति नर, पावहि बिना प्रयास।
जे यह कथा निरन्तर, सुनहि मानि बिस्वास ॥126॥
(उ० कां०)

उपनिषद्-भाव	मानस-भाव
1. निश्चयात्मक रूप से भगवान् की सत्ता में विश्वास होना।	'जे यह कथा निरन्तर, सुनहिं मानि बिस्वास'—विश्वास मानकर कथा को सुनना, भगवान् की ओर संकेत करता है।
2 निश्चयात्मक विश्वास होने पर भगवान् का तात्त्विक रूप प्रकट होता है।	'मुनि दुर्लभ हरि भगति नर, पावहिं बिनहिं प्रयास'—मानस की इस शब्दावली से वस्तु के प्रकट होने का भाव स्पष्ट होता है, क्योंकि वस्तु का प्रकट होना स्वतः होता है।

० ०

'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।'

उपनिषद्-भाव	मानस-भाव
1. निश्चयात्मक रूप से भगवान् की सत्ता में विश्वास	— 'कि बिनु बिस्वास' क्या बिना विश्वास के भगवान् की प्राप्ति हो सकती है—अर्थात् बिना विश्वास के प्राप्ति नहीं

	हो सकती।
2. निश्चयात्मक विश्वास-- होने पर भगवान् का तात्त्विक रूप प्रकट होता है।	'कवनिउ सिद्धि' कौन-सी सिद्धि बिना विश्वास के प्राप्त होती है?

० ०

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठञ्श्रद्दधाति।
निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति ॥ छां० उप०, 7।20॥

भावार्थ— जिस समय पुरुष की निष्ठा होती है, तभी वह श्रद्धा करता है। या, निष्ठा करनेवाला ही श्रद्धा करता है।

चौपाई—

(i) मोह गये बिनु रामपद, होइ न दृढ़ अनुरागु ॥61॥ (उ० कां०)

मोह जाने के पश्चात् निष्ठा होती है, निष्ठा हो जाने पर रामचरणों में दृढ़ अनुराग का उत्पन्न होना ही 'श्रद्धा' है।

(2) सुनि सब कथा हृदय अति भाई। गिरिजा बोली गिरा सुहाई॥
नाथ कृपाँ मम गत संदेहा। राम चरन उपजेउ नवनेहा॥
मैं कृत कृत्य भयउँ अब, तव प्रसाद बिस्वेस।
उपजी राम भगति दृढ़, बीते सकल कलेस ॥29॥
(उ० कां०)

उपनिषद्-भाव	मानस-भाव
1. जिस समय पुरुष को निष्ठा होती है—	'नाथ कृपाँ मम गत संदेहा। राम चरन उपजेउ नवनेहा॥ संदेह के जाने से जिस 'नवनेह' की प्राप्ति हुई है, वही निष्ठा है। जब तक संदेह था, तब तक निष्ठा स्थापित नहीं हुई थी।
2. निष्ठा करने वाला ही श्रद्धा करता है। —	'मैं कृतकृत्य भयउँ अब, तव प्रसाद बिस्वेस। उपजी राम भगति दृढ़, बीते सकल कलेस॥' 'दृढ़ राम-भगति' का उपजना ही 'विश्वास का मन में उदय होना' है।

० ०

राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अविहित तव बानी।।
अस संसय आनत उर माहीं। ग्यान बिराग सकल गुन जाहीं।।
सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना। मिटि गै सब कुतरक कै रचना।।
भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती।।4/19।।
(बा० कां०)

भावार्थ हे पार्वती! वही परमात्मा रामचन्द्रजी हैं। उनमें भ्रम है, ऐसा कहना अनुचित है। इस प्रकार का संदेह मन में लाते ही मनुष्य के ज्ञान, वैराग्य आदि सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। शिवजी के भ्रम-निवारक वचन सुनकर पार्वतीजी के कुतर्कों की रचना मिट गयी। श्रीराम के चरणों में दृढ़ प्रीति हुई। जिसका होना संभव नहीं, ऐसी मिथ्या कल्पना जाती रही।

उपनिषद्-भाव	मानस-भाव
1. जब पुरुष में निष्ठा होती है...	निष्ठा के पूर्व की अवस्था — 'राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अविहित तव बानी।। अस संसय आनत उर माहीं। ग्यान बिराग सकल गुन जाहीं।।' निष्ठा की प्राप्ति — 'सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना। मिटि गै सब कुतरक कै रचना।। 'दारुन असंभावना बीती' कुतर्क व संशय के नाश से निष्ठा उत्पन्न होती है।
2. निष्ठा करने वाला श्रद्धा करता है।	श्रद्धा की उत्पत्ति— 'भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती' सती की शंका—निष्ठा व श्रद्धा की कमी—ही 'रामचरितमानस' की रचना का माध्यम बनी, अतः यहां महात्मा तुलसीदास पार्वती को जन-साधारण का प्रतीक मानकर स्वयं शिव-भक्ति व ज्ञान की आधारशिला—श्रद्धा व विश्वास—जनसाधारण के हृदय में स्थापित कर रहे हैं।

यदा वै श्रद्धधात्यथमनुते नाश्रद्धधन्मनुते श्रद्धधदेव मनुते श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ।। 7।19।।

जिस समय मनुष्य श्रद्धा करता है, उसी समय मनुष्य मनन भी करता है।

बिना श्रद्धा किये कोई मनन नहीं करता। अतः श्रद्धा की जिज्ञासा करनी चाहिए।

(1) जे श्रद्धा संबल रहित, नहिं संतन्ह कर साथ।
तिन्ह कहुँ मानस अगम अति, जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ ॥38॥
(बा० कां०)

(2) मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा ॥1/36॥
(अर० कां०)

उपर्युक्त चौपाइयों में प्रथम चौपाई तो स्पष्ट रूप से कह रही है कि जिसके पास श्रद्धा का संबल नहीं है, वह मानस को नहीं समझ सकता। चौपाई का अंश उपनिषद्-भाव पर प्रकाश डालता है : जब श्रद्धा होती है, तभी प्राणी मनन करता है और जब वह मनन करता है, तभी उसको विषय का ज्ञान होता है। अतः यदि श्रद्धा नहीं है तो मानस का ज्ञान नहीं हो सकता—उपनिषद् के भाव को लेकर यही सिद्ध होता है।

द्वितीय चौपाई तो वेद-वाक्य के ही रूप में आयी है तथा साक्षात् भगवान् के श्रीमुख से आने के कारण विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इस चौपाई का निष्कर्ष है कि यह वेद-वर्णित कथन है कि पाँचवीं भक्ति 'मम दृढ़ बिस्वासा' व 'मंत्र-जाप' है।

अतः दोनों चौपाइयाँ श्रद्धा व विश्वास का प्रतिपादन कर रही हैं।

संदर्भ

1. तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ कठोप०, 2/2/14 ॥
वह अनिर्वचनीय परम सुख परमात्मा ही है ऐसा ज्ञानीजन मानते हैं, उसको किस प्रकार से मैं भलीभाँति समझूँ? क्या वह प्रकाशित होता है या अनुभव में आता है?
2. (द्वितीय अध्याय—द्वितीय तथा तृतीय वल्ली।
3. नचिकेता की मन की भावना (मंत्र 14 ॥ अ० 2 ॥ व० 2 क० 3) समझकर यमराज उत्तर देते हैं (मंत्र 15 ॥ अ० 2 ॥···मंत्र 18 ॥ व० 2 तृतीय अध्याय) नचिकेता के मन की भावना समझकर यमराज के उत्तर में ही उपनिषद् समाप्ति पर आ जाता है।

गरुड़जी की शंका—प्रभु बंधन समुझत बहु भाँती।
करत बिचार उरग आराती ॥ उ० कां० 3 । 58 ॥
ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा ॥
सो अवतार सुनेउँ जग माँहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाँहीं।

भव बंधन ते छूटहिं नर जपि जा कर नाम ।
खर्ब निसाचर बांधेउ, नागपास सोइ राम ॥ 58 ॥
नाना भाँति मनहिं समुझावा । प्रगट न ग्यान हृदयँ भ्रम छावा ।
खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई । भयउ मोहबस तुम्हरिहिं नाईं ॥ 1 ॥

4. (1) व्याकुल गयउ देवरिषि पाहीं । कहेसि जो संसय निज मन माहीं ॥
चतुरानन पहिं जाहु खगेसा । सोई करेहु जेहि होइ निदेसा ॥
(4/59 उ. कां.)

(2) तब खगपति बिरंचि पहिं गयऊ । निज संदेह सुनावत भयऊ ॥
बैनतेय संकर पर जाहू । तात अनत पूछहु जनि काहू ॥

(3) परमातुर बिहंगपति, आयउ तब मो पास…
…तहँ रह काकभुसुंडि सुसीला…
जाइ सुनहु तहँ हरि गुन भूरी । होइहि मोहजनित दुख दूरी ॥
(3।62, उ. कां)

(4) गयउ गरुड़ जहँ बसइ भुसुंडा…
माया मोह सोच सब गयऊ… ॥ 1।63 ॥

5. नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
याज्त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥
(कठोप. 1।2।9॥)

भावार्थ—हे प्रिय वत्स ! तुम्हारी-जैसी बुद्धि तर्क से नहीं मिल सकती; तुम उत्तम धैर्यवाले हो ! हे नचिकेता, तुम्हारे-जैसे ही पूछनेवाले हमें मिला करें । यह ध्यान रखने पर कि दोनों प्रश्नकर्त्ता भिन्न-भिन्न मार्ग के हैं तथा अपने-अपने मार्ग के अनुकूल ही एक-से प्रश्न पूछ रहे हैं तो प्रश्न का भाव स्पष्ट हो जाता है तथा समान दिखता है ।

6. नाथ कृतारथ भयउँ मै तव दरसन खगराज ।
आयसु देहु सो करौं अब प्रभु आयहु काज ॥ 63 ॥ (क) (उ. कां.)

भावार्थ—हे नचिकेता ! वेदों द्वारा गुण-वर्णित, भोग-राशि, जगत् का आधार, यज्ञ का चिरस्थायी फल तथा निर्भय एवं दीर्घकालीन सुख देनेवाले वर्ग को भी तुमने त्याग दिया है । अतः तुम धीर हो (बहुत ही बुद्धिमान् हो)।

7. कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥
(कठोप. 1।2।13)

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥
(कठोप. 1।2।11)

भावार्थ—मनुष्य धर्ममय उपदेश को सुनकर उसे भलीभांति ग्रहण करके, विवेक से उस पर विचार करके, आत्मतत्त्व का अनुभव कर, आनन्दमय-स्वरूप में मोद करता है। हे नचिकेता, तुम्हारे लिए मैं परमधाम का द्वार खुला हुआ मानता हूं।

8. (1) सुनत गरुड के गिरा विनीता। सरल सुप्रेम सुखद सुपुनीता॥
भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहै रघुपति गुन गाहा॥
(3।64 उ. कां.)

(2) राम कृपा भाजन तुम्ह ताता। हरि गुन प्रीति मोहि सुखदाता॥
तातें नहि कछु तुम्हहिं दुरावहुं। परम रहस्य मनोहर गावउं॥
(2।74 उ. कां.)

9. यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥
(कठोप. 1।1।29)

भावार्थ--हे यमराज! जिस आत्मतत्त्व-सम्बन्धी महान् ज्ञान के सम्बन्ध में लोग यह शंका करते हैं कि मरने के बाद आत्मा का अस्तित्व रहता है या नहीं, उसके विषय में जो आपका निर्णयात्मक अनुभूत ज्ञान हो, मुझे कृपा कर उसीका उपदेश दीजिये।

10. प्रथम अध्याय द्वितीय वल्ली के 15वें मंत्र से उपनिषद् की परिसमाप्ति तक।

11. 64 चौ० उ० कां० से राम-कथा की पुनरावृत्ति 68वीं चौपाई उ० कां० तक। ब्रह्म-स्वरूप-प्रतिपादन प्रायः मानस परिसमाप्ति तक।

12. अविद्यामन्तरे वर्तमानः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
(कठोप. 1।2।5)

'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' —एक अन्धा दूसरे अन्धे को ले जाय (मार्ग दिखाये)।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
(कठोप. 1।2।6)

"साम्पराय न प्रतिभाति अयम् लोक परः न अस्ति।"—उसे परलोक नहीं सूझता। वह समझता है कि यह लोक ही सब-कुछ है, इसके अलावा और कुछ नहीं है।

13. जे मति मलिन विषय बस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी॥
नयन दोष जा कहँ जब होई। पीत बरन ससि कहुँ कह सोई॥
जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा॥2॥

नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोह बस आपुहि लेखा ॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं ग्रहादी। कहहिं परस्पर मिथ्यावादी ॥3॥
हरि विषइक अस मोह बिहंगा। सपनेहुँ नहिं अग्यान प्रसंगा ॥
माया बस मतिमंद अभागी। हृदयँ जमनिका बहु बिधि लागी ॥
ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अग्यान राम पर धरहीं ॥5॥
काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुख रूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप ॥ 73 (क) ॥

14. 'बालं प्रमाद्यन्तं'—निरन्तर प्रमाद करने वाला अज्ञानी।
'वित्तमोहेन मूढम्'—सम्पत्ति के मोह से मोहित मूढ़।
15. अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ कठोप. 2।3।13 ॥
16. मेरे नाम में दृढ़ विश्वास व मेरा जाप—यह वेद-वर्णित पाँचवीं भक्ति है।

'नेति-शैली' का संदेश

ब्रह्म के स्वरूप प्रतिपादन के दो रूप हैं। एक रूप है, प्रतिपाद्य को प्रतिपादन शैली द्वारा प्रतिपादित करना; दूसरा रूप है प्रतिपाद्य को निषेध-शैली द्वारा प्रतिपादित करना। 'नेति'-(न+इति) द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन इस दूसरी शैली में आता है।

इति (वह ऐसा है) इस रूप से जो प्रतिपादन किया जाता है, वह बहुधा एकांगी हो जाता है। उसको सर्वांगी बनाने के लिए 'न+इति' (नेति) रूप से निरूपण करने की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ---परब्रह्म महान् हैं, ब्रह्म निरूपण इस रूप में करने पर ब्रह्म केवल महान् ही है, ऐसी धारणा मन में बन सकती है। यह धारणा एकांगी है क्योंकि परब्रह्म महान् भी है और सूक्ष्म भी। अतः 'नेति' द्वारा इस भाव का निरूपण करना आवश्यक हो जाता है कि परब्रह्म 'न ऐसा' है और 'न ऐसा'— न महान् है, न सूक्ष्म। यह 'न ऐसा' (नेति) कहना ही निषेध द्वारा परब्रह्म का प्रतिपादन करना है।

इस प्रकार का निषेधात्मक चित्रण अध्यात्म-साहित्य का एक अनिवार्य अंग है, क्योंकि इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य होने के कारण परब्रह्म के स्वरूप के यथार्थ चित्रण का भार केवल शब्दों पर पड़ता है। शब्दों में इतनी क्षमता नहीं होती कि वे पारमार्थिक वस्तु को प्रतिलक्षित कर सकें। उनकी उत्पत्ति व्यावहारिक जगत् में होती है और वे व्यावहारिक वस्तु को ही व्यक्त कर सकने की क्षमता रखते हैं। व्यावहारिक जगत् के शब्दों से जब पारमार्थिक वस्तु का स्वरूप दिग्दर्शित करना होता है तो उनकी अभिव्यक्ति की रूप-रेखा इस दृष्टिकोण से करनी पड़ती है कि वे अधिक-से-अधिक अर्थ दे सकें। इसके पश्चात् भी वाच्यार्थ होने के कारण शब्द अपर्याप्त रह जाते हैं और लक्षणा का प्रयोग करना पड़ता है।

(1) ए एव नेति नेतीति व्याख्यातं विह्णुते यतः।
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशते ॥ 26 ॥

(माण्डूक्य कारिका, अद्वैत-प्रकरण)

ग्राह्य न होने के कारण आत्मा को को 'नेति-नेति' कहकर पुकारते है
(2) एव नेति नेत्यात्मा गृह्यो ।। (बृह० उप० 4।2)
—'नेति-नेति' करके वर्णित किया हुआ आत्मा अग्राह्य है।

चौपाइयां—

(1) मुनि जेहि ध्यान न पावहिं, नेति नेति कह वेद।
कृपा सिन्धु सोइ कपिन्ह सन, करत अनेक विनोद ।।

(2) निगम नेति सिव ध्यान न पावा। माया मृग पाछे सो धावा ।।
(अर० कां०, 6।27)

(3) सो नयन गोचर जासु गुन नित नेति कहि श्रुति गावहीं ।। (कि० कां. 10)

(4) निगम 'नेति' सिव अन्त न पावा ।। (बा० कां०, 203)

(5) महिमा निगम नेति कहि गाई। अतुलित बल प्रताप प्रभुताई ।।
(उ० कां०, 124)

(6) नेति नीति जेहि वेद निरूपा। निजानन्द निरुपाधि अनूपा ।।
संभु विरंचि विष्णु भगवाना। उपजहि जासु अंस तें नाना ।।
(बा० कां०, 144)

(7) कहहु नाथ सुन्दर दोउ बालक। मुनिकुलतिलक कि नृपकुलपालक ।।
ब्रह्म जो निगम-नेति कहि गावा। उभय वेष धरि की सोइ आवा ।।
(बा० कां०, 1।210)

(8) राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा ।।
सकल विकाररहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहि वेदा ।।
(अयो० कां० 4।93)

(9) राम सरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धिपर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह ।। 126 अयो० कां०

(10) मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत विमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं ।।
(बा० कां०, 5।51)

साम्य—

जिस प्रकार परब्रह्म के स्वरूप-प्रतिपादन के लिए उपनिषदों ने 'नेति' की निषेध-शैली को अपनाया है, उसी प्रकार मानस ने भी श्रीराम के ब्रह्म-स्वरूप की स्थापना करने के लिए इस शैली को अपनाया है। सती[1] व पार्वती[2] की शंका वह पृष्ठभूमि प्रदान करती है। जिसके समाधान-हेतु मानस निषेध शैली का उपयोग कर, श्रीराम में परब्रह्म-स्वरूप का निरूपण, उपनिषदों के अनुरूप कर सकी

है। वास्तव में सती व पार्वती की शंकाएं ? जन-साधारण की शंकाएं हैं। सती व पार्वती कथा-प्रसंग में इन शंकाओं को प्रकट करने का एक माध्यम मात्र है। जन-साधारण ही बार-बार शंका-ग्रसित हो जाता है कि यह नर-लीला करने वाले श्रीराम वास्तव में नारायण हैं या केवल एक नर ही हैं ? इन प्रश्नों के प्रसंग से श्रीराम के 'नारायण परब्रह्म-स्वरूप का प्रतिपादन मानस, औपनिषदिक रीति से कर रही है।[1]

पार्वतीजी का प्रश्न के रूप में 'श्रुति सिद्धांत निचोरि' का उत्तर चाहना इस बात का प्रमाण है कि मानस ने श्रुति व सिद्धान्त-प्रमाणित 'ब्रह्म-स्वरूप' का प्रतिपादन किया है। इस श्रुति-सिद्धान्त-प्रमाणित स्वरूप-निरूपण में औपनिषदिक शैली भी अपनायी गयी है, यह यहाँ प्रमाणित हो गया है।

संदर्भ

1. "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" ।। (तै. उ. 2।4।1)
   (जहां मन के सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है।)
2. शब्दप्रवृत्तिहेतुजात्यादिधर्मरहितत्वात्" ।
   (क्योंकि वह शब्द की प्रकृति के हेतु-भूत जाति-धर्मों से रहित।)
3. ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
   सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद ।। (बा. कां. 50)
4. जौं मो पर प्रसन्न सुखरासी। जानिअ सत्य मोहि निज दासी ।।
   तो प्रभु हरहु मोर अग्याना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना ।।
   (बा. कां. 1।108)

   प्रभु जे मुनि परमारथवादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी ।।
   सेस सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन-गाना ।।
   तुम्ह पुनि राम राम दिन-राती। सादर जपहु अनंग आराती ।।
   राम सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई ।।4।।
   जौं नृप-तनय त ब्रह्म किमि, नारि बिरहँ मति भोरि।
   देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि ।।
   (बा. कां. 108)

   जौ अनीह ब्यापक बिभु कोऊ। कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ ।।
   अग्य जानि रिस उर जनि धरहू। जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू ।।1।।
   मैं बन दीख राम प्रभुताई। अति भय बिकल न तुम्हहि सुनाई ।।
   तदपि मलिन मन बोधु न आवा। सो फलु भली भाँति हम पावा ।।2।।

अजहूँ कछु संसयँ मन मोरें। करहु कृपा विनवउँ कर जोरें॥
प्रभु तव मोहि वहु भाँति प्रवोधा। नाथ सो समुझि करहु जनि क्रोधा॥
तव कर अस विमोह अव नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं॥
कहहु पुनीत राम गुन गाथा। भुजग राज भूषन सुरनाथा॥ 4॥

5. वंदउँ पद धरि धरनि सिरु, विनय करउँ कर जोरि।
वरनउँ रघुवर विसद जसु, श्रुति सिद्धांत निचोरि॥ वा. कां. 109॥

भक्ति

ज्ञान के 'उपासना-अंग' का भक्ति से सम्बन्ध है। उपासना में समर्पण की भावना 'भक्ति' कहलाती है। समर्पण के नवरूप 'नवधा भक्ति' के नाम से जाने जाते हैं। प्रेम का उच्च स्वरूप ही भक्ति है।

भक्ति में, हृदय की व्याप्त भावनाओं को बदल देने की सामर्थ्य है। अतः भक्ति अन्तःकरण की शुद्धि का प्रमुख साधन है। शुद्ध अन्तःकरण में भगवत्कृपा-स्वयं ही पल्लवित हो उठती है।

आसक्ति व प्रेम प्रत्येक संसारिक हृदय में व्याप्त है। उसी प्रेम पर आधारित होने के कारण सर्व-सुलभता, सर्व-सुगमता तथा सर्व-हृदय-व्यापकता इसके गुण हैं। इन्हीं गुणों के कारण मानस ने भक्ति को अपनाया है। तथा इसी कारण भक्ति को इतनी प्रधानता दी है, कि जनसाधारण अपने-आप ही, अपनी-अपनी सांसारिक आसक्ति व प्रेम को उच्चत्तर व श्रेयतर रूप देकर बिना (किसी अन्य आलम्बन के ही) अपने को अध्यात्म-साधन के योग्य बना सकें।

त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद् के पांचवें एवं आठवें अध्याय से, मानस के उत्तरकांड की भक्ति-सम्बन्धी चौपाइयों के मध्य सुन्दर साम्य स्थापित होता है। उपनिषद्-प्रकरण व भक्ति-सम्बन्धी चौपाइयों का तारतम्य भी समान है।

भगवन् कथं जीवानामनादि संसारभ्रमः। तन्निवृत्तिर्वा कथमिति। कथं मोक्ष-साधनं कथमिति। को वा मोक्षोपायः। कीदृशं मोक्षस्वरूपम्। का वा सायुज्य-मुक्तिः। एतत्सर्वं तत्त्वं कथनीयमिति ॥ त्रिपाद० उप०, अ० 5 ॥

भावार्थ—जीवों का अनादि संसार-रूप भ्रम किस प्रकार का है? और उसकी निवृत्ति कैसे होती है? मोक्ष के मार्ग का स्वरूप, साधन, तथा उपाय कैसा है? तथा सायुज्य मुक्ति क्या है? कृपाकर यह सब तत्त्वतः वर्णन करें!"

उपनिषद् का यह गुरु-शिष्य-संवाद मानस में भी इसी भाव (गुरु-शिष्य-भाव) के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। मानस में लक्ष्मण जी एक शिष्य रूप में श्रीराम से

इसी प्रकार से प्रश्न पूछते हैं । मानस व उपनिषद् प्रकरण का साम्य नीचे अंकित है—

एक बार प्रभु सुख आसीना । लछिमन बचन कहे छलहीना ॥
सुर नर मुनि सचराचर साईं । मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं ॥
मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा । सब तजि करौं चरन रज सेवा ॥
कहहु ग्यान बिराग अरु माया । कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया ॥
ईस्वर जीव भेद प्रभु, सकल कहौ समुझाइ ।
जाते होइ चरन रति, सोक मोह भ्रम जाइ ॥ (अर० कां०, 14)

साम्य—

(1) उपनिषद्-काल में गुरु के सुखासीन भाव से बैठने के पश्चात् ही शिष्य प्रश्नकर्त्ता के रूप से गुरु के सम्मुख आता था । यहां भी हम वैसा ही देखते हैं । श्रीराम के सुखासीन होकर बैठने के पश्चात् ही लक्ष्मण शिष्य-रूप में उनसे प्रश्न करते हैं ।

(2) उपनिषद्-काल में गुरु के सम्मुख कपट-भाव रखना शिष्य का दोषपूर्ण व्यवहार माना जाता था । यहाँ लक्ष्मण एक प्रश्नकर्त्ता शिष्य के रूप में श्रीराम के सम्मुख प्रस्तुत हैं अतः 'लछिमन बचन कहे छलहीना' की अर्धाली श्रीराम व लक्ष्मण के गुरु-शिष्य-भाव को स्थापित करती है । यह शब्द गुरु-शिष्य-भाव को प्रधानता देता है तथा भ्राता-भाव को इस समय गौण करता है ।

(3) शिष्य गुरु में परमेश्वर[1] का रूप देखता है । अतः राम को भ्राता रूप में न देखकर, शिष्य-रूप लक्ष्मण श्रीराम को, 'सुर नर मुनि सचराचर साईं' के रूप में देखते हैं । "मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं" में 'प्रभु' शब्द उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है । लक्ष्मण भ्राता-भाव के स्थान पर श्रीराम को गुरु-भाव में देख रहे हैं तथा उनमें गुरु का वह ब्रह्म-रूप देख रहे हैं जो औपनिषदिक काल में शिष्य-गुरु में देखा जाता था ।

(4) गुरु से प्रश्न पूछते समय जो दूसरा गुण शिष्य में होना चाहिए, वह है विनम्रता । 'मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा । सब तजि करौं चरन रज सेवा' में लक्ष्मण-रूपी शिष्य का विनम्र-भाव दिग्दर्शित होता है । इस अर्धाली से लक्ष्मण के शिष्य-भाव की स्थापना होती है । गृह-त्याग कर निरन्तर श्रीराम की सेवा करके लक्ष्मण ने शिष्य-समान प्रश्न करने की योग्यता प्राप्त की है । सदैव रौद्ररूप में प्रकट होने वाले लक्ष्मण जी को करने की योग्यता प्राप्त की है । सदैव रौद्र रूप में प्रकट होनेवाले लक्ष्मणजी को इस प्रकार शिष्य-भाव से प्रश्नकर्त्ता के रूप में देखकर, एक पाठक कुछ आश्चर्य-चकित सा रह जाता है । इस विषय पर प्रश्नकर्त्ता के रूप में अन्य पात्र भी प्राप्त हो सकते थे, किंतु लक्ष्मण को ही इसका श्रेय क्यों दिया

गया। इसका कारण है निष्कपट सेवा का श्रेय, जो शिष्य के लिए आवश्यक है, वह केवल लक्ष्मण रूप पात्र में ही प्राप्त है।[2] इस प्रकार लक्ष्मण के स्वरूप में पूर्ण-रूप से शिष्य-स्वरूप की स्थापना करके ही मानस-रचयिता ने उनको शिष्य की भाँति प्रश्नकर्त्ता के रूप में चुना है। जिस प्रकार उपनिषद्-प्रकरण में प्रश्न-कर्त्ता एक शिष्य है, उसी प्रकार मानस में लक्ष्मण शिष्य के गुण धारण करके शिष्यरूपेण ही प्रश्न कर रहे हैं।

(5) उपनिषद्-प्रकरण में प्रश्न का भावार्थ है--[3] अनादि संसार-भ्रम किस प्रकार का है? उसकी निवृत्ति कैसे होती है? मोक्ष के मार्ग का स्वरूप कैसा है? मोक्ष का साधन क्या है? मोक्ष का उपाय क्या है? मोक्ष का स्वरूप क्या है? तथा सायुज्य क्या है? कृपया यह सब तत्त्व वर्णन करें।'

मानस में लक्ष्मण जी जो प्रश्न कर रहे हैं, वे भी ऐसे ही हैं--

'कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया॥

ईस्वर जीव भेद प्रभु, सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति, सोक मोह भ्रम जाइ॥

(अर० कां०, 1)

लक्ष्मण जी का प्रश्न है—ज्ञान, विराग और माया ये क्या हैं? भक्ति क्या है? ईश्वर व जीव क्या है? इन सबका भेद मुझको समझाकर कहिये, जिससे कि आपके चरणों में मेरी प्रीति हो तथा मेरा मोह व भ्रम नष्ट हो।'

उपर्युक्त प्रश्नों के साम्य में निम्नांकित विषय उल्लेखनीय हैं—

(क) वाक्य में जिस उद्देश्य से प्रश्न किये गये हैं, वह है शिष्य द्वारा संसार के मोह व भ्रम से मन को दूर करना। यह उद्देश्य प्रश्नों में प्रेरणा रूप से आया है। शिष्य के हृदय की, 'संसार के मोह व भ्रम से दूर होने की प्रेरणा, उसको मुक्ति सम्बन्धी प्रश्न पूछने के लिए बाध्य कर रही है। अतः यह प्रेरणा प्रश्न का निहित-भाव है। मानस जनहिताय भाव से लिखी गयी है। जन समुदाय में निहित-भाव समझने की शक्ति नहीं होती, अतः मानस में लक्ष्मण निहित भाव को स्पष्ट कर कहते हैं, "जाते होइ चरन रति, **सोक मोह भ्रम जाइ।**"

(ख) उपनिषद् ज्ञान-ग्रन्थ हैं, अतः प्रश्न ज्ञान-सम्बन्धी मोक्ष के प्रति है—मोक्ष का उपाय क्या है? मोक्ष का साधन व स्वरूप क्या है? आदि। रामचरित-मानस भक्ति-सम्बन्धी ग्रन्थ है, अतः ज्ञान-विज्ञान, ईश्वर-जीव आदि प्रश्नों के बीच भक्ति-सम्बन्धी प्रश्न भी है: वह भक्ति क्या है जिसके कारण आपकी दया प्राप्त होती है?[1]

(ग) मानस की चौपाइयों में उपनिषद्-वाक्य के समस्त प्रश्न आ जाते हैं—

वाक्य प्रश्न—

मोक्ष का मार्ग क्या है? —चौपाइयाँ—ज्ञान, वैराग्य और माया को समझना ही मोक्ष का मार्ग है। (अतः कहहु ज्ञान विराग अरु माया) प्रश्न का रूप है।

मोक्ष का स्वरूप क्या है ?—ईश्वर-जीव-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान मोक्ष का स्वरूप है—ईश्वर जीव भेद प्रभु, सकल कहौ समुझाइ।

मोक्ष का उपाय क्या है ?—'चरन-रति' जिसके फलस्वरूप संसार के भ्रम व शोक का नाश होता है (जातें होइ चरन रति, सोक मोह भ्रम जाइ)। भक्ति-ग्रन्थ होने के नाते मानस में ब्रह्म-साधना के स्थान पर 'चरनरति' का प्रयोग किया गया है।

मोक्ष का साधन क्या है ?—'भक्ति' (कहहु सो भगति करहु जेहि दाया)।

(6) उपनिषद्-वाक्य व चौपाई, दोनों ही सायुज्य मुक्ति चाहते हैं। उपनिषद् 'का वा सायुज्यमुक्तिः ?' के भाव को मानस भक्ति-रस में सानकर पूछती है—'ईश्वर जीव भेद प्रभु, सकल कहहु समुझाइ। जाते होइ चरन-रति, सोक मोह भ्रम जाइ।' 'चरन-रति' की परिणति सायुज्य मुक्ति में होती है। मीरा तथा चैतन्य महाप्रभु आदि परम भक्त इसी के उदाहरण हैं।

(7) उपनिषद् एवं रामचरितमानस, दोनों ही के शिष्य पात्र मोक्ष की अभिलाषा से प्रश्न कर रहे हैं। दोनों में ही गुरुजन अपने शिष्यों के प्रति 'अविद्या तथा विद्या' का प्रतिपादन करते हैं।

o o o

"श्रूयतां सावधानेन······

अहमज्ञः किञ्चिज्ज्ञोऽहमहं जीवोऽहमत्यन्तदुःखाकारोऽहमनादिसंसारीति। भ्रमवासनाबलात्संसार एव प्रवृत्तिस्तन्निवृत्त्युपायः कदापि न विद्यते

त्रिपाद्विभूति उप०, अध्याय 5॥

भावार्थ—मैं अज्ञानी हूँ, मैं अल्पज्ञ हूँ, मैं जीव हूँ, मैं अनन्त दुःखों का निवास हूँ। मैं अनादि काल से जन्म-मरण रूप संसार में पड़ा हुआ हूँ। इस प्रकार के भ्रम की वासना के कारण संसार में ही प्रवृत्ति होती है। इसकी निवृत्ति का उपाय कदापि नहीं है।

चौपाइयाँ—

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया॥ 1॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥ 2॥

एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा । जा बस जीव परा भव कूपा ॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें । प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें ॥ 3 ॥
ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं । देख ब्रह्म समान सब माहीं ॥
कहिअ तात सो परम बिरागी । तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ॥ 4 ॥
माया ईस न आपु कहुँ, जान कहिअ सो जीव ।
बंध मोच्छप्रद सर्वपर, माया प्रेरक सीव ॥
(अर० कां०, 15)

साम्य--

1. प्रारंभ में जिस प्रकार 'श्रूयतां सावधानेन' कहकर उपनिषद् में गुरु-कथन प्रारंभ होता है, उसी प्रकार 'सुनहु तात मति मन चित लाई' कहकर मानस में इस वार्त्ता का श्रीगणेश होता है ।

देखा जाय तो 'सुनहु तात मति मन चित लाई' 'श्रूयतां सावधानेन' की व्याख्या है । 'सावधान' शब्द का अर्थ है, मति, मन और चित्त को एकाग्र करके सुनना । मानस की चौपाई 'सावधानेन' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करके लिख रही है—तात! मति मन चित्त लाइ सुनो ।

उपर्युक्त उद्धृत चौपाइयों में त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद् के तृतीय व चतुर्थ अध्याय का सारांश प्रस्तुत किया गया है । अब उसी उपनिषद् के पाँचवें अध्याय का भक्ति-अंश मानस से साम्य स्थापित करता है ।

सर्वबन्धाः प्रविनश्यन्ति । श्रेयोविघ्नाः सर्वे प्रलयं यान्ति । सर्वाणि श्रेयांसि स्वयमेवायान्ति । यथा जात्यन्धस्य रूपज्ञानं न विद्यते तथा गुरूपदेशेन विना कल्पकोटिभिस्तत्त्वज्ञानं न विद्यते । तस्मात्सद्गुरु कटाक्षलेशविशेषेणाचिरादेव तत्त्वज्ञानं भवति । यदा सद्गुरुकटाक्षो भवति तदा भगवत्कथाश्रवणध्यानादौ श्रद्धा जायते ॥ (त्रिपाद्विभूति उप०, 5)

ततो दृढतरशुद्धसात्त्विकवासनया भक्त्यतिशयो भवति···सर्वाणि जगन्ति नारायणमयानि प्रविभान्ति···नारायणव्यतिरिक्तं न किंचिदस्ति···अस्य महापुरुषस्य क्वचित्क्वचिदीश्वर साक्षात्कारोभवति ततो भगवज्ज्ञानपूर्वकं हृदयकमले व्यवस्थितमात्मानम्···त्रिपादविभूति उप०, अ०5॥

भावार्थ – तब निर्मल होकर अन्तःकरण सत्गुरु का कृपा-कटाक्ष चाहता है जिससे सर्वबन्धन नष्ट हो जाते हैं । श्रेय के सभी विघ्न विनष्ट हो जाते हैं । सभी श्रेय (कल्याणकारी गुण) स्वतः आ जाते हैं । जैसे जन्मांध को रूप का ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार गुरु के उपदेश के बिना करोड़ों कल्पों में भी तत्त्व-ज्ञान नहीं होता । इसलिए सत्गुरु की कृपा-कटाक्ष के लेश से अविलम्ब ही तत्त्व-ज्ञान हो जाता है । जब सत्-गुरु का कृपा-कटाक्ष होता है, तब भगवान की कथा सुनने एवं

ध्यानादि करने में स्वतः श्रद्धा उत्पन्न होती है। तब हृदय में उत्पन्न सभी कामनाएँ विनष्ट हो जाती हैं। इसमें हृदय-कमल की कर्णिका में परमात्मा अभिभूत होता है।

तब अत्यन्त दृढ़ शुद्ध वासना द्वारा अतिशय भक्ति होती है। अतिशय भक्ति से सर्वमय नारायण सभी अवस्थाओं में प्रकाशित होते हैं। समस्त संसार नारायण-मय प्रतीत होता है।

चौपाइयां —

भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी ॥
प्रथमहिं विप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती ॥3॥
एहि कर फल पुनि विषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा ॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं ॥4॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा ॥
(अर० कां०)

गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा ॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गद्गद गिरा नयन बह नीरा ॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरन्तर बस मैं ताकें ॥
वचन कर्म मन मोरि गति, भजनु करहिं निःकाम ।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ, करउँ सदा विश्राम ॥

वाक्य साम्य—	**मानस—**
(1) यदा सद्गुरु कटाक्षो भवति। (जब सद्गुरु के कटाक्ष प्राप्त होते हैं)	(1) विप्र चरन अति प्रीती। (2) संत चरन पंकज अति प्रेमा। ---उपर्युक्त चौपाइयों में जो भाव अंकित है वह 'कार्य' है, उपनिषद् का कथन इस कार्य का 'परिणाम' है। अतः उपनिषद् व मानस का यह साम्य 'कार्य-परिणाम' के रूप में प्राप्त होता है। मानस का अभिप्राय कोरे सिद्धान्त न लिखकर, उन सिद्धान्तों को इस प्रकार लिखना है कि जनसाधारण उनको जीवन में उपलब्ध कर सकें। मानस ने सत्गुरु-कटाक्ष उपलब्धि-प्रक्रिया को स्पष्ट करके लिखा है।

(मानस) 'विप्र' व 'संत' शब्द का उपयोग गुरु के स्थान पर हुआ है। क्योंकि उस समय विप्र व संत ही गुरु-रूप में उपलब्ध थे, तथा सेवा के पश्चात् ही विप्र या संत जिज्ञासु को शिष्य-रूप में स्वीकार करते थे। अतः गुरु-शिष्य सम्बन्ध की स्थापना सेवा के पश्चात् ही स्थापित होती है।

(2) तदा भगवत्कथाश्रवणध्यानादौ श्रद्धा जायते—तब भगवत्कथा में श्रवण व ध्यान की श्रद्धा उत्पन्न होती है।

(1) 'यहि कर फल पुनि विषय विरागा।
तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक-नव भक्ति दृढ़ाहीं।
मम लीला रति अति मन मांहीं॥

(क) भगवत्-कथा भगवान् की लीला की कथा है। उपनिषद् का कथन है कि भगवत्-कथा में श्रद्धा उत्पन्न होती है। मानस का कथन है –"मेरी लीला में रति उत्पन्न होती है।

(ख) 'रति' प्रेम है जो बाद में श्रद्धा का आधार बनती है।

(ग) 'मेरी लीला' की शब्द-व्यंजना द्वारा भगवत्-लीला के वास्तविक अर्थ पर प्रकाश पड़ता है। भगवान् की लीला ही भगवत्-कथा का आधार है।

(घ) 'श्रवणध्यानादौ' का भाव 'श्रवणादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं' में उतर आया है। उपनिषद्-साधकों के लिए जो ध्यान है, मानस के भक्त-हृदयों के लिए वही 'नवधा भक्ति' है।

(च) श्रद्धा --श्रद्धा का अर्थ हुआ, भगवान में आस्था व प्रेम रखना। भक्तों की भाषा अनुराग की भाषा होती है अतः उपनिषद् के श्रद्धा शब्द का भाव मानस में 'उपज अनुरागा' के रूप में आया है।

(3) ततो दृढतर शुद्ध सात्त्विक वासनया भक्त्यतिशयो भवति।'

—'गुरु पितु मातु बंधु पति देवा।
सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा ॥5॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा।
गद्गद गिरा नयन बह नीरा ॥6॥
काम आदि मद दंभ न जाकें।
तात निरन्तर बस मैं ताकें ॥7॥

'गुरु पितु मातु बंधु' आदि को भगवान् समझकर सेवा करना अनासक्त सेवा का सात्त्विक रूप है। भगवान् का गुणगान पुलक शरीर तथा गद्गद-गिरा होकर करना सात्त्विक भक्ति है। काम, दंभ और मद का हनन करना मानसिक भावनाओं को सात्त्विक भावनाओं में बदलना है। इस प्रकार उपर्युक्त मानस चौपाइयों में वे समस्त कार्यक्षेत्र आ गये जिसमें एक प्राणी काम करता है-- इन्द्रियाँ, हृदय व बुद्धि। इन्द्रियों को सेवा से सात्त्विक बनाया; हृदय को भक्ति से सात्त्विक बनाया तथा बुद्धि को शुद्ध विचारों से सात्त्विक किया। उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा मानस ने उपनिषद् में वर्णित 'शुद्ध सात्त्विक वासना' के भाव को स्पष्ट किया है।

उपनिषद्-वर्णित 'भक्त्यतिशयो भवति' का भाव मानस ने 'तात निरन्तर बस मैं ताकें' की शब्दावली द्वारा किया है। भक्त यह नहीं जानता कि भक्ति की अतिशयोक्ति क्या है; वह तो परिणाम से अपना अभिप्राय रखता है; मेरा इष्ट सदैव मेरे पास रहे', यदि यह हो गया तो मेरी भक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर फलित हो गयी। इस प्रकार उपनिषद् का 'भक्त्यतिशयो भवति' का भाव, भक्त की भावना के अनुसार 'तात

निरन्तर बस मैं ताकें' कहकर मानस ने अभिव्यक्त किया है।

'मम गुन गावत पुलक शरीरा। गद्गद गिरा नयन वह नीरा'—अतिशय भक्ति होने के लक्षण हैं।

(4) 'ततो भगवज्ज्ञानपूर्वकं हृदयकमले व्यवस्थित-मात्मानम्।

बचन कर्म मन मोर गति,
भजन करहुँ निष्काम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ,
करहुँ सदा विश्राम
(अ. कां.,16)

उपनिषद् व मानस, दोनों का ही कथन है कि निष्काम भजन करने वालों के हृदय में भगवान् निवास करते हैं।

मानस के उत्तरकांड में पुनः इन भावों की पुनरावृत्ति प्राप्त होती है। पुनरावृत्ति 'अभ्यास' के रूप में अध्यात्म-साहित्य का एक आवश्यक अंग है। किसी भाव को मन में उतारने के लिए उसका पुनः-पुनः आवृत होना आवश्यक है। अध्यात्म-साहित्य होने के नाते, तथा पाठक के हृदय में सिद्धान्त का स्मरण बनाये रखने के अभिप्राय से मानस में जहाँ अन्य भावों की पुनरावृत्ति आयी है, वहीं उपर्युक्त उपनिषद्-भाव की पुनरावृत्ति यहाँ प्राप्त होती है। उपनिषद् का मूल पहले उद्धृत किया जा चुका है, यहाँ केवल उसका भावार्थ पुनः अंकित करते हैं—"अनेक जन्मों के किये हुए अत्यन्त श्रेष्ठ पुण्यों के फलोदय से सत्पुरुषों का सत्संग प्राप्त होता है। तब उनके मिलने से सदाचार में प्रवृत्ति होती है, पापों का नाश होता है, तब भक्ति का उदय होता है, और गुरु के कृपा-कटाक्ष से सर्व सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। बन्धन नष्ट हो जाते हैं, ज्ञान एवं वैराग्य का उदय होता है। ध्यान-आदि में श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा से हृदय में स्थित दुर्वासना की अनादि-ग्रन्थि का विनाश हो जाता है।" इस भावार्थ को हृदय में रखकर देखने से चौपाइयों का अर्थ उसी रूप में निकलता चला जाता है।

श्री वसिष्ठ जी के प्रति श्रीराम का कथन—

जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदय दृढ़ गहहू॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥1॥
ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भक्तिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥2॥
भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सत संगति संसृति कर अंता॥3॥

पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन विप्र पद पूजा ॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपटु करइ द्विज सेवा ॥4॥
कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा ॥
सरल सुभाउ न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई ॥1॥
मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहा बिस्वासा ॥
बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई। यहि आचरन बस्य मैं भाई ॥2॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा ॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी ॥3॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा ॥
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई ॥4॥

मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह।
ता कर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह ॥उ० कां०,46॥

पनिषद्-भाव	मानस-भाव
अनेक जन्मों के **पुण्यफल स्वरूप** सत्पुरुषों का	—'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता'।
सत्संग प्राप्त होता है तब उसके मिलने से सदाचार में प्रवृत्ति होती है।	—'भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। 'बिनु सतसंग न पावइ प्रानी।'
पापों का नाश होता है। उनके कृपा-कटाक्ष से सर्व सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।	—'सत संगति संसृति कर अन्ता' पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन विप्र पद पूजा ॥ सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपट करइ द्विज सेवा ॥ कृपा-कटाक्ष सानुकूलता से प्राप्त होता है; तथा गुरु का आसन संत व विप्र को प्राप्त होता है। अतः दोनों भाव यहाँ स्पष्ट हैं।
भक्ति से सात्त्विक भावनाओं का उदय होता है।	(क) कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा ॥ **सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लोभ संतोष सदाई ॥**
तत्पश्चात् भगवत्-कथा में श्रद्धा उत्पन्न होती है।	(ख) **बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा ॥**[1]

अनारंभ अनिकेत अमानी।
अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा।
तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई।
दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई॥
मोर दास कहाइ नर आसा।
करइ तो कहहु कहा बिस्वासा॥

भगवानन् स्वयं ऐसे भक्त का निर्वाह करते हैं।

(क) बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई।
एहि आचरन बस्य मैं भाई॥

(ख) ममगुन ग्रामनाम-रत, गतममता मद मोह।
ता कर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह॥

मानस के उत्तर कांड में प्राप्त भक्ति-सम्बन्धी चौपाइयों का साम्य त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद् के अष्टम अध्याय के अन्तिम भाग में प्राप्त है। यह अष्टम अध्याय उपर्युक्त उपनिषद् का अन्तिम भाग है, तथा उपनिषद् के उत्तर कांड के अन्तर्गत आता है। उपनिषद्वाक्य के समान मानस में भी ये भक्ति-सम्बन्धी चौपाइयाँ मानस के उत्तर कांड के अन्तिम भाग में पायी जाती हैं।

यह बात उल्लेखनीय है कि पूर्व साम्य के अनुसार गुरु तो यहाँ भी श्रीराम ही हैं, परन्तु शिष्य पूर्व की भाँति लक्ष्मण न होकर, यहाँ वायस काकभुशुण्डिजी हैं। शिष्यों की पृष्ठभूमि में परिवर्तन हो गया है। प्रश्न यह उठता है कि शिष्य की पृष्ठभूमि में परिवर्तन लाने की आवश्यकता क्यों पड़ी? लक्ष्मण ने अपने 'चिर निरन्तर सेवा काल' से जो शिष्यत्व का एकाधिकार प्राप्त कर लिया था, वह अधिकार उनको पुनः भक्ति-प्रसंग के ज्ञान का अधिकारी क्यों नहीं बनाता? इसका कारण यह है कि उपनिषद् के अन्तिम भाग के भी अन्तिम अंश तक पहुँचने के पश्चात्, नित्य गुरु-सत्संग व गुरु-वाक्य-मनन द्वारा शिष्य से एक बौद्धिक परिपक्वता, लक्ष्य के प्रति एकाग्रता की आशा की जाती है। वह बौद्धिक परिपक्वता तथा एक लक्षीय चिन्तन वायस काकभुशुण्डि में प्राप्त है।[1] अतः उन्हीं को भक्ति-ज्ञान का अधिकार दिया गया और फलस्वरूप शिष्यों की पृष्ठभूमि में परिवर्तन की आवश्यकता पड़ी। कथा-प्रसंग में यह शिष्य-परिवर्तन इतना सहज होकर आया है कि कथा-भाव को कोई क्षति भी नहीं पहुँचती है।

'सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरें। सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरें॥3॥
भगति ग्यान बिग्यान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा॥
जानब तें सब ही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा॥4॥

माया संभव भ्रम सब, अब नहिं व्यापहिं तोहि ।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि ॥85॥(क) (उ० कां०)[2]

साम्य—

कबहूँ काल न व्यापिहि तोही ।
सुमिरेसु भजहु निरंतर मोही ॥
प्रभु वचनामृत मुनि न अघाऊँ ।
तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ ॥1॥88 (उ० कां०)

(1) 'कबहूँ काल न व्यापिहि तोही'—काल का न व्यापना मुक्ति का ही रूप है ।

(2) जिस प्रकार उपनिषद् में यह गुरु-शिष्य-संवाद अन्तर्कथा के रूप में व्याप्त है, उसी प्रकार मानस में उपर्युक्त श्रीराम-काकभुशुण्डि-संवाद अन्तर्कथा के रूप में आया है ।

(3) उपनिषद् में आख्यान के पश्चात् विष्णुजी ब्रह्माजी से कहते हैं— "ब्रह्माजी, मैंने आपसे परम तत्त्व का समस्त रहस्य कह दिया, इसके स्मरण-मात्र से मोक्ष हो जाता है ।" मानस में भी आख्यान का अन्त इसी भाव के साथ है । वहाँ भी श्रीचरणों में विश्वास-मात्र करने से भक्त भवनिधि से पार हो जाता है ।

"उपजइ राम चरन बिस्वासा । भव निधि तर नर बिनहिं प्रयासा ॥

भव निधि पार करना ही मोक्ष प्राप्त करना है ।

(4) उपनिषद् में गुरु-शिष्य-संवाद प्रथम निरालम्ब योग पर प्रश्नोत्तर के रूप में होता है । पहले गुरु निरालम्ब योग का प्रतिदान करते हैं, अन्त में शिष्य के प्रश्न करने पर सालम्ब योग का प्रतिपादन करते हैं । इस निरालम्ब योग (ज्ञान) तथा सालम्ब योग (भक्ति) का निरूपण हमें काकभुशुण्डि लोमश-ऋषि-संवाद का स्मरण दिला देता है । लोमश ऋषि निरालम्ब योग (ज्ञान) का प्रतिपादन करते हैं तथा अन्त में काकभुशुण्डि जी के अति आग्रह पर सालम्ब योग (भक्ति) का प्रतिपादन करते हैं ।

इतना अवश्य ही कहना होगा कि उपनिषद् में निरालम्ब के पश्चात् सालम्ब योग का प्रतिपादन सहजता के साथ आया है, किन्तु वैसे नाटकीय ढंग से नहीं आया है, जैसा मानस में । मानस में सालम्ब योग का प्रतिपादन नाटकीय[2] ढंग से करने में एक अभिप्राय निहित है । नाटकीय ढंग से प्रस्तुत स्मरणशक्ति पर प्रभाव डालती है और अधिक समय तक स्मृति में बनी रहती है । अर्धविकसित बुद्धि के प्राणियों की बुद्धि पर नाटकीय रूप द्वारा ही प्रभाव डाला जा सकता है । अतः मानस ने नाटकीय ढंग को अपनाकर भक्ति के सर्व-सुलभ साधन होने का भाव जनसाधारण की बुद्धि पर अंकित करना चाहा है ।

रिपि मम महत सीलता देखी। रामचरन विस्वास विसेषी ॥2॥
अति विसमय पुनि-पुनि पछिताई। सादर मुनि मोहि लीन्ह वोलाई ॥2॥
(2।113 उ० कां०),

भगति पच्छ हठ करि रहेऊँ, दीन्ह महारिषि साप।
मुनि दुर्लभ वर पायउँ, देखहु भजन प्रताप ॥114 (ख)
(उ० कां०)

ततः शिष्यो गुरुं परिपृच्छति। भगवन्सालम्ब निरालम्व-योगो कथमिति ब्रूहीति ॥ त्रिपाद्विमूति उप०, अ० 8 ॥

अर्थ—निरालम्ब व सालम्ब योग किस प्रकार है? दूसरा प्रश्न है: निरालम्ब योग का अधिकारी कैसे हुआ जाता है? साम्य प्रस्तुत करने वाली चौपाइयाँ—

एक वात प्रभु पूछहुँ तोही। कहहु वुझाई कृपानिधि मोही॥
कहहि संत मुनि वेद पुराना। नहि कछु दुर्लभ ग्यान समाना॥
सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ गोसाईं। नहि आदरेहु भगत की नाईं॥
ग्यानहि भगतहि अन्तर केता। सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता॥
(6-115 उ० कां०)

ये चौपाइयाँ काकभुशुण्डि-गरुड़-संवाद के अन्तर्गत आती हैं। कथा-प्रसंग के अन्तर्गत अति स्वाभाविकता से किये गये इस साधारण से प्रतीत होने वाले प्रश्न के पीछे भी उपनिषदों की इतनी मान्यता होगी, इसका ध्यान आये विना ही पाठकों तक उपनिषद्-ज्ञान पहुँच जाता है। उपर्युक्त चौपाई में उपनिषद् के तीन निहित अर्थों का भाव आ जाता है।

वाक्य के प्रश्न—निरालम्ब व सालम्ब योग क्या है—का भाव।

'ग्यानहि भगतिहि अन्तर केता। सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता॥'
ज्ञान निरालम्ब योग है और भक्ति सालम्ब योग। उपनिषद् व मानस दोनों ही इस विषय को प्रश्न रूप में पूछ रहे हैं? तथा दोनों का ही प्रश्न इस रूप में आया है कि दोनों योगों का तुलनात्मक ज्ञान प्राप्त हो सके।

निरालम्ब का दुरूह स्वरूप—निरालम्ब स्वरूप वह है जिसमें समस्त नाम, रूप, कर्म को दूर छोड़ कर समस्त कामनादि अन्तः-करण की वृत्तियों के साक्षी रूप

सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ गोसाईं। नहि आदरेहु भगत की नाईं॥'
'तुम्ह सन कहेउ गोसाईं'—उन चौपाइयों[1] की ओर संकेत है जो लोमश मुनि ने निर्गुण स्वरूप की अभि-

होकर भावना की जाय । यह स्थिति निरालम्ब योग है।

निरालम्ब योग अत्यन्त दुरूह--

का निरूपण उपनिषद् वाक्य के समान ही पूर्ण रीति से करती हैं

'कहहि संत मुनि बेद पुराना। नहि कछु दुर्लभ ग्यान समाना ॥'

'निरालम्ब योग' व 'ज्ञान' एक ही वस्तु के दो नाम हैं।

अमानित्वदिलक्षणोपलक्षितो यः पुरुषः स एव निरालम्बयोगाधिकारी कार्यः कश्चिदस्ति । तस्मात्सर्वेषामधिकारिणामनधिकारिणा भक्तियोग एव प्रशस्यते। भक्तियोगो निरुपद्रवः । भक्तियोगान्मुक्तिः । बुद्धिमतामनायासेनाचिरादेव तत्त्वज्ञानं भवति ॥ (त्रिपाद्विभूति उप०, अ०8)

जो मनुष्य अमानित्व आदि गुणों से युक्त है, उसी को निरालम्ब योग का अधिकारी बनना चाहिए। ऐसा अधिकारी कोई विरला ही हैं। इसलिए सभी अधिकारी-अनधिकारियों के लिए भक्तियोग ही श्रेष्ठ कहा जाता है। भक्तियोग उपद्रव रहित हैं, भक्ति योग से मुक्ति प्राप्त होती है। भक्तों को बिना परिश्रम के ही अविलम्ब तत्त्वज्ञान हो जाता है।

साम्य के लिए प्रस्तुत चौपाइयां —

भगतहि ग्यानहि नहि कुछ भेदा। उभय हरहि भव संभव खेदा॥
नाथ मुनीस कहहि कछु अंतर। सावधान सोउ सुनु बिहंगवर॥
ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती॥
पुरुष त्यागि सक नारिहि, जो बिरक्त मति धीर।
न तु कामी बिषयाबस, बिमुख जो पद रघुबीर॥ 115(क) उ० कां० ॥
सोउ मुनि ग्याननिधान, मृगनयनी बिधुमुख निरखि।
बिबस होइ हरिजान, नारि बिष्नु माया प्रगट॥ 115(ख) उ० कां० ॥
इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ। बेद पुरान संत मत भाषउँ॥
मोह न नारि-नारि कें रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा।(1)।
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि बर्ग जानइ सब कोऊ॥
पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥2॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥
राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥3॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥
अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी। जाचहि भगति सकल सुख खानी॥4॥

यह रहस्य रघुनाथ कर, बेगि न जानइ कोइ।
जो जानइ रघुपति कृपाँ, सपनेहुँ मोह न होइ।। 116(क) उ० कां० ।।
औरउ ग्यान भगति कर, भेद सुनहु सुप्रबीन।
जो सुनि होइ राम पद, प्रीति सदा अविछीन ।। 116 (ख) उ० कां०।।

इसी स्थल पर मानस एवं उपनिषद् में साम्य देखते समय भाव-साम्य पर अधिक ध्यान देना होगा। यदि भाव-साम्य पर ध्यान रखा जाय तो पूरे तारतम्य के साथ साम्य स्थापित होता चला जाता है।

उपनिषद्-भाव	मानस-भाव
अमानित्वादि लक्षणोपलक्षितो यः पुरुषः स एव निरालम्ब-योगाधिकारी कार्यः कश्चिदस्ति। (जो पुरुष अमानित्व आदि गुणों से युक्त है, उसी को निरालम्ब-योग का अधिकारी बनना चाहिए)	निम्नांकित चौपाइयों के दृष्टांत द्वारा दोनों, मानस व उपनिषद् का भाव-साम्य यह स्थापित होता है कि ज्ञान (निरालम्ब योग) का अधिकारी वही हो सकता है जिसके अन्दर विशेष गुण धारण करने की सामर्थ्य हो।

दृष्टांत के लिए प्रस्तुत चौपाई—

'ग्यान बिराग जोग बिग्याना।
ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना।।
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती।
अबला अबल सहज जड़ जाती।।

(1) उपनिषद् में अमानित्व-आदि गुणों की ओर संकेत में मानस ने 'आदि' शब्द के भाव को खोलकर स्पष्ट कर दिया है—'ग्यान, बिराग, जोग, बिग्याना।' ज्ञान, वैराग्य, योग तथा विज्ञान आदि का निष्कर्ष हृदय में से अभिमान व मान के भाव को नष्ट करना होता है। भक्त को अपने मन में 'अमान' की स्थिति को उदय करना होता है। इस प्रकार उपनिषद् के जो भाव "अमानित्वादि" द्वारा व्यक्त किया है, उसे चौपाइयों 'ग्यान, जोग बिग्याना' लिखकर वे उपाय व्यक्त किये हैं जिनसे उस निष्कर्ष की प्राप्ति होती है।

(2) उपनिषद् व मानस, दोनों में ही, 'पुरुष' शब्द का प्रयोग हुआ है। उपनिषद् में 'पुरुष' शब्द का अर्थ 'एक प्राणी' के रूप में आया है। ऐसा लगता है कि मानस को 'पुरुष' शब्द के प्रयोग की प्रेरणा तो उपनिषद् से मिली है, परन्तु मानस ने उसका उपयोग अधिक व्यापक रूप से किया है। पुरुष शब्द से दो अर्थ व्यक्त होते हैं—एक लिंग-सूचक; दूसरा भाव-सूचक। मानस ने 'पुरुष' शब्द का उपयोग दोनों अर्थों को लेकर किया है। जिसमें 'पौरुष', वह पुरुष—यह भाव-सूचक अर्थ 'ग्यान विराग जोग विग्याना। ये सब पुरुष सनुह हरिजाना' की चौपाई में व्यक्त हुआ है। ये गुण वही प्राणी प्राप्त कर सकता है जिसमें पौरुष हो। अतः ये गुण पुरुष के हैं। सबल प्राणी ही इन गुणों को अपने अन्दर विकसित कर सकता है, क्योंकि ये गुण स्वयं सबल हैं। इस प्रकार यहाँ पुरुष शब्द में उसके सबल होने के भाव की अभिव्यक्ति हुई है।

'पुरुष' शब्द का लिंगसूचक भाव बाद में आने वाली चौपाई से उभरता है—'पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती।'—'अबला' से भिन्न होकर 'पुरुष' शब्द का तुलनात्मक रूप में आना 'पुरुष' शब्द के लिंगसूचक भाव को प्राथमिकता देता है।

(2) स एव निरालम्बयोगाधिकारी कार्यः कश्चिदस्ति—तस्मात्सर्वेषामाधिकारिणां भक्तियोगः—

उपनिषद् उदाहरण के इस भाव को कि 'निरालम्ब योग का अधिकारी' कोई विरला ही होता है, उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया है। अतः भाव-व्यक्ति की रीति भिन्न होते हुए भी अभिव्यक्ति की समानता है।

पुरुष त्यागि सक नारिहि,
जो विरक्त मति धीर।
न तु कामी विषया बस,
विमुख जो पद रघुवीर॥
सोउ मुनि ग्यान निधान,
मृगनयनी विधुमुख निरखि।
विवस होइ हरिजान,
नारि विष्नु माया प्रगट॥

चौपाई का भावार्थ है कि साधारण प्राणी का तो कहना ही क्या, ज्ञानी मुनि जन भी मृगनयनी के 'चन्द्र-मुख' को देखकर 'बेबस' हो जाते हैं। वैराग्यवान् व धैर्यवान् पुरुष ही स्त्री को त्याग सकते हैं—अर्थात्, ऐसे पुरुष विरले ही हैं जो भोग-विषयों को त्याग करके योगाधिकारी बने रह सकते हैं। साधारण प्राणियों के लिए भक्ति ही सुलभ है।

(3) 'भक्तियोगो निरुपद्रवः'

उपनिषद् के उदाहरण को मानस एक रंजित रूप से व्यक्त कर रही है। ऐसे रंजित स्थल मानस को सरस बनाते हैं; सरसता से ग्रन्थ की लोकप्रियता बढ़ती है। कल्पना की सरसता से भाव-अभिव्यक्ति की गरिमा कहीं भी कम नहीं होने पायी है।

इहाँ न पच्छपात कछु राखेउँ।
बेद पुरान संत मत भाषेउँ॥
मोह न नारि नारि के रूपा।
पन्नगारि यह रीति अनूपा॥
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ।
नारि बर्ग जानइ सब कोऊ॥
पुनि रघुबीरहि भगति पियारी।
माया खलु नर्तकी बिचारी॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया।
ताते तेहि डरपति अति माया॥

रामभगति निरुपम निरुपाधी।
बसइ जासु उर सदा अबाधी॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई।
करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥

'भक्तियोगो निरुपद्रवः' के भाव को मानस ने दो रूपों से व्यक्त किया है—(1) माया व भक्ति, दोनों ही नारी-रूप हैं तथा, क्योंकि 'मोह न नारि नारि के रूपा' अतः दोनों स्वभाव से ही परस्पर कोई प्रिय भाव नहीं रखतीं; अतः एक-दूसरे से प्रायः पृथक् ही रहती हैं।

दूसरा कारण (पुनि०) है 'भगति' रघुनाथ को प्रिय है, 'ताते तेहि डरपति अति माया'। इस भय के कारण वह अपनी 'प्रभुताई' 'रामभक्ति' के सम्मुख नहीं कर पाती है।

'वेद पुरान संत मत भाखेउँ' कहकर मानस ने इस कथन को प्रमाणबद्ध कर दिया है।

(4) 'भक्तियोगान्मुक्तिः—भक्ति योग से ही मुक्ति प्राप्त होती है।

अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी।
जाचहिं भगति सकल सुख खानी॥

मुक्ति को वेदान्त में सच्चिदानन्द-स्वरूप माना है अतः यहाँ 'सकल सुख खानी' के रूप में उसका वर्णन हुआ है।

(5) 'बुद्धिमतामनायासेनाचिरादेव तत्त्वज्ञानं भवति।' भक्तों को बिना परिश्रम के ही तत्त्व-ज्ञान हो जाता है।

यह रहस्य रघुनाथ कर,
बेगि न जानइ कोइ।
जो जानइ रघुपति कृपा,
सपनेहुँ मोह न होइ॥
औरउ ग्यान भगति कर,
भेद सुनहु सुप्रबीन।
जो सुनि होइ राम पद,
प्रीति सदा अबिछीन॥

(1) बिना परिश्रम के (उपनिषद्) 'रघुपति-कृपा' (मानस) बिना परिश्रम के कृपामात्र

से तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

(2) तत्त्व-ज्ञान (उपनिषद्) 'यह रहस्य रघुनाथ कर' (मानस) रघुनाथ भगवान् हैं। उनका रहस्य ही तत्त्व-ज्ञान है। 'सपनेहु मोह न होइ'—जन साधारण तत्त्व-ज्ञान नहीं समझता, परन्तु मन की उस स्थिति को समझता है जो तत्त्व-ज्ञानी को प्राप्त हो जाती है। जन साधारण को विषय का मूल अर्थ समझ में आ सके, इस कारण मानस में तत्त्व-ज्ञानी की 'सपनेहु मोह न होइ' वाली आस्था को व्यक्त किया है। इस आस्था के प्राप्त हो जाने पर 'अविछीन रामपद-प्रीति' (मानस) प्राप्त होती है। इष्ट के चरण-कमलों में अविच्छिन्न प्रेम होना ही भक्त की मुक्ति व भक्त को तत्त्व-ज्ञान प्राप्त होना है।

तत्कथमिति। भक्तवत्सलः स्वयमेव सर्वेभ्यो मोक्षविघ्नेभ्यो भक्तिनिष्ठान्सर्वान्परिपालयति। सर्वाभीष्टान्प्रयच्छति। मोक्षं दापयति। चतुर्मुखादीनां सर्वेषामपि विना विष्णुभक्त्या कल्पकोटिभिर्मोक्षो न विद्यते। कारणेन विना कार्यं नोदेति। भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते। तस्मात्त्वमपि सर्वोपायान्परित्यज्य भक्तिमाश्रय। भक्तिनिष्ठो भव। भक्तिनिष्ठो भव। भक्त्या सर्वसिद्धयः सिध्यन्ति। भक्त्याऽसाध्यं न किंचिदस्ति॥ त्रिपाद्विभूति उप०, अ० 8॥

अर्थ—वह अनायास तत्त्व-ज्ञान किस प्रकार होता है? भक्तवत्सल भगवान् स्वयं ही मोक्ष के सभी विघ्नों से सभी भक्तिनिष्ठ लोगों की रक्षा करते हैं। समस्त अभीष्ट प्रदान करते है। मोक्ष दिलवाते हैं। ब्रह्मा आदि देवताओं का भी विष्णु-भक्ति के विना करोड़ों कल्पों में भी मोक्ष नहीं होता, क्योंकि कारण के विना कार्य प्रकट नहीं होता। अतः भक्ति के विना ब्रह्म-ज्ञान कभी उत्पन्न नहीं होता।

साम्य स्थापित करने वाली चौपाइयां

छोरन ग्रंथि पाव जो सोई। तव यह जीव कृतारथ होई॥
छोरत ग्रंथि जानि खगराया। विघ्न अनेक करइ तव माया॥
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई॥
कल बल छल करि जाहि समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा॥

होइ बुद्धि जो परम सयानी। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी ॥
जौं तेहि बिघ्न बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी ॥5॥
इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना ॥
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी ॥6॥
जब सो प्रभंजन उर गृह जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई ॥
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा ॥
इंद्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई ॥
बिषय समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी ॥

दोहा—तब फिरि जीव बिबिध बिधि, पावइ संसृति क्लेस।
हरि माया अति दुस्तर, तरि न जाइ बिहगेस ॥
(118 (ख), उ०, कां०)

कहत कठिन समुझत कठिन, साधत कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं, पुनि प्रत्यूह अनेक ॥
(118 (ख), उ० कां०)

ग्यान पंथ कृपान की धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा ॥
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई ॥
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद ॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं ॥2॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई।
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई ॥3॥
अस बिचारि हरि भगति सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने ॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा ॥4॥
भोजन करिअ तृपिति हित लागी। जिमि सो असन पचवै जठरागी ॥
असि हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सुहाई ॥

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज, अस सिद्धांत बिचारि ॥
(119 (क), उ० कां०)

जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहिं, भजहिं जीव ते धन्य ॥
(119 (ख), उ० कां०)

साम्य

(1) मोक्षविघ्ने

उपनिषद् जहाँ 'मोक्ष-विघ्न' लिख

मानस के लाभार्थ मोक्ष के विघ्नों पर पूरा प्रकाश डाला है।

मोक्ष-प्राप्ति में विघ्नों की प्राप्ति—

(1) छोरत ग्रंथि जान खगराया।
विघ्न अनेक करइ तब माया।।

(2) हरि माया अति दुस्तर।
तरि न जाइ विहगेस।।

विघ्नों का स्वरूप—

(क) रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई।
(ख) बुद्धिहि लोभ दिखावहि आई।।
(ग) कल बल छल करि जाहिं समीपा।
(घ) अंचल बात बुझावहिं दीपा।।
(च) आवत देखहिं विषय बयारी।
ते हठि देहिं कपाट उघारी।।
(छ) विषय समीर बुद्धि कृत भोरी।

(2) भगवान् स्वयं भक्तिनिष्ठ लोगों की रक्षा करते हैं।

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं।
अनइच्छित आवइ बरिआई।।211 (क)

राम के भजन से मुक्ति का अनिच्छित रूप से आना इस बात का द्योतक है कि राम की कृपा-स्वरूप दुर्लभ भक्ति की प्राप्ति होती है।

'अनिच्छित' शब्द का लक्षणार्थ भगवान् की कृपादृष्टि की ओर संकेत करता है। प्रत्येक वस्तु इच्छा द्वारा प्राप्त की जाती है। पहले हृदय में उस वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा होती है, तत्पश्चात् उसको प्राप्त करने का प्रयास; परन्तु जिस वस्तु की इच्छा भी न की जाय और वह प्राप्त हो जाय, तो वह अवश्य ही किसी की कृपा का परिणाम है। राम को भजा गया है, अतः यह प्राप्ति राम-कृपा के फलस्वरूप ही हुई है।

(3) भक्ति बिना करोड़ों कल्पों में भी मोक्ष नहीं मिलता।

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।
कोटि भाँति कोउ करै उपाई।।

तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई।
रहि न सकइ हरि भगति बिहाई ॥3॥
(119 (क) उ० कां०)

'भक्ति के बिना मोक्ष प्राप्त करना सम्भव नहीं है' यह भाव, मानस व उपनिषद् दोनों में समान रूप से मान्य है। केवल दोनों की अभिव्यक्ति में अन्तर है (उपनिषद्—करोड़ों कल्पों में नहीं मिल सकती; मानस—करोड़ों उपायों से नहीं मिल सकती)। दोनों का अभिप्राय एक है—भक्ति के बिना मुक्ति की दुर्लभता दिखाना दोनों का अभिप्राय है।

(4) भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते।

अस बिचारि हरि भगत सयाने।
मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा।
संसृति मूल अबिद्या नासा ॥4॥
(119 (क) उ० कां०)

जिस प्रकार उपनिषद् इस कथन द्वारा, कि 'भक्ति के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती', ज्ञान पर भक्ति की श्रेष्ठता स्थापित कर रहे हैं, उसी प्रकार मानस भी यह कहकर, कि 'सयाने लोग मुक्ति की अपेक्षा भक्ति को अधिक प्रिय समझते हैं', मुक्ति पर भक्ति की श्रेष्ठता स्थापित कर रही है।

चौपाई में प्राप्त 'सयाने' शब्द से मानस का संकेत उपनिषद् के ऋषि-मुनियों की ओर हो सकता है। क्योंकि उनकी गणना उन प्राणियों में की जाती है जो अपने निष्कर्ष को मनन व पूर्ण रीति से विचार करने पर आधारित करते हैं—साधारण जनभाषा में ऐसे प्राणियों को 'सयाना' कह कर सम्बोधित किया जायगा।

बाह्यरूप से एक साधारण-सा अन्तर उपनिषद् वाक्य व मानस के कथन में गोचर होता है। वाक्य ने ब्रह्मज्ञान पर भक्ति की श्रेष्ठता स्थापित की है (भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते) तथा चौपाइयों ने भक्ति की श्रेष्ठता 'मुक्ति' पर स्थापित की है (मुक्ति निरादर भगति लुभाने)। परन्तु मानस ने मुक्ति का अर्थ ज्ञान से लिया है। एक तो ज्ञान का निष्कर्ष मुक्ति है; दूसरे मानस की अन्तिम चौपाई इस भाव को स्पष्ट करती है। ज्ञान द्वारा संसृति-मूल अविद्या का नाश होता है। मानस में यही कार्य भक्ति कर रही है—

"भगति करत बिनु जतन प्रयासा।
संसृति मूल अविद्या नासा॥"

मुक्ति तब प्राप्त होती है जब 'ज्ञान द्वारा इस संसृति-मूल अविद्या का नाश' हो जाय। इस प्रकार 'मुक्ति' व 'ज्ञान' शब्द एक-दूसरे के पर्याय-वाची शब्द होकर दोनों ग्रंथों में आये हैं, दो पृथक् भाव वाले शब्द होकर नहीं।

5. 'समस्त उपायों को छोड़कर भक्ति की शरण लो!'

'भोजन करिअ तृपिति हित लागी।
जिमि सो असन पचवै जठरागी॥
असि हरि भगति सुगम सुखदाई।
को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥
(5।119 क)

मानस व उपनिषद् दोनों की ही एक अभिव्यक्ति है कि अन्य साधनों का त्याग करके केवल भक्ति को ही अपनाना चाहिए। केवल इस अभिव्यक्ति के रूप भिन्न हैं—उपनिषद् का कथन सीधा व तीखा है तथा मानस का जठराग्नि के दृष्टांत द्वारा है। परन्तु दोनों की अभिव्यक्ति का निष्कर्ष एक ही है। दोनों की ही भाव-व्यक्ति भक्ति की सहजता पर है।[1] इसी सहजता का भाव 'जठ-राग्नि द्वारा सहज ही पाचनक्रिया' हो जाने के दृष्टांत द्वारा मानस ने व्यक्त किया है।

6. भक्ति-निष्ठ बनो ! — भक्ति से सभी सिद्धियाँ सिद्ध होती हैं ।

सेवक सेव्य भाव बिनु,
भव न तरिअ उरगारि ।
भजहु राम पद पंकज,
अस सिद्धांत बिचारि ।।

मानस का 'सेवक सेव्य' भाव ही उपनिषद् का भक्ति-निष्ठ बनना है । 'सेवक सेव्य' भाव लिख कर मानस ने जन-हिताय यह भी स्पष्ट कर दिया है कि भक्ति किस प्रकार करनी चाहिए ।

उपनिषद् 'सर्व सिद्धियों' की प्राप्ति का प्रलोभन दे रहे हैं तो मानस 'भव तरने' का । मानस का जनहिताय भाव यहाँ भी दृष्टिगोचर होता है । भक्त का वास्तविक उद्देश्य 'भव तरना' ही होना चाहिए; सिद्धियाँ तो केवल प्रलोभन हैं । अतः मानस ने इन चौपाइयों में भक्तों को संकेत द्वारा यह भी बता दिया कि भक्ति किस प्रकार करनी चाहिए (सेवक-सेव्य भाव); तथा इसका भी संकेत कर दिया कि भक्ति का उद्देश्य क्या होना चाहिए (भव तरिअ)

यह चौपाई उन अनेकों उदाहरणों में से एक उदाहरण है जो यह दर्शाते हैं कि मानस अपने पाठकों में अधिकारित्व भाव का उदय किस प्रकार करती है ।

7. भक्ति के द्वारा कुछ भी असाध्य नहीं है ।

'जो चेतन कहँ जड़ करइ,
जड़हि करइ चैतन्य ।
अस समर्थ रघुनायकहि,
भजहि जीव ते धन्य ।।'

मानस ने उपनिषद्-वाक्य के भावार्थ को प्रमुखता दी है—

'जो चेतन कहँ जड़ करइ,
जड़हि करइ चैतन्य'

चौपाई में इष्टदेव की सामर्थ्य का उल्लेख है । ऐसे समर्थ इष्टदेव की भक्ति के द्वारा क्या कुछ भी असाध्य रह सकता है ? यह भाव निम्नांकित चौपाई में आया है । 'अस समर्थ रघुनायकहि

भर्जहि जीव ते धन्य ।'—
वे प्राणी 'धन्य' हैं जिनको प्रत्येक मनोवांछित अभीष्ट पूर्ण रूपेण प्राप्त हो। इस प्रकार उपनिषद् के कुछ भी असाध्य न होने का भाव 'धन्य' शब्द में आ गया है।

मदुपासकः सर्वोत्कृष्टः स भवति । मदुपासनया सर्वमंगलानि भवन्ति । मदुपासनया सर्वं जयति । मदुपासकः सर्ववंद्यो भवति मदीयोपासकस्यासाध्यं न किंचिदस्ति । सर्वे बन्धाः प्रविनश्यन्ति । सद्वृत्तमिव सर्वे देवास्तं सेवन्ते । महाश्रेयांसि च सेवन्ते । मदुपासकस्तस्मान्निरतिशयाद्वैतपरमानन्दलक्षणं परंब्रह्म भवति । यो वै मुमुक्षुरनेन मार्गेण सम्यगाचरति स परमानन्दलक्षणं परंब्रह्म भवति ।। त्रिपाद्विभूति उप०, अध्याय 8 ।।

सारांश—मेरा उपासक सबसे उत्कृष्ट होता है। उपासना से सब मंगल होता है। मेरी उपासना से सर्वविजयी, सर्ववन्दनीय होता है। मेरी उपासना से उसके लिए कुछ असाध्य नहीं है। सम्पूर्ण बन्धन पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। सदाचारी की जैसे सब लोग सेवा करते हैं, वैसे ही समस्त देवता व महाश्रेय मेरे भक्त की सेवा करते हैं। वह अद्वैत परमानन्द-स्वरूप हो जाता है। जो मुमुक्ष इस मार्ग से जाता है, वह परमानन्द स्वरूप ब्रह्म हो जाता है।

राम भगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर ॥1॥
परम प्रकास रूप दिन राती। नहि कछु चहिअ दिआ घृत बाती ॥
मोह दरिद्र निकट नहि आवा। लोभ बात नहि ताहि बुझावा ॥
प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहि सकल सलभ समुदाई ॥
खल कामादि निकट नहि जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं ॥
गरल सुधासम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई ॥
ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी ॥
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें ॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं ॥
(5।120, उ० कां०)

... ...

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा ॥
(8।110, उ० कां०)

साम्य —

	उपनिषद्-भाव	मानस-भाव
1.	उपासकः सर्वोत्कृष्टो भवति —	'चतुर सिरोमनि तेइ जग माँहीं । जे मनि लागि सुजतन कराहीं ।।' 'चतुर-सिरोमनि' द्वारा भक्त की उत्कृष्टता व्यक्त की गयी है । 'जे मनि लागि सुजतन कराहीं ।' भक्त की व्याख्या है । दोहे का भावार्थ है कि जो भक्ति करता है (भक्ति का सुजतन करता है), वह जग में 'चतुर-शिरोमणि' है । दोहे का यह भाव उपनिषद्-भाव से साम्य रखता है । 'चतुर शिरोमणि' में 'सर्वोत्कृष्ट' का पूर्ण अर्थ आ जाता है ।
2.	सर्वमंगलानि भवन्ति	'मोह दरिद्र निकट नहि आवा ।' मोह-दरिद्र का होना अमंगलकारी होता है और उनका न होना मंगलकारी । निषेधात्मक भाव से मंगलत्व की स्थापना मानस में हुई है ।
3.	सर्वं जयति, सर्ववन्द्यो भवति	'गरल सुधासम अरि हित होई । मानस-चौपाई का भाव है कि भक्त के लिए विष सुधा-सम, तथा शत्रु मित्र-सम हो जाता है। अर्थात्—विष या शत्रु अपना दूषित व्यवहार त्यागकर भक्त के अनुकूल हो जाते हैं । भक्त के विपरीत कोई नहीं रहता । भक्त के प्रति किसीके विपरीत भाव न रखना ही 'सर्व जयति' व 'सर्व-वन्दनीय' हो जाना है ।
4.	असाध्यं न किंचिदस्ति —	'राम भगति मनि उर बस जाकें । दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें ।' दुःख एक मानसिक भाव है । इच्छित वस्तु की प्राप्ति न होने पर, या उसकी प्राप्ति में वाधा पड़ने पर दुःख का उदय होता है । जिसके लिए प्रत्येक वांछित वस्तु साध्य है, उसके हृदय में दुःख का लवलेश स्वप्न में भी नहीं है । उपनिषद्-वाक्य ने जिस भाव की अभिव्यक्ति वाह्य रूप से

की है, मानस-चौपाई ने उसी भाव की आंतरिक अभिव्यक्ति की है।

5. सर्वे वन्धा: प्रविनश्यन्ति

(1) व्यापहिं मानस रोग न भारी।
जिन्ह के वस सब जीव दुखारी॥
(2) लोभ वात नहिं ताहि बुझावा।
(3) प्रवल अविद्या तम मिटि जाई।
हारहिं सकल सलभ समुदाई॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं।
वसइ भगति जाके उर माँहीं॥

उपनिषद्-वाक्य में केवल 'वन्धा:' (वन्धन बहुवचन) का प्रयोग किया है। मानस ने अपनी चौपाइयों में उनको स्पष्ट करके लिखा है जिससे कि वे जनमानस के हृदय में उतर सकें। लोभ, मोह, अविद्या, खल, काम आदि वन्धनों का नष्ट हो जाना ही 'समस्त वन्धनों का नष्ट हो जाना' है।

6. सर्वे देवास्तं सेवन्ते। महाश्रेयांसि च सेवन्ते।

'राम ते अधिक राम कर दासा।'

उपनिषद् के भाव को मानस की चौपाइयों ने बहुत सुन्दरता व मर्यादित रूप से व्यक्त किया है। राम का दास सर्व रूप में राम से अधिक है। जो-जो राम की उपासना करते हैं, वे सब ही राम के दास की उपासना करते हैं, क्योंकि राम का दास राम से भी श्रेष्ठ है।

7. स परमानन्दलक्षणं परंब्रह्म भवति

राम भगति चिंतामनि सुंदर।
बसइ गरुड़ जाके उर अंतर॥
परम प्रकास रूप दिन राती।
नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती॥

मानस चौपाई-वर्णित—

'परम प्रकास रूप दिन राती'

'परमानन्द स्वरूप' का वर्णन है।

निर्गुण भक्ति का सगुण रूप—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिण:। उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥ (श्रीरामपूर्वताप०, उप० 1/7)

अर्थ—यद्यपि ब्रह्म चिन्मय, अद्वितीय, प्राकृत अवयव रहित और पांचभौतिक शरीर से रहित है तथापि भक्त जनों के उपासना-कार्य की सिद्धि के लिए वह चिन्मय देह को प्रकट करता है। भक्तों के वश निराकार ब्रह्म भी नर-आकार धारण कर लेता है।

साम्य—

(1) भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप।।
72 (क) उ० कां०

उपासनाकार्यार्थ —मानस में उपासना कार्यार्थ का भाव 'भगत हेतु' द्वारा व्यक्त हुआ है। भक्त का कार्य भगवान की उपासना है। अर्थात्—भक्त के उपासना-कार्य की सिद्धि हेतु ही भगवान् जन्म लेते हैं।

(2) जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ।।3।।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी।।
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ।।4।।
(बा० कां०, 121 घ)

उपासना-कार्यार्थ —धर्म की हानि, असुर अधम अभिमानी प्राणियों की वृद्धि, अनीति आदि उपासना के कार्य की बाधाएं हैं। उपासना की इन बाधाओं को दूर करने के लिए भगवान् स्वयं जन्म लेते हैं।

अहं ब्रह्मेति भावनया यथा परमतेजा महानदी प्रवाहपरमतेजः पारावारे प्रविशति। यथा परमतेजःपारावारतरंगाः परमतेजःपारावारे प्रविशन्ति। तथैव सच्चिदानन्दात्मोपासकः सर्वपरिपूर्णा द्वैतपरमानन्दलक्षणो परब्रह्मणि नारायणे मयि सच्चिदानन्दात्मकोऽहमजोऽहं परिपूर्णोऽहमस्मीति प्रविवेश। तत उपासको निस्तरंगाद्वैतापारनिरतिशय सच्चिदानन्दसमुद्रो बभूव ।। त्रिपाद्विभूति उप०, अ० 8 ।।

सालम्बस्तु समस्तकर्मातिदूरतया करचरणादिमूर्तिविशिष्टं
मण्डलाद्यलम्बनं सालम्बयोगः ।। (त्रिपाद्विभूति उप०, अ० 8 ।।)

अर्थ—'मैं ब्रह्म हूं', इस प्रकार की भावना द्वारा, जैसे परम तेजोमय महानदी का प्रवाह परम तेजोमय स्वरूप में प्रवेश कर जाता है, जैसे परम तेजोमय समुद्र

की तरंगें उस परम तेजोमय समुद्र में प्रवेश कर जायें, उसी प्रकार सच्चिदानन्द-स्वरूप उपासक सर्वरूप से परिपूर्ण, अद्वैत, परमानन्द-स्वरूप परब्रह्म मुझ नारायण में मैं सच्चिदानन्द हूँ, मैं अजन्मा हूँ, मैं परिपूर्ण हूँ---इस प्रकार प्रविष्ट हो जाता है, तब उपासक तरंगहीन, अद्वैत, अपार, निरतिशय सच्चिदानन्द समुद्र हो जाता है।

... ...

सब प्रकार के कर्मों से दूर रहकर, चरणादि अंगों वाली मूर्तिविशेष का उपासना के लिए आलम्बन लेना ही सालम्ब योग है।

साम्य के लिए प्रस्तुत चौपाइयाँ—

तब मुनीश रघुपति गुन गाथा। कहे कछुक सादर खगनाथा ॥1॥
ब्रह्मज्ञान रत मुनि बिग्यानी। तेहि परम अधिकारी जानी ॥
लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा ॥
अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभव गम्य अखंड अनूपा ॥
मन गोतीत अमल अविनासी। निर्विकार निरवधि सुखरासी ॥
सो तें ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं वेदा ॥
बिबिध भाँति मोहि मुनि समुझावा। निर्गुन मत मम हृदयँ न आवा ॥
पुनि मैं कहेउँ नाइ पद सीसा। सगुन उपासन कहहु मुनीसा ॥
राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना ॥
(उ० कां० 5/111)

उमा जे राम चरन रत, बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध ॥उ० कांड, 112 (ख)॥

त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद् के गुरु-शिष्य-संवाद में हमको काकभुशुण्डि जी की आपबीती कथा उभरती हुई दिखती है। यह हम पूर्व पृष्ठों में देख ही चुके हैं कि किस प्रकार उपर्युक्त उपनिषद् और मानस का साम्य एक तारतम्य से स्थापित होता चला जा रहा है। दोनों में साम्य का तारतम्य यहाँ भी दृष्टिगोचर होता है। उपर्युक्त उपनिषद् में गुरु प्रथम निर्गुण-स्वरूप का वर्णन करते हैं, पुनः शिष्य के प्रश्न करने पर सगुण रूप का वर्णन करते हैं। काकभुशुण्डि- कथा में, हम यह क्रम उनकी आपबीती कथा के रूप में अधिक रोचक रीति से वर्णित पाते हैं।

साम्य—

उपनिषद्	मानस
(1) सच्चिदानन्द-स्वरूप सर्व-रूपेण परिपूर्ण, अद्वैत,	—लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज, अद्वैत, अगुन, हृदयेसा ॥

अजन्मा, अपार, निरतिशय (परब्रह्म के लक्षण)

अकल, अनीह, अनाम, अरूपा।
अनुभवगम्य, अखण्ड, अनूपा॥
मनगोतीत अमल अविनासी।
निर्विकार निरवधि सुखरासी॥

उपर्युक्त निर्गुण-स्वरूप के लक्षण उपनिषद् व मानस में समान हैं।

(2) यथा परमतेजामहानदी-प्रवाहः परमतेजः पारावरे प्रविशति।—यथा परमतेज पारावारतरंगाः पारावारे प्रविशन्ति।

—उपनिषद्-वाक्य का भावार्थ है—नदी के अपनत्व के भाव का सागर में विलीन होकर उससे एकरस हो जाना; तथा सागर में उठने वाली तरंगों की पृथक्ता का आभास नष्ट होकर सब तरंगों का सागर से एकरस हो जाना। यही भाव हमको निम्नांकित चौपाइयों में मिलता है—

(1) सो मैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं वेदा॥
(वेद ऐसा गाते हैं कि वही तू है। जल और जल की लहर की भाँति उसमें और तुझ में कोई भेद नहीं है।)

(2) राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रवीना॥
(मेरा मन राम के भक्ति-रूपी जल में मछली हो रहा है। हे मुनीश्वर, इस दशा में उसे कैसे अलग कर सकते हैं?)

'बारि बीचि' पदावली से तो जल की लहर का, जल से ही एकरस होने का भाव स्पष्ट है।

'राम भगति जल मम मन मीना' पदावली में मछली व जल की अपृथक्ता भी वाक्य में वर्णित 'एक रस-भाव' की पुष्टि करती है।

'जल-मीन' की एकरसता के दृष्टांत से प्रत्येक प्राणी इतना परिचित है कि वह शीघ्र ही हृदय में उतर आता है। अतः

	मानस ने उपनिषद्-भाव को अपने पाठकों के अनुरूप ढालकर व्यक्त किया है। 'गावहिं बेदा' पदावली मानस की उपर्युक्त भक्ति को वेदों की सप्रमाणता देती है।
(3) समस्त कर्यातिदूर	—'विगत काम मद क्रोध।' काम (इच्छा) प्रत्येक कार्य की जननी है। पहले हृदय में काम का उदय होता है, तत्पश्चात् वह कार्य में परिणत होता है। 'विगत-काम' होना ही स्वतः सर्व कार्यों से दूर होना है। 'मद और क्रोध' की भावनाएँ काम (इच्छा) को प्रवल करती हैं तथा बरबस कार्य करवाती हैं। इस प्रकार काम (मूल कारण) तथा मद व क्रोध (बरबस कार्य करवाने की शक्ति) यदि इन तीनों से ही 'विगत' हो जाया जाय, तो समस्त कार्य अपने-आप ही विगत हो जाते हैं।
(4) कर चरणादि मूर्ति विशिष्टं	—'राम-चरन-रत' उपनिषद्-वर्णित विग्रह निर्जीव है, मानस-वर्णित विग्रह मानस में सजीव है।
(5) सालम्ब योग-भक्ति	'निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध' उपनिषद्-वाक्य ने जिसे 'सालम्ब योग' कहा है, 'मानस ने जनहिताय' उसकी व्याख्या कर दी है। भक्ति की चरम सीमा है—'जगत को प्रभुमय देखना।'

परमात्मा और जीव के बीच नौ स्थिर सम्बन्ध माने गये है—

पिता च रक्षकश्शेषी भर्ता ज्ञेयो रमापतिः।
स्वाम्याधारो ममात्मा च भोक्ता चाद्यमनूदितः॥

परमात्मा को जगत्-पिता मानने पर जगत् से उसका पुत्र-सम्बन्ध स्वतः स्थापित हो जाता है। इस प्रकार ये जीव-परमात्म-सम्बन्ध नौ हैं। भक्ति भी नवधा है।

रामचरितमानस में नवधा भक्ति

नवधा भक्ति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन, करइ कपट तजि गान॥ 35॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छम दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोते संत अधिक कर लेखा॥
आठवँ जथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥
नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥ 3॥
(अर० कां०, 3)

इस प्रकार रामचरितमानस वर्णित नवधा भक्ति इस प्रकार हुई—

(1) संतन्ह कर संगा, (2) रति (प्रेम), मम कथाप्रसंगा, (3) अभिमान रहित हो गुरु के चरणों की सेवा करना, (4) कपट छोड़ कर भगवान् का गुण-गान, (5) मंत्र जाप मम दृढ़ विस्वासा, (6) इन्द्रियों का नियंत्रण, (7) जगत् को राम-मय देखना, (8) जैसी प्रीति हो, उसी में यथा लाभ संतोष करना, (9) सबके साथ कपट-रहित वर्ताव करना, हर्ष-विषाद छोड़ कर भगवान् में भक्ति।

साधारणतया नवधा भक्ति के ये नौ रूप माने जाते हैं—

(1) कीर्तन, (2) स्मरण, (3) श्रवण, (4) पाद-सेवन, (5) आत्म-निवेदन, (9) वन्दन, (7) सख्य भाव, (8) दास्य भाव, (9) अर्चन।

परमात्म-जीव-सम्बन्ध तथा भक्ति

(1) **पिता-पुत्र भाव**—परमेश्वर जगत्-पिता है अतः जीव के साथ पुत्रत्व-भावना। पिता का यश-गान, कीर्तन।

मानस—चौथि भगति मम गुन गन, करइ कपट तजि गान।

(2) **रक्ष्य-रक्षक भाव**—परमात्मा जीव-रक्षक है अतः रक्ष्य-रक्षक भाव। आत्म-निवेदन।

मानस—आठवँ जथालाभ संतोषा।

(3) **शेष-शेषि भाव**—भगवत्-उन्मुख होना ही परिपूर्णता की प्राप्ति है। वन्दन।

मानस—प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।

(4) भर्ता-भार्याभाव—परमात्मा एकमात्र पुरुष और जगत-उत्पत्तिकारिणी माया शक्ति स्वरूपिणी। अत: पाद-सेवन।

मानस—गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।

(5) ज्ञाता-ज्ञेय भाव—भगवान् उपास्य है, जीव उपासक है अत: ज्ञातृत्व भाव। ज्ञानार्थं श्रवण।

मानस—दूसर रति मम कथा प्रसंगा।

(6) स्व-स्वामि भाव—जीव बरता जाता है, परम पुरुष बर्तने का आधिपत्य रखता है। अत: स्वामिभाव—दास्य।

मानस—मंत्रजाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥

(7) आराध्य-आराधक भाव—भगवान् आराध्य हैं, जीव आराधक है, अत: आराधेय-भाव। सख्य भाव।

मानस—नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हियँ हरप न दीना॥

(8) आत्म शरीर भाव—नियन्ता, धारक और शेषी के रूप में जीवों में सदैव वर्तमान। स्मरण।

मानस—सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक कर लेखा॥

(9) भोक्ता-भोग्य भाव—जीव परमात्मा का भोज्य पदार्थ होने से भोग्य भाव। अर्चन।

मानस—छम दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरन्तर सज्जन धरमा॥

'भक्त का वन्दनीय होना'—

मदुपासकः सर्ववन्द्यो भवति॥ (त्रिपाद्विभूति उप०, अ० 8)

अर्थ—मेरा उपासक सर्वत्र वन्दनीय है।

(1) राम सनेहँ सहस मन जासू। साधु सभाँ बड़ सादर तासू।
(2 । 277, अ० कां०)

(2) कपटी कायर कुमति कुजाती। लोक बेद बाहेर सब भाँती॥
राम कीन्ह पावन जब ही तें। भयउँ भुवन भूषन तब ही तें॥
(अ० कां०, 1।186)

(3) काहूँ बैठन कहा न ओही। राखि न कोइ राम कर द्रोही॥
मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥
मित्र करइ सत रिपु कै करनी। ता कहँ बिबुध नदी बैतरनी॥
सब जगु ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥ 4॥
नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥
पठवा तुरत राम पहिं ताही। कहेसि पुकारि प्रनत हित पाहीं॥ 5॥

रामचरितमानस में नवधा भक्ति

नवधा भक्ति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन, करइ कपट तजि गान॥ 35॥
मंत्र जाप मम दृढ़ विस्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा॥
छम दम सील विरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक कर लेखा॥
आठवँ जथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥
नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥ 3॥
(अर० कां०, 3)

इस प्रकार रामचरितमानस वर्णित नवधा भक्ति इस प्रकार हुई—

(1) संतन्ह कर संगा, (2) रति (प्रेम), मम कथाप्रसंगा, (3) अभिमान रहित हो गुरु के चरणों की सेवा करना, (4) कपट छोड़ कर भगवान् का गुण-गान, (5) मंत्र जाप मम दृढ़ विस्वासा, (6) इन्द्रियों का नियंत्रण, (7) जगत् को राम-मय देखना, (8) जैसी प्रीति हो, उसी में यथा लाभ संतोष करना, (9) सबके साथ कपट-रहित बर्ताव करना, हर्ष-विषाद छोड़ कर भगवान् में भक्ति।

साधारणतया नवधा भक्ति के ये नौ रूप माने जाते हैं—

(1) कीर्तन, (2) स्मरण, (3) श्रवण, (4) पाद-सेवन, (5) आत्म-निवेदन, (9) वन्दन, (7) सख्य भाव, (8) दास्य भाव, (9) अर्चन।

परमात्म-जीव-सम्बन्ध तथा भक्ति

(1) **पिता-पुत्र भाव**—परमेश्वर जगत्-पिता है अतः जीव के साथ पुत्रत्व-भावना। पिता का यश-गान, कीर्तन।

मानस—चौथि भगति मम गुन गन, करइ कपट तजि गान।

(2) **रक्ष्य-रक्षक भाव**—परमात्मा जीव-रक्षक है अतः रक्ष्य-रक्षक भाव। आत्म-निवेदन।

मानस—आठवँ जथालाभ संतोषा।

(3) **शेष-शेषि भाव**—भगवत्-उन्मुख होना ही परिपूर्णता की प्राप्ति है। वन्दन।

मानस—प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।

(4) **भर्ता-भार्याभाव**—परमात्मा एकमात्र पुरुष और जगत-उत्पत्तिकारिणी माया शक्ति स्वरूपिणी। अतः पाद-सेवन।

मानस—गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।

(5) **ज्ञाता-ज्ञेय भाव**—भगवान् उपास्य है, जीव उपासक है अतः ज्ञातृत्व भाव। ज्ञानार्थ श्रवण।

मानस—दूसर रति मम कथा प्रसंगा।

(6) **स्व-स्वामि भाव**—जीव बरता जाता है, परम पुरुष वर्तने का आधिपत्य रखता है। अतः स्वामिभाव—दास्य।

मानस—मंत्रजाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥

(7) **आराध्य-आराधक भाव**—भगवान् आराध्य हैं, जीव आराधक है, अतः आराधेय-भाव। सख्य भाव।

मानस—नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

(8) **आत्म शरीर भाव**—नियन्ता, धारक और शेषी के रूप में जीवों में सदैव वर्तमान। स्मरण।

मानस—सातवं सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक कर लेखा॥

(9) **भोक्ता-भोग्य भाव**—जीव परमात्मा का भोज्य पदार्थ होने से भोग्य भाव। अर्चन।

मानस—छम दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरन्तर सज्जन धरमा॥

'भक्त का वन्दनीय होना'—

मदुपासकः सर्ववन्द्यो भवति॥ (त्रिपाद्विभूति उप०, अ० 8)

अर्थ—मेरा उपासक सर्वत्र वन्दनीय है।

(1) राम सनेहँ सहस मन जासू। **साधु सभाँ बड़ आदर तासू।**
(2।277, अ० कां०)

(2) कपटी कायर कुमति कुजाती। लोक बेद बाहेर सब भाँती॥
राम कीन्ह पावन जब ही तें। **भयउ भुवन भूषन तब ही तें॥**
(अ० कां०, 1।186)

(3) काहूँ बैठन कहा न ओही। **राखि न कोइ राम कर द्रोही॥**
मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥
मित्र करइ सत रिपु कै करनी। ता कहुँ बिबुध नदी बैतरनी॥
सब जगु ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥ 4॥
नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥
पठवा तुरत राम पहिं ताही। कहेसि पुकारि प्रनत हित पाहीं॥ 5॥

रामचरितमानस में नवधा भक्ति

नवधा भक्ति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन, करइ कपट तजि गान॥ 35॥
मंत्र जाप मम दृढ़ विस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छम दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोते संत अधिक कर लेखा॥
आठवँ जथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥
नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥ 3॥
(अर० कां०, 3)

इस प्रकार रामचरितमानस वर्णित नवधा भक्ति इस प्रकार हुई —

(1) संतन्ह कर संगा, (2) रति (प्रेम), मम कथाप्रसंगा, (3) अभिमान रहित हो गुरु के चरणों की सेवा करना, (4) कपट छोड़ कर भगवान् का गुण-गान, (5) मंत्र जाप मम दृढ़ विस्वासा, (6) इन्द्रियों का नियंत्रण, (7) जगत् को राम-मय देखना, (8) जैसी प्रीति हो, उसी में यथा लाभ संतोष करना, (9) सबके साथ कपट-रहित बर्ताव करना, हर्ष-विषाद छोड़ कर भगवान् में भक्ति।

साधारणतया नवधा भक्ति के ये नौ रूप माने जाते हैं—

(1) कीर्तन, (2) स्मरण, (3) श्रवण, (4) पाद-सेवन, (5) आत्म-निवेदन, (9) वन्दन, (7) सख्य भाव, (8) दास्य भाव, (9) अर्चन।

परमात्म-जीव-सम्बन्ध तथा भक्ति

(1) **पिता-पुत्र भाव**—परमेश्वर जगत्-पिता है अतः जीव के साथ पुत्रत्व-भावना। पिता का यश-गान, कीर्तन।

मानस —चौथि भगति मम गुन गन, करइ कपट तजि गान।

(2) **रक्ष्य-रक्षक भाव**—परमात्मा जीव-रक्षक है अतः रक्ष्य-रक्षक भाव। आत्म-निवेदन।

मानस—आठवँ जथालाभ संतोषा।

(3) **शेष-शेषि भाव**—भगवत्-उन्मुख होना ही परिपूर्णता की प्राप्ति है। वन्दन।

मानस—प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।

(4) भर्ता-भार्याभाव —परमात्मा एकमात्र पुरुष और जगत-उत्पत्तिकारिणी माया शक्ति स्वरूपिणी। अतः पाद-सेवन।

मानस—गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।

(5) ज्ञाता-ज्ञेय भाव—भगवान् उपास्य है, जीव उपासक है अतः ज्ञातृत्व भाव। ज्ञानार्थ श्रवण।

मानस—दूसर रति मम कथा प्रसंगा।

(6) स्व-स्वामि भाव—जीव वरता जाता है, परम पुरुष वर्तने का आधिपत्य रखता है। अतः स्वामिभाव—दास्य।

मानस—मंत्रजाप मम दृढ़ विस्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा॥

(7) आराध्य-आराधक भाव—भगवान् आराध्य हैं, जीव आराधक है, अतः आराधेय-भाव। सख्य भाव।

मानस—नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

(8) आत्म शरीर भाव—नियन्ता, धारक और शेषी के रूप में जीवों में सदैव वर्तमान। स्मरण।

मानस—सातवं सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक कर लेखा॥

(9) भोक्ता-भोग्य भाव—जीव परमात्मा का भोज्य पदार्थ होने से भोग्य भाव। अर्चन।

मानस—छम दम सील विरति बहु करमा। निरत निरन्तर सज्जन धरमा॥

'भक्त का वन्दनीय होना'—

मदुपासकः सर्ववन्द्यो भवति॥ (त्रिपाद्विभूति उप०, अ० 8)

अर्थ—मेरा उपासक सर्वत्र वन्दनीय है।

(1) राम सनेहँ सहस मन जासू। साधु सभाँ बड़ सादर तासू।
(2। 277, अ० कां०)

(2) कपटी कायर कुमति कुजाती। लोक वेद बाहेर सब भाँती॥
राम कीन्ह पावन जब ही तें। भयउँ भुवन भूषन तब ही तें॥
(अ० कां०, 1।186)

(3) काहूँ बैठन कहा न ओही। राखि न कोइ राम कर द्रोही॥
मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ विष सुनु हरिजाना॥
मित्र करइ सत रिपु कै करनी। ता कहँ विबुध नदी बैतरनी॥
सब जगु ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥ 4॥
नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥
पठवा तुरत राम पहिं ताही। कहेसि पुकारि प्रनत हित पाहीं॥ 5॥

आतुर सभय गहेसि पद जाई। त्राहि त्राहि दयाल रघुराई॥
अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमन्द जानि नहिं पाई॥ 6॥
(अ० कां०, 2)

जयंत का भयभीत होना, पुन: 'त्राहि त्राहि' करके राम की शरण में आना, तथा राम-विमुख होने पर माता का मृत्यु के समान, पिता का यमराज के समान, सुधा का विष के समान, मित्र का रिपु के समान, गंगा नदी का वैतरणी के समान हो जाना, समस्त जगत् का अग्नि के समान हो जाना—ये सब इसका उदाहरण है कि जो राम-विमुख है, उसके लिए जगत् महा दुःखमय है तथा जो राम का प्रेमी व उपासक है, वह सर्वत्र वन्दनीय है।

भक्तवत्सलता—

भक्तवत्सल: स्वयमेव सर्वेभ्यो मोक्षविघ्नेभ्यो भक्तिनिष्ठान्त्सर्वान्परिपालयति। सर्वाभीष्टान्प्रयच्छति। मोक्षं दापयति॥ त्रिपाद्विभूति उप०, अ० 8)

भक्तवत्सल भगवान् स्वयं ही मोक्ष के सभी विघ्नों से सभी भक्तिनिष्ठ लोगों की रक्षा करते हैं। सर्व अभीष्ट पूर्ण करते हैं एवं उनको मुक्ति दिलवाते हैं।

साम्य के लिए मानस में नारद-विवाह का दृष्टान्त

तव विवाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा॥
सुनि मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखै महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहिं पाछिल बाता॥
मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सम सुत दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥
यह विचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं॥
(अ० कां०, 5।43)

अवगुन मूल सूलप्रद, प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निवारन, मुनि मैं यह जिय जानि॥ (अ० कां०, 44)

साम्य—

उपनिषद्-भाव	मानस-भाव
'भक्तवत्सल: स्वयमेव सर्वेभ्यो मोक्षविघ्नेभ्यो भक्तिनिष्ठान्त्सर्वान्परिपालयति।' भक्तवत्सल	उपनिषद्-वर्णित भाव मानस में 'नारद-विवाह' के दृष्टान्त के रूप में आया है। जहाँ स्वयं भगवान् ने मध्य में आकर

भगवान् स्वयं भक्तिनिष्ठ लोगों की रक्षा करते हैं।

नारद का अनहित देखकर उनका विवाह होने से रोक दिया, और भक्त नारद का श्राप सहर्ष स्वीकार किया है।

अवगुन मूल मूलप्रद
प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निवारन,
मुनि मैं यह जियँ जानि ॥44॥

युवती स्त्री का पीड़ादायक दुःख का स्वरूप होने के कारण भगवान् का नारद को विवाह न करने देना विघ्ननाशक रूप में आया है।

माँ के समान भक्तों की रक्षा करना तथा अग्नि या सर्प को पकड़ते हुए बालक को जिस प्रकार माँ बचाती है, उस प्रकार बचाने में भक्तवत्सलता का भाव आया है।

सुनि रघुपति के बचन सुहाए।
मुनि तन पुलक नयन भरि आए॥
कहहु कवन प्रभु कै असि रीती।
सेवक पर ममता अरु प्रीती॥
(अ० कां०, 1।45)

उपर्युक्त चौपाई भक्तवत्सलता का भाव स्पष्ट कर रही है।

भगवान् की भक्तवत्सलता के उदाहरण की अन्य चौपाइयाँ—चौपाई संख्या (2) यह भाव दर्शाती है कि भगवान् के सम्मुख केवल भक्त ही आ सकता है। जो भगवान् से विमुख है वह आ ही नहीं सकता।

(2) कोटि विप्र बध लागहि जाहू।
आएँ सरन तजउँ नहि ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जब ही।
जन्म कोटि अघ नासहि तब ही॥
(सु० कां०, 1।44)

पापवंत कर सहज सुभाऊ।
भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥
जौं पै दुष्ट हृदय सोइ होई।
मोरे सनमुख आवकि सोई॥

(3) मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिही।
उर अपराध न एकउ धरिही॥
(सु० कां०, 3157)

(4). सरन गएँ प्रभु ताहु न त्यागा।
बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥
(सु० कां०, 4139)

(5) प्रनत पाल रघुनायक,
करुना सिंधु खरारि।
गएँ सरन प्रभु राखिहैं,
तव अपराध बिसारि॥
(सु० कां०, 22)

(6) मम पन सरनागत भयहारी॥
(सु० कां०, 4143)

(7) प्रनत पाल रघुबंसमनि,
त्राहि त्राहि अब मोहि।
आरत गिरा सुनत प्रभु,
अभय करैगो तोहि॥
(लं० कां०, 20)

(8) जौं सभीत आवा सरनाई।
राखिहउँ ताहि प्रान की नाई॥
(सु० कां०, 4144)

(9) सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ।
जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥
जौं नर होइ चराचर द्रोही।
आवै सभय सरन तकि मोही॥
करउँ सद्य सोइ साधु समाना।
(सु० कां०, 48)

सर्वाभीष्टान्प्रयच्छति (समस्त अभीष्ट प्रदान करते हैं।)

निम्नांकित चौपाइयों में उपनिषद्—भाव प्रतिबिंबित है—

(1) जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।

मोर दरसु अमोघ जग माहीं।
अस कहि राम तिलक तेहि सारा।
सुमन बृष्टि नभ भई अपारा।
रावण क्रोध अनल निज
स्वास समीर प्रचंड।
जरत बिभीषन राखेउ
दीन्हेउ राजु अखंड।
(49 (क) सु० कां०)

जो संपति सिव रावनहि,
दीन्हि दिएँ दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहि,
सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥
(49 (ख) सु० कां०)

भक्त की इच्छा हो या न हो, परन्तु भगवान् के दर्शन का यह फल है कि वह बरबस ही भक्त को अभीष्ट प्रदान करते हैं। विभीषण का राजतिलक इसका ज्वलंत उदाहरण है।

मोक्षं दापयति

मानस एक भक्ति-ग्रंथ है अतः ज्ञान पर भक्ति की प्रधानता स्थापित करना मानस का ध्येय है। उल्लेखनीय यह है कि जिस क्रम से उपनिषद् में उद्धृत अंश में 'मुक्ति' का भाव व्यक्त हुआ है, उसी क्रम से मानस में 'मुक्ति' का भाव ग्रहण करते हुए भक्ति का स्थापन हुआ है—
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहुं ग्यान भगति नहि तजहीं—कथन स्वयं भगवान् के श्रीमुख से व्यक्त होने के कारण पाठक के हृदय पर सर्वाधिक प्रभाव डालते हैं।

ज्ञान पर भक्ति की महत्ता

चतुर्मुखादीनां सर्वेषामपि विना विष्णुभक्त्या कल्पकोटिभिर्मोक्षो न जायते।

भक्ति के बिना ब्रह्मज्ञान कभी उत्पन्न नहीं होता। विष्णु की भक्ति के बिना कोटि कल्पों में भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

साम्य प्रस्तुत करने वाली मानस की चौपाइयां

(1) मोह न राम पेम बिनु ग्यानू ॥ (अयो० कां०, 3।277)
(2) मिलहि न रघुपति बिनु अनुरागा। किएं जोग तप ग्यान बिरागा॥
(3) सरुज सरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरि भगति जायँ जप जोगा॥
(अयो० कां०, 3।178)
(4) रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
(अयो० कां०, 3।137)
(5) सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥
(6) सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥
समदरसी मोहि कहँ सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥4॥
सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत ॥3॥ किष्किंधा कांड)

उपर्युक्त चौपाइयां व दोहे उपनिषद-उद्धृत भाव को ही दुहरा रहे हैं कि बिना प्रेम भक्ति के प्राणी की सद्गति नहीं होती।

संदर्भ

1. गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
   गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
2. (क) सुर नर मुनि सचराचर साईं।
   (ख) मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं।
   (ग) मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा।
3. हनुमान-मिलन के पूर्व का संदर्भ है।
4. कथं जीवानामनादिसंसारभ्रमः तन्निवृत्तिर्वा कथमिति। कथं मोक्षमार्गस्वरूपं च। मोक्षसाधनं कथमिति। को वा मोक्षोपायःकी दृशः मोक्षस्वरूपं। का वा सायुज्यमुक्तिः। एतत्सर्वं तत्त्वतः कथनीयमिति॥ प्रश्नोप०, प्रश्न 3॥
5. कहहु सो भगति करहु जेहि दाया।
6. यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्धाति॥छां० उप०, 7।1॥
   निष्ठा गुरुशुश्रूषादिस्तत्परत्वं ब्रह्मविज्ञानाय॥छां० उप० 20।67॥
   गुरु-शुश्रुषा आदि को निष्ठा कहते हैं तथा ब्रह्मविज्ञान के लिए तत्परता को भी 'निष्ठा' कहते हैं।
7. उपक्रम, उपसंहार, उपपत्ति, अभ्यास, अर्थापत्ति, अपूर्व, फलं।

8. यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी—भक्तिमान् यः स मे प्रियः ।। (गीता)

9. तहँ वसि हरिहि भजइ जिमि कागा । सो सुनु उमा सहित अनुरागा ।।2।।
पीपर तरु तर ध्यान सो धरई । जाप जग्य पाकरि तर करई ।।
आंव छाँह कर मानस पूजा । तजि हरि भजनु काजु नहि दूजा ।।3।।
बर तर कह हरि कथाप्रसंगा । आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा ।।
राम चरित विचित्र विधि नाना । प्रेम सहित कर सादर गाना ।।4।।
(उ० कां०, 57)

10. मेरी कृपा से तेरे हृदय में सर्व गुण है, भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, विराग, जोग । मेरे चरित्र के रहस्य का भेद है । माया के भ्रम तुझको व्याप्त नहीं होंगे । मुझको अनादि, अजन्मा अगुण, तथा गुणों की खान ब्रह्म जानना ।

11. 'गरुड-काकभुशुण्डि' संवाद की अन्तर्कथा ।

12. नाटकीयता—काकभुशुण्डि जी का लोमश मुनि के पास जाना; ज्ञान को अन्यथा भक्ति में ही रुचि दिखाना—अतः शाप का भागी बनना—तत्पश्चात् गुरु-कृपा का अनुग्रह पाना ।
पुनि पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा । तब मुनि बोलेउ बचन सकोपा ।।
मूढ़ परम सिख देउँ न मानसि । उत्तर प्रतिउत्तर बहु आनसि ।।
सत्य बचन बिस्वास न करही । बायस इव सबही ते डरही ।।7।।
सठ स्वपच्छ तब हृदयँ बिसाला । सपदि होहि पच्छी चंडाला ।।
लीन्ह साप मैं सीस चढ़ाई । नहि कछु भय न दीनता आई ।।8।।
(112, उ. कां.)
अति बिसमय पुनि पुनि पछिताई । सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई ।।
मम परितोष बिबिध बिधि कीन्हा । हर्षित राम मंत्र तब दीन्हा ।।3।।
(113, उ. कां.)

13. लागे करन ब्रह्म उपदेसा । अज अद्वैत अगुन हृदयेसा ।।
अकल अनीह अनाम अरूपा । अनुभव गम्य अखंड अनूपा ।।
मन गोतीत अमल अबिनासी । निर्बिकार निरवधि सुखरासी ।।
सो तें ताहि तोहि नहि भेदा । बारि बीच इव गावहि बेदा ।।
बिबिध भाँति मोहि मुनि समुझावा । निर्गुन मत मम हृदयँ न आव ।
(उ० कां०, 4।111)

वाच्यभाव नाम—अनाम
रूप—अरूप
कर्म—अकल—इच्छारहित—सर्व कर्म इच्छा से होते हैं ।
वृत्तियों का साक्षी—मन गोतीत (वृत्तियाँ मन में उठती हैं, वह

मन से परे होने के कारण उनका साक्षी है)

आलम्बन-शून्य—अद्वैत (जो एक ही है, उसको दूसरे किस का आलम्बन)

14. उपनिषद् ने साजता के कारण दिये हैं :

(1) भगवान् भक्तिनिष्ठ लोगों की रक्षा करते हैं, आदि।

15. प्रथमं महतां सेवा तद्दया पात्रता ततः।
श्रद्धाथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः॥
ततो रत्यंकरोत्पत्तिः स्वरूपाधिगतस्ततः।
प्रेमवृद्धिः परानन्दे तस्याथ स्फुरणं ततः॥
भगवद्धर्मनिष्ठतः स्वस्मिस्तद्गुणशालिता।
प्रेम्णोऽथ हरमा काष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिका:॥

(भक्तिरसायन)

देवराज नारद मधुसूदन सरस्वती। इसमें भक्ति के नौ के स्थान पर ग्यारह प्रकार माने गये हैं। मानस ने ग्यारह प्रकार की भक्ति को नवधा भक्ति में समाहित कर लिया है।

(1) तद्दया पात्रता—'अमान रहित गुरु पद पंकज सेवा', 'निरत निरंतर सज्जन सेवा', 'मोते संत अधिक कर लेखा' आदि पदावली द्वारा कृपापात्रता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है, इसका संकेत है।

(2) स्वस्मिस्तद्गुणशालिता—'जथा लाभ संतोष', 'सपनेहु नहि देखइ पर-दोषा'—में भक्ति रसायन के भाव निहित हैं।

16. नरके पच्यमानस्तु यमेन परिभाषितः।
किं त्वया नार्चितो देवः केशवः क्लेशनाशनः॥
नरकभोगियों से यम ने कहा—"क्या क्लेश दूर करने वाले केशव का तुमने अर्चन नहीं किया?"

अज्ञेयता

भगवान् का स्वरूप अज्ञेय है। ज्ञेय वस्तु के रूप में वह सदैव अगोचर रहस्यमय बना रहता है। इन्द्रिय-उपलब्ध वस्तु न होने के कारण उसकी अगोचरता और अज्ञेयता है। मानस भी उपनिषद् के समान उसके अज्ञेय-स्वरूप का संकेत करती है।

उपनिषद्

(1) आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्। एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥

(मुं० उप०, 2।1)

प्रकाशवान्, अत्यन्त सन्निकट हृदय में निवास करने वाला, महत्, सबका पोषक (एजत प्राणत् निमिषत्)[1] ये सब प्राणी इसी में समर्पित हैं। इस परमेश्वर को तुम लोग जानो! यह सत् तथा असत् है, वरण करने योग्य है तथा सबकी बुद्धि से परे—अर्थात् जानने में न आने वाला है।

(2) स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता।
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥ श्वेता० उप०, 3।19)

वह सब जानने वाली वस्तुओं को जानता है; परन्तु उसको जानने वाला कोई नहीं है। उसे महान् आदि पुरुष कहते हैं।

मानस चौपाइयाँ

पालन सुरधरनी अद्भुत करनी मरम न जानइ कोई।
जो सहज कृपाला दीन दयाला करउ अनुग्रह सोई॥

(2।186, बा० कां०)

सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहि जाना।
जेहि दीन पियारे बेद पुकारे द्रवउ सो श्री भगवाना॥4॥

साम्य

'परम् विज्ञानात् प्रजानाम्' (सबकी बुद्धि के परे) तथा 'न च तस्यास्ति वेत्ता' (उसको जानने वाला कोई नहीं है।) इन दोनों उपनिषद्-अंशों का वही भाव है जो मानस की चौपाइयाँ इन शब्दों में व्यक्त कर रही हैं, "सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहीं जाना।" 'मरम न जाने कोई'—दोनों का कथन है कि परमात्मा अज्ञेय है। उसको जानने वाला कोई नहीं है।

संदर्भ

1. सब सांस लेने वाले, व आँखों को खोलने-बन्द करने वाले प्राणी।
2. सरस्वती, वेद, शेषजी, और सम्पूर्ण ऋषि कोई भी जिसको नहीं जानते।
3. जिसका भेद कोई नहीं जानता।

चतुर्थ प्रकरण

स्वरूप-दर्शन

सगुण
तथा
निर्गुण स्वरूप

सगुण स्वरूप

इस अध्याय का विषय है, भगवान् के सगुण-स्वरूप के सम्पुट में, उनके निर्गुण-स्वरूप की स्थापना। सगुण-स्वरूप में लिपटी निर्गुण-स्वरूप की स्थापना हमें उस मध्य में लाकर खड़ा कर देती है जिसके एक ओर भक्ति का सगुण-स्वरूप है, और दूसरी ओर वेदान्त का निर्गुण स्वरूप। इस प्रकार सम्पूर्ण मानस भक्ति और ज्ञान का एक संधिस्थान बन गया है। मानस ने स्थान-स्थान पर भगवान् के सगुण स्वरूप में निर्गुण स्वरूप की स्थापना की है।

(1) तात राम नहि नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता। व्यापक अजित अनादि अनंता॥
(1138 सु० कां०)

(2) जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान॥ (118, बा० कां०)

उपर्युक्त दोहों का भाव सर्वत्र मानस में बिखरा पड़ा है। मानस का यह भाव निम्नांकित उपनिषद्-वाक्यों का स्पष्टीकरण कर रहा है—

'कथं ब्रह्म। कालत्रयाबाधितं ब्रह्म। सर्वकालबाधितं ब्रह्म। सगुणनिर्गुण-स्वरूपं ब्रह्म। आदिमध्यान्तशून्यं ब्रह्म। सर्वं खल्विदं ब्रह्म। मायातीतं गुणातीतं ब्रह्म। अनन्तमप्रमेयाखण्डपरिपूर्णं ब्रह्म। अद्वितीय परमानन्द शुद्धबुद्ध-मुक्तसत्य स्वरूपव्यापकाभिन्नापरिच्छिन्नं ब्रह्म। सच्चिदानन्दं स्वप्रकाशं ब्रह्म। मनोवाचामगोचरं ब्रह्म। अखिलप्रमाणागोचरं ब्रह्म। अमितवेदान्तवेद्यं ब्रह्म। देशतः कालतो वस्तुतः परिच्छेदरहितं ब्रह्म। सर्वपरिपूर्णं ब्रह्म। तुरीयं निराकारमेकं ब्रह्म। अद्वैतमनिर्वाच्यं ब्रह्म। प्रणवात्मकं ब्रह्म।

—त्रिपाद्विभूति महानारायण उप० अ० 1-5

'ब्रह्म सगुण है या निर्गुण?' शिष्य के इस प्रश्न पर गुरु का उत्तर है—

यथा सर्वगतस्य निराकारस्य महावायोश्च तदात्मकस्य त्वक्पतित्वेन प्रसिद्धस्य साकारस्य महावायुदेवस्य चाभेद एव श्रूयते सर्वत्र। यथा पृथिव्यादीनां व्यापक-

शरीराणां देवविशेषाणां च तद्विलक्षणतदभिन्नव्यापकापरिच्छिन्ना निजमूर्त्याकार-देवताः श्रूयन्ते सर्वत्र तद्वत्परब्रह्मणः सर्वात्मकस्य साकारनिराकारभेदविरोधो नास्त्येव विविधविचित्रावन्तशक्तेः परब्रह्मणः स्वरूपज्ञानेन विरोधो न विद्यते। तद-भावे सत्यनन्तविरोधो विभाति ॥ 11 और 12 ॥

अथ च रामकृष्णाद्यवतारेष्वद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणः परमतत्त्वपरम-विभावनुसंधानं स्वीयत्वेन श्रूयते सर्वत्र। सर्वपरिपूर्णस्त्राद्वैतपरमानन्द-लक्षणपर-ब्रह्मणस्तु किं वक्तव्यम्। सर्वपरिपूर्णस्य परब्रह्मणः परमार्थतः साकारं विना केवल-निराकारत्वं यद्यभिमतं तर्हि केवल निराकारस्य गगनस्येव परब्रह्मणोऽपि जडत्व-मापद्येत। तस्मात् परब्रह्मणः परमार्थतः साकारनिराकारौ स्वभावसिद्धौ ॥13॥ (त्रिपाद्विभूतिमहानारायण उप०, अध्याय 2)

साम्य

यहाँ मानस व उपनिषद् में अतीव समानता है :

(1) उपनिषद् के प्रश्नकर्त्ता शिष्य में जो गुण हैं, वे ही गुण मानस के प्रश्न-कर्त्ता शिष्य में भी हैं।

शान्तो दान्तोऽतिविरक्तः सुशुद्धो गुरुभक्तस्तपोनिष्ठः शिष्यो ब्रह्मनिष्ठं गुरु-मासाद्य प्रदक्षिणापूर्वकं दण्डवत्प्रणम्य प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयेनोपसंगम्य—भगवन्, गुरो, मे परमतत्त्वरहस्यं विविच्य वक्तव्यमिति। अत्यादरपूर्वकमिति हर्षेण शिष्यं बहूकृत्य गुरुर्वदति—परमतत्त्व रहस्योपनिषत्क्रमः कथ्यते, सावधानेन श्रूयताम् ॥4॥

—त्रिपाद्विभूतिमहा० उप०, अ० 1

भावार्थ—शान्त, अप्रमत्त, अत्यन्त विरक्त, अत्यन्त पवित्र, गुरुभक्त तपस्वी शिष्य ने ब्रह्मनिष्ठ गुरु को प्राप्त कर, उनकी प्रदक्षिणा की, भूमि पर लेटकर उनको साष्टांग प्रणाम किया और दोनों हाथों की अंजलि बाँधकर विनयपूर्वक समीप जाकर कहा, "भगवन्! गुरुदेव! मुझे परमतत्त्व के रहस्य को खोलकर बतलाइये।" अत्यन्त आदरपूर्वक हर्ष से शिष्य की बहुत प्रशंसा करके गुरु बोले, "परमतत्त्व रहस्योपनिषद् का क्रम बतला रहा हूँ, सावधानी से सुनो!"

मानस ने उपनिषद् के समान शिष्य के गुणों की पृथक् सूची भले ही न दी हो; परन्तु मानस ने एक शब्द में ही उन सब गुणों को समाहित कर दिया है। वह शब्द है 'मुनि'। एक मुनि में वे सभी गुण स्वभावतः ही आ जाते हैं जो उपनिषद् में पृथक् रूप से लिखे गये हैं।[1]

अतः मानस का भारद्वाज मुनि को चयन करना, तथा उनको शिष्य-रूप में स्थापित करना, केवल राम-कथा का एक प्रसंग-मात्र नहीं है। शिष्य की पृष्ठभूमि निभाने के पात्र-चयन में मानस ने अतीव सतर्कता बरती है। तथा भारद्वाज मुनि को शिष्य-रूप में प्रस्तुत करके ऐसे पात्र का चयन किया है जिसमें उपनिषद्-वर्णित

शिष्य के सर्वगुण इस सहजता से समावृत होकर आये हैं कि एक ओर वे उपनिषद् के समान ब्रह्म-विषयक प्रश्न के पूर्ण अधिकारी हैं, और दूसरी ओर मानस-कथा-प्रसंग की एक कड़ी भी हैं।

(2) मानस व उपनिषद्—दोनों में एक रूप से ही शिष्य अपने गुरु के चरण पकड़कर तब अपने प्रश्नों को उनके सम्मुख प्रस्तुत करते हैं।[2]

(3) दोनों में ही शिष्यों के प्रश्न सुनकर गुरु-जन प्रसन्न होते हैं। वे पहले शिष्य की प्रश्न के लिए प्रशंसा करते हैं, तब शिष्य का समाधान करते हैं।[3]

(4) दोनों के प्रश्नों का रूप भी एक है। उपनिषद् का प्रश्न है कि ब्रह्म निराकार है या साकार? मानस का भी प्रश्न है कि श्रीराम उपनिषद् में वर्णित निराकार रूप सच्चिदानन्द हैं, अथवा केवल अवधेशकुमार?[4]

(5) दोनों में ही गुरु निराकार स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं।[5]

मानस में, सगुण में निर्गुण स्वरूप को लक्षित करने वाला भाव भगवान् श्रीराम की स्तुति में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। इस संदर्भ में दो स्तुतियाँ अंकित हैं। वे स्तुतियाँ इस प्रकार हैं—

(1) अरण्य कांड में अत्रि मुनि द्वारा की गयी श्रीराम की स्तुति।

(2) लंकाकांड में देवताओं द्वारा की गयी श्रीराम की स्तुति।

तथा—

इन दोनों स्तुतियों में भी कई समानताएँ हैं—

(1) दोनों स्तुति युगल मूर्ति, श्रीराम व सीता, के स्वरूप के सम्मुख की गयी हैं।

(2) ये स्तुतियाँ कुछ इस प्रकार प्राप्त हैं जैसे पूजा-चर्या में आरती। भली-भाँति आसीन व पूजित शान्त देवताओं के सम्मुख जिस प्रकार आरती की जाती है, उसी रूप में दोनों स्तुतियाँ श्रीराम स्वरूप की शान्त आसीन मुद्रा के सम्मुख की गयी हैं।

(3) दोनों स्तुतियों के शब्दों में मधुर स्वरूप की स्थापना है, अभय वर की आकांक्षा है; तथा आदि व अन्त को छोड़कर मध्य-भाग में निर्गुण स्वरूप की स्थापना है।

अत्रि मुनि द्वारा प्रस्तुत स्तुति

श्रीराम की देव तुल्य शान्त आसीन मुद्रा

प्रभु आनन आसीन, भरि लोचन शोभा निरखि।
मुनिवर परम प्रवीन, जोरि पानि अस्तुति करत ॥3॥

स्तुति—

नमामि भक्तवत्सलं कृपालु शील कोमलम्।
भजामि ते पदाम्बुजं अकामिनां स्वधामदम् ॥1॥
निकाम श्याम सुंदरं भवाम्बुनाथ मंदरम्।
प्रफुल्ल कंज लोचनं मदादि दोष मोचनम् ॥2॥
प्रलम्ब बाहु विक्रमं प्रभोऽप्रमेय वैभवम्।
निषंग चाप सायकं, धरं त्रिलोक नायकम् ॥3॥
दिनेश वंश मण्डनं, महेश चाप खण्डनम्।
मुनीन्द्र संत रंजनं, सुरारि वृंद भंजनम् ॥4॥
मनोज वैरि वंदितं, अजादि देव सेवितम्।
विशुद्ध बोध विग्रहं, समस्त दूषणापहम् ॥5॥
नमामि इंदिरापतिं, सुखाकरं सतां गतिम्।
भजे सशक्ति सानुजं, शचीपति प्रियानुजम् ॥6.।
त्वदंघ्रिमूल ये नराः, भजन्ति हीन-मत्सराः।
पतंति नो भवार्णवे, वितर्क-वीचि-संकुले ॥7॥
विविक्तवासिनः सदा, भजन्ति मुक्तये मुदा।
निरस्य इन्द्रियादिकं, प्रयान्ति ते गतिं स्वकम् ॥8॥
तमेकमद्भुतं प्रभुं, निरीहमीश्वरं विभुम्।
जगद्गुरुं च शाश्वतं, तुरीयमेव केवलम् ॥9॥
भजामि भाव वल्लभं, कुयोगिनां सुदुर्लभम्।
स्वभक्त-कल्प-पादपं, समं सुसेव्यमन्वहम् ॥10॥
अनूप रूप भूपतिं, नतोऽहमुर्विजापतिम्।
प्रसीद मे नमामि ते, पदाब्ज-भक्ति देहि मे ॥11॥
पठन्ति ये स्तवं इदं, नरादरेण ते पदम्।
व्रजन्ति नात्र संशयं, त्वदीय भक्तिसंयुताः ॥12॥4॥

(अर० कां०)

देव-स्तुति—

बरषहिं सुमन हरषि सुर, बाजहिं गगन निसान।
गावहिं किन्नर सुरबधू, नाचहिं चढ़ीं बिमान ॥109 (क)॥
जनक सुता समेत प्रभु, सोभा अमित अपार।
देखि भालु कपि हरषे, जय रघुपति सुखसार ॥109 (ख)॥
... ...

दीनबंधु दयाल रघुराया। देव कीन्हि देवन्ह पर दाया ॥
बिस्व द्रोह रत यह खल कामी। निज अघ गयउ कुमारगगामी ॥
तुम्ह समरूप ब्रह्म अबिनासी। सदा एकरस सहज उदासी ॥
अकल अगुन अज अनघ अनामय। अजित अमोघसक्ति करुनामय ॥
मीन कमठ सूकर नरहारी। बामन परसुराम बपु धारी ॥
जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो ॥
यह खल मलिन सदा सुरद्रोही। काम लोभ मदरतअति कोही ॥
अधम सिरोमनि तव पद पावा। यह हमरे मन बिसमय आवा ॥
हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ रत प्रभु भगति बिसारी ॥
भव प्रवाहँ संतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे ॥

करि बिनती सुर सिद्ध सब, रहे जहँ तहँ कर जोरि।
अति सप्रेम तन पुलकि बिधि, अस्तुति करत बहोरि ॥110॥

जय राम सदा सुखधाम हरे। रघुनायक सायक चाप धरे ॥
भव बारन दारन सिंह प्रभो। गुन सागर नागर नाथ बिभो ॥1॥
तन काम अनेक अनूप छबी। गुन गावत सिद्ध मुनींद्र कबी ॥
जसु पावन रावन नाग महा। खगनाथ जथा करि कोप गहा ॥2॥
जन रंजन भंजन सोक भयं। गतक्रोध सदा प्रभु बोधमयं ॥
अवतार उदार अपार गुनं। महि भार बिभंजन ग्यानघनं ॥3॥
अज ब्यापकमेकमनादि सदा। करुनाकर राम नमामि मुदा ॥
रघुबंस बिभूषन दूषन हा। कृत भूप बिभीषन दीन रहा ॥4॥
गुन ग्यान निधान अमान अजं। नित राम नमामि बिभुं बिरजं ॥
भुजदंड प्रचंड प्रताप बलं। खल बृन्द निकंद महा कुसलं ॥5॥
बिनु कारन दीन दयाल हितं। छबि धाम नमामि रमा सहितं ॥
भव तारन कारन काज परं। मन संभव दारुन दोष हरं ॥6॥
सर चाप मनोहर त्रोन धरं। जलजारुन लोचन भूपबरं ॥
सुख मंदिर सुंदर श्रीरमनं। मद मार मुधा ममता समनं ॥7॥
अनवद्य अखंड न गोचर गो। सब रूप सदा सब होइ न गो ॥
इति बेद बदंति न दंतकथा। रबि आतप भिन्नमभिन्न जथा ॥8॥
कृतकृत्य बिभो सब बानर ए। निरखंति तवानन सादर ए ॥
धिग जीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे ॥9॥
अब दीन दयाल दया करिए। मति मोरि बिभेदकरी हरिए ॥
जेहि ते बिपरीत क्रिया करिए। दुख सो सुख मानि सुखी चरिए ॥10॥
खल खंडन मंडन रम्य छमा। पद पंकज सेवित संभु उमा ॥
नृप नायक दे बरदानमिदं। चरनांबुज प्रेम सदा सुभदं ॥11॥

(लं० कां०)

साम्य—

(1) उपनिषद् में निर्गुण स्वरूप की स्थापना प्रमुख है। सगुण स्वरूप की भाव-व्यक्ति उसके मध्य आती है, मानस में सगुण स्वरूप की स्थापना प्रमुख है। निर्गुण स्वरूप की भावाभिव्यक्ति उसके मध्य आती है। यहाँ भी यह अंतर मानस के भक्ति-ग्रंथ और उपनिषद् के ज्ञान-ग्रंथ होने के कारण प्रतीत होता है। दोनों ने अपने-अपने पाठकों की बौद्धिक क्षमता तथा अपने-अपने ग्रंथों के विषयों के अनुरूप इस भाव-साम्य को निबाहा है कि निर्गुण रूप में देखो या सगुण रूप में, दर्शन उसी एक भगवान् के होते हैं। निर्गुण व सगुण एक ही भगवान् के दो रूप हैं।

(2) वाक्य में प्राप्त 'सगुण निर्गुण स्वरूप ब्रह्म।'

तथा— 'अद्वैतमनिर्वाच्यं ब्रह्म।'

के भाव को चौपाइयों में कई रूपों में व्यक्त किया गया है।

(1) तात राम नहि नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता। व्यापक अजित अनादि अनंता॥
(1-39, सु० कां०)

इस चौपाई में भगवान् के निर्गुण व सगुण दोनों स्वरूपों की स्थापना है।

(2) कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव, अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।
मोहि भाव कोसल भूप, श्रीराम सगुन सरूप॥
(7।113, लं० कां०)

इस चौपाई में भी यह प्रतिपादित किया गया है कि किस प्रकार श्रीराम के एक ही स्वरूप को दो भिन्न-भिन्न रूपों से प्राणी भजते हैं—एक है निर्गुण रूप, दूसरा है कोसल-रूप।

(3) निर्गुण सगुण विषम सम रूपं॥(6।11, अर० कां०)

श्रीराम का निर्गुण, सगुण, विषम व समरूप यहाँ स्थापित है।

इस प्रकार उपनिषद् वाक्य व चौपाइयों ने इस भाव का स्थापन किया कि एक ही भगवत्-स्वरूप में निर्गुण व सगुण दोनों स्वरूप अभिन्न होते हैं।

भगवान के जन्म का कारण

श्री महाविष्णु सच्चिदान्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वांगसुन्दरमुनियो बनवासिनो विस्मिता बभुवुः। तं होचुर्नोऽवद्यामवतारोवै गायन्ते आलिङ्गामो भवन्तमिति॥1॥

रुद्रादीनां वचः श्रुत्वा प्रोवाच भगवान्स्वयम्। अंगसंग करिष्यामि भवद्वाक्यं करोम्यहम्॥2॥ (कृष्णोपनिषत्)

श्री रामचन्द्र जी के सर्वांग-सुन्दर शरीर को देखकर वनवासी मुनियों की इच्छा उसको स्पर्श करने की हुई ॥1॥

रुद्र के दीन वचन सुनकर भगवान् ने उनसे कहा कि मैं तुमको अंग-स्पर्श का अवसर दूंगा और तुम्हारे वचनों को पूरा करूंगा ॥2॥

श्रीकृष्ण-जन्म का कारण यही कहा जाता है।

उपर्युक्त उपनिषद्-वाक्य के समस्त भाव निम्नांकित चौपाइयों में उतर आते हैं। वाक्य में भक्त के प्रेम की विवशता उनके जन्म का कारण बतायी गयी है। मानस ने उपर्युक्त कथन का भावार्थ सांगोपांग रूप से ग्रहण किया है।

साम्य—

श्रीराम के शरीर धारण करने का कारण है—भक्तों का प्रेम। भक्तों के प्रेम के कारण विवश होकर भगवान् को देह धारण करनी होती है।

(1) भगत प्रेम वस सगुन सो होइ।

जो गुन रहित-सगुन सोइ कैसे। जलु हिम उपल बिलग नहि जैसे ॥

(बा. कां. 2/11 क)

(2) सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद।

(3) लव निमेष मुंह भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया ॥

भगति हेतु सोइ दीनदयाला। चितवत चकित धनुप मखसाला ॥

(बा. कां. 3/225)

(4) भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।

किए चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप ॥ 72 क, (उ० कां०)

(5) सो राम रमा निवास संतत् दास बस त्रिभुवन धनी ॥

(4/32 अर० कां०)

जिस प्रकार उपनिषद् वाक्य का कथन है कि अपने भक्त मुनियों की इच्छा पूर्ण करने के लिए—'भक्त हेतु'—ही श्री कृष्ण भगवान ने शरीर धारण किया; उसी प्रकार उपर्युक्त चौपाइयाँ भी यही दर्शाती हैं कि 'भगत-हेतु' तथा 'भगति-वस' ही भगवान ने श्रीराम रूप में शरीर ग्रहण किया।

संदर्भ

1. अर्थ—ब्रह्म कैसा है? तीनों काल में जो अबाधित है। किसी भी काल में जिसका अभाव नहीं होता वह ब्रह्म है। समस्त काल में अबाधित तत्त्व ब्रह्म है। ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों हैं। ब्रह्म आदि, मध्य एवं अन्त से रहित है। यह सब दृश्यमान जगत ब्रह्म है। ब्रह्म मायातीत है और गुणातीत है।

ब्रह्म अनन्त प्रमाणों से अज्ञेय, अखण्ड और परिपूर्ण है। अद्वितीय रूप, परमानन्द, शुद्ध, बुद्ध मुक्त, सत्य स्वरूप, व्यापक, भेदहीन, एवं अपरिच्छिन्न है। ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप एवं स्वतः प्रकाश है। ब्रह्म मन वाणी से अतीत है। ब्रह्म सम्पूर्ण प्रमाणों से परे है। अगणित वेदान्तों द्वारा ब्रह्म ही जानने योग्य है। देश से, काल से, तथा वस्तु से ब्रह्म परिच्छेदहीन है। ब्रह्म, सब प्रकार परिपूर्ण है। ब्रह्म तुरीय स्वरूप, निराकार एवं अद्वितीय है। ब्रह्म द्वैत से साथ अवर्णननीय है। ब्रह्म प्रणव स्वरूप है।

2. अर्थ—जैसे सर्वव्यापी निराकार महावायु का और उसीके स्वरूपभूत त्वक्-इन्द्रियों के अधिष्ठातारूप में प्रसिद्ध साकार महावायु-देवता का अभेद ही सब कहीं सुना जाता है, जैसे पृथ्वी आदि व्यापक शरीर वाले देव विशेषों के उनके उस व्यापक रूप से विलक्षण, किन्तु उस व्यापक रूप से अभिन्न तथा परिच्छिन्न होते हुए भी अपनी मूर्ति के आकार के देवता सर्वत्र सुने जाते हैं, वैसे ही व्यापक परब्रह्म में साकार एवं निराकार का भेद होने पर विरोध नहीं है। विविध प्रकार की अनन्त विचित्र शक्तियों से सम्पन्न परब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर विरोध नहीं रह जाता है। इस ज्ञान के अभाव में ही अनन्त विरोध प्रतीत होते हैं।11/12

और जब श्रीराम-श्रीकृष्णादि अवतार स्वरूपों में अद्वैत परमानन्द-स्वरूप परब्रह्म के परम तत्त्व एवं परमैश्वर्य की स्मृति सर्वत्र स्वाभाविक रूप से ही विद्यमान सुनी जाती है, तब परमानन्द-स्वरूप, सब प्रकार से परिपूर्ण ब्रह्म के विषय में क्या कहा जाय। यदि सर्व परिपूर्ण परब्रह्म का आकार रहित केवल निराकर स्वरूप ही वास्तव में अभिप्रेत हो, तब तो केवल निराकार आकाश के समान परब्रह्म में भी जड़ता आ जायेगी। इसलिए परमार्थतः ब्रह्म के साकार एवं निराकर दोनों ही स्वरूप स्वभावतः सिद्ध हैं।

3. शान्तो दान्तोऽतिविरक्त सुशुद्धो गुरुभक्तस्तपोनिष्ठः शिष्यो···शान्त, अप्रमत्त अत्यन्त विरक्त, अत्यन्त पवित्र, गुरुभक्त, तपस्वी, शिष्य ने···वे सभी गुण 'भारद्वाज मुनि' में मुनि होने के नाते सहज ही है।

4. ब्रह्म निष्ठं गुरुमासाद्य प्रदक्षिणपूर्वकं दाण्डवत्प्रणम्य प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयेनोपसंगम्य भगवन् गुरो मे परमतत्त्वरहस्यं विविच्य वक्तव्यमिति। शिष्य ने ब्रह्मनिष्ठ गुरु को प्राप्त कर, उनकी प्रदक्षिणा की। भूमि पर लेटकर उनको साष्टांग प्रणाम किया और दोनो हाथों की अंजलि बाँधकर विनयपूर्वक समीप जाकर कहा—"भगवन्! गुरुदेव! मुझे परम-तत्त्व के रहस्य को खोलकर बतलाइये ॥4॥ अ० 1 (त्रिपाद्वि उ०)

गुरु-प्राप्ति—

जागवलिक मुनि परम विवेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी ॥2॥

आदर तथा विनय—
सादर चरन सरोज पखारे। अति पुनीत आसन बैठारे ॥
करि पूजा मुनि सुजसु बखानी। बोले अति पुनीत मृदुबानी ॥
प्रश्न—
नाथ एक संसउ बड़ मोरें। करगत बेदतत्त्व सबु तोरें ॥
पूर्वज का विनीतभाव—
कहत सो मोहि लागत भय लाजा। जो न कहउ बड़ होइ अकाजा ॥
संत कहहिं अस नीति प्रभु, श्रुति पुरान मुनि गाव।
होइ न बिमल बिबेक उर, गुरु सन किएं दुराव ॥45॥ (बा० कां०)

5. गुरु का प्रसन्न होना—
अत्यादरपूर्वकमिति हर्षेण शिष्यं बहूकृत्य गुरुर्वदति। परमतत्त्व रहस्योपनिषत्क्रमः कथ्यते सावधानेन श्रूयताम् ॥2॥ अ० (त्रिपाद्विभूति उ०)
अत्यन्त आदरपूर्वक हर्ष से शिष्य की बहुत प्रशंसा करके गुरु बोले—अब मैं परमतत्त्व-रहस्योपनिषद् का क्रम बतला रहा हूँ, अतः सावधानी से सुनो!
आदर पूर्ण—
जागबलिक बोले मुसुकाई। तुम्हहि बिदित रघुपति प्रभुताई ॥
प्रशंसा—
रामभगत तुम मन क्रम बानी। चतुराई तुम्हारि मैं जानी ॥
चाहहु सुनै राम गुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रस्न मनहुँ अति मूढ़ा ॥
तात सुनहु सादर मनु लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई ॥ 3।47॥ (बा.कां.)

6. प्रश्न—वैकुण्ठः साकारो नारायणः साकारश्च। तुरीयं तु निराकारम्। साकारः सावयवो निरवयवं निराकारम्। तस्मात्साकारमनित्यं नित्यं निराकारमिति श्रुतेः। यद्यत्सावयवं तत्तदनित्यामित्यनुमानाच्चेति प्रत्यक्षेण दृष्टत्वाच्च। अतस्तयोरनित्यत्वमेव वक्तुमुचितं भवति कथमुक्तं नित्यत्वमिति। तुरीयमक्षरमिति श्रुतेः। तुरीयस्य नित्यत्वं प्रसिद्धम्। नित्यत्वानित्यत्वे परस्परविरुद्धधर्मौ। तयोरेकस्मिन्ब्रह्मण्यत्यन्तविरुद्धं भवति। तस्माद्वैकुण्ठस्य च नारायणस्य च नित्यत्वमेव वक्तुमुचितं भवति।
॥1॥अ 2॥ (त्रिपाद्विभूतिमहा, उ.) साकार निराकार स्वरूप निरूपणं।

अर्थ—वैकुण्ठ व श्री नारायण को भी आपने नित्य बताया हैं। वे ही तुरीय तत्त्व हैं—यह कहा है। श्री वैकुण्ठ धाम साकार है, श्रीमन्नारायण भी साकार हैं, किन्तु तुरीयतत्त्व निराकार है। साकार तत्त्व अवयव-युक्त होता है और निराकार अवयव-रहित। अतः श्रुति कहती है कि साकार अनित्य होता है और निराकार नित्य होता है। जो-जो अवयव वाले हैं, वे सब अनित्य हैं—अनुमान-प्रमाण से यही सिद्ध होता है तथा प्रत्यक्ष भी देखा जाता है।

अतः वैकुण्ठ एवं नारायण की अनित्यता बतलाना ही उचित है। आपने उनका नित्यत्व किस प्रकार बतलाया है ? तुरीयत्व अक्षर है यह श्रुति कहती हैं, अतः तुरीयतत्व का नित्यत्व प्रसिद्ध है। नित्य एवं अनित्य—ये विरोधी धर्म है। इसलिए श्री वैकुण्ठ धाम एवं श्रीमन्नारायण की भी अनित्यता ही बतलाना उचित है।

अस विचारि प्रगटउँ निज मोहू। हरहु नाथ करि जन पर छोहू॥
राम नाम कर अमित प्रभावा। सन्त पुरान उपनिषद् गावा॥
संतत जपत संभु अविनासी। सिव भगवान ग्यान गुन रासी॥
आकर चारि जीव जग अहहीं। कासीं मरत परम पद लहहीं॥
सोपि राम महिमा मुनिराया। सिव उपदेसु करत करि दाया॥
रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही। कहिअ बुझाय कृपानिधि मोही॥
एक राम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित विदित संसारा॥
नारि विरहँ दुखु लहेउ अपारा। भयउ रोषु रन रावनु मारा॥
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्यधाम सर्वग्य तुम्ह, कहहु विवेकु विचारि॥46॥ (बा० कां०)
जैसे मिटै मोर भ्रम भारी। कहहु सो कथा नाथ विस्तारी
॥1॥47॥ (बा० कां०)

(2) ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद॥50॥
विष्नु जो सुर हित नर तनु धारी। सोइ सर्वग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजइ सो कि अग्य इव नारी। ग्यान धाम श्रीपति असुरारी॥
॥1॥51॥ (बा० कां०)

दोनों (उपनिषद् व मानस) के प्रश्नों का सार है कि निराकार प्रभु साकार कैसे हो सकता है।

7. इसका उदाहरण अध्याय के प्रारम्भ में दिया गया है।

(1) कथं ब्रह्म·········
यथा सर्वगतस्य·········

निर्गुण स्वरूप

विराट् स्वरूप

मानस में प्रभु के विराट् स्वरूप के दर्शन दो स्थानों पर होते हैं। एक मां कौशल्या को जन्म-समय पर, और दूसरा काक्भुशुण्डि को 'बाल-स्वरूप राम उदर' में। ये वे दो स्थल हैं, जहां भगवान ने स्वयं अपने विराट् स्वरूप के दर्शन दिए हैं। तीसरा स्थल जहां हमें प्रभु के विराट् 'स्वरूप के दर्शन तो नहीं होते, परन्तु विराट् स्वरूप का वर्णन मिलता है—वह है, मंदोदरी द्वारा (लंका-कांड में) रावण को श्रीराम के प्रति युद्ध छेड़ने से मना करने पर।

मानस में जन्म-स्थान का यह विराट् दर्शन दो स्थानों पर विभाजित है। एक जन्म के समय तथा दूसरा, बाललीला के समय भोग ग्रहण करने की अवस्था में। यह बाल कांड है; मानस के प्रारम्भ का प्रथम कांड; यहां मानस पाठकों को केवल 'विराट् स्वरूप' की झलकियां दिखाता रहा है। साधक को ज्ञान की उतनी ही मात्रा दी जाती है, जितनी उसकी बुद्धि को पाच्य हो सके। यही साधक जो बाल-कांड के प्रारम्भ में विराट् स्वरूप की झलकियां देख रहा है, मानस-पठन में उत्तर कांड तक पहुंचते-पहुंचते इतनी बौद्धिक क्षमता ग्रहण कर लेता है कि उसको विराट् स्वरूप का पूर्ण दिग्दर्शन एक ही बार में कराया जा सकता है।

इसी प्रकार का 'विराट् दर्शन' हम को गीता में भी प्राप्त है। गीता को 'उप-निषदों का सार' कहा गया है। तथा गीता प्रस्थान-त्रयी के अन्तर्गत आती है; अतः इस ग्रन्थ में मानस से उसका साम्य देखने का औचित्य है। कौशल्या व अर्जुन—दोनों पात्रों में विशेष साम्य है। दोनों में अपने-अपने पात्रों पर अनन्य प्रेम है, दोनों ही अपने प्रिय के 'प्रभु स्वरूप से अनभिज्ञ है; दोनों ही प्रभु के विराट् स्वरूप को अपने प्रेम-स्वरूप के बीच नहीं आने देना चाहते, तथा विराट् स्वरूप-दर्शन पर दोनों ही हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हैं कि अपने इस महारूप को समेट कर, प्रभु अपने सहज रूप में आ जाएं। दोनों को ही प्रभु के विराट् स्वरूप को देखकर हर्ष भी है और वे भय भी। और दोनों ही विराट् स्वरूप की चर्चा किसी से नहीं

करते, आँखें मूंद कर ही अपने हृदय में उसको धारण किये रहते हैं। संक्षेप में दोनों प्रेमी हैं, तथा प्रेमी अपने उपास्य देव का वही रूप नेत्रों से देखना चाहता है जो उसको प्रिय लगता रहा है। दोनों के भय भी समान प्रकार के हैं कि हमने उनका प्रभुत्व नहीं जाना और उनको मनुज समझकर उनसे मानव सम्वन्धियों-सा सांसारिक सम्बन्ध स्थापित किया।'

मानस- -अस्तुति करि न जाय भय माना।
जगतपिता मैं सुत करि जाना॥ (बा० कां० 8/202)

गीता—अस्तुति करि न जाय का भाव--

अर्जुन जितनी भी स्तुति करते हैं, सब उनको अपर्याप्त ही प्रतीत होती है। अतः वे बारंबार नमस्कार कर रहे हैं। हृदय में जब तृप्ति का आभास नहीं होता तब तक हार्दिक तृप्ति की अभिलाषा से उस कार्य को बारंबार करना होता है। अर्जुन के हृदय में अतृप्ति का भाव मूल भाव है, प्रत्येक रूप से नमस्कार करके वह तृप्ति खोज रहा है। यह मूल भाव, एक अर्ध चौपाई में कौशल्या के हृदय से मानस ने व्यक्त कर दिया है—

(अस्तुति करि न जाय भय माना')

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ (भ० गीता 11/35)

उपर्युक्त श्लोक में भय के कारण किस प्रकार अर्जुन स्तुति नहीं कर पा रहा है इसका पूर्ण चित्रीकरण है। इसके पश्चात् वह भगवान के अनेक रूपों का स्मरण करके उनको नमस्कार कर रहा है। स्तुति करने योग्य को ही प्रणाम किया जाता है अतः यहाँ स्तुति व प्रणाम एक ही भाव के सूचक हैं, कार्य-कारण-एकत्व के कारण (प्रणम्य ईड्यम् (गीता, 11/44)

(1) सर्वे नमस्यन्ति च सिद्ध संघा॥ 36॥
(2) कस्माच्च तेन नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे॥ 37॥
(3) नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ 39॥
(4) नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व॥ 40॥
(5) तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्॥ 44॥

जगत पिता मैं सुत करि जाना—जगत्-पिता को मनुज मानकर उनके साथ मनुजों का सा भौतिक सम्बन्ध मानकर, व्यवहार करने की मानसिक प्रतिक्रिया अर्जुन व कौशल्या में समान है।

गीता में श्लोक का भाव-तारतम्य भी उसी रूप में आया है जिस रूप में कि चौपाई का भाव—भय मान कर स्तुति न कर सकना तत्पश्चात् साक्षात् भगवान को मानव-रूप में देखने की मनोभूत प्रतिक्रिया भी दोनों में समान है—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ 41 ॥ (अ)
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहार शय्यासन भोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं ?
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ 42 ॥[1]

जिस प्रकार अर्जुन के हृदय में ये भाव उठ रहे हैं कि मैंने 'भगवान का प्रभाव न जान कर उनको सखा माना, उसी प्रकार कौशल्या के हृदय में ये भाव उठ रहे हैं कि मैंने जगत-पिता को अपने पुत्र-रूप में जाना (जगत पिता मैं सुत करि जाना)।

अर्जुन के हृदय में भय व हर्ष दोनों का होना तथा उनका भगवान से सहज रूप में आने की प्रार्थना करना गीता के 'अदृष्टपूर्व में जो विस्मय का भाव निहित है मानस में वही भाव 'विस्मय' शब्द के रूप व्यक्त है।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ (गीता, 11।35)

अर्जुन के समान ही कौशल्या का हृदय भी भगवान का विराट् स्वरूप देखकर हर्ष व भय से भर गया है।

'तन पुलकित मुख बचन न आवा'
'अस्तुति करि न जाय भय माना' ॥ (4।202, बा० कां०)

कौशल्या के हृदय में एक और भाव है, वह है विस्मय का। विस्मय का भाव अर्जुन में भी है। भगवान के विराट स्वरूप को देखकर अर्जुन के हृदय में भी विस्मय के भाव का उदय हुआ है। श्लोक में हर्ष व भय दो ही भाव अंकित हैं। विस्मय उन भावों की प्रतिक्रिया है। मानस ने प्रतिक्रिया का यह निहित भाव भी व्यक्त कर दिया है।

विसमय वंत देखि महतारी। भए बहुरि सिसु रूप खरारी ॥
(202, बा० कां०)

जिस प्रकार अर्जुन पुनः भगवान से अपने सहज रूप मे आने की प्रार्थना कर रहा है—

तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ (गीता, 11।45)

उसी प्रकार कौशल्या भी भगवान से अपने मानव-रूप में आने की प्रार्थना करती हैं--

'माता यह बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजै सिसु लीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा ॥
(बा० कां०, 3-192)

अर्जुन की प्रार्थना सुनकर जिस प्रकार श्रीकृष्ण अपने सहज रूप, तत्पश्चात् सखा-रूप में आ जाते हैं,

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ (गीता, 11, 51)

इसी प्रकार कौशल्या की प्रार्थना पर भगवान बाल-रूप ग्रहण कर लेते हैं—

(1) सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा ॥ 3 ॥
(बा० कां०, 192)

(2) विसमयवंत देखि महतारी। भये बहुरि सिसु रूप खरारी ॥
(बा० कां०, 3-202)

जिस प्रकार अर्जुन से भगवान कह रहे हैं कि यह अद्भुत विराट् रूप केवल अर्जुन ही को देखने को प्राप्त हुआ है।

(1) तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्ट पूर्वम् ॥ (गीता, 11-47)

(2) एवं रूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ (गीता, 11-48)

(3) सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ (गीता, 11-52)

(4) नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ (गीता, 11-53)

उसी प्रकार कौशल्या के प्रति भी भगवान यही कह रहे हैं कि मेरे इस रूप के भाव को गुप्त रखना जिसका भावार्थ होता है कि यह रूप अन्यों को दर्शन के लिए प्राप्त नहीं है।

'हरि जननी बहु विधि समझाई। यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई।।
(4/202 बा० कां०)

जन्म-समय--

मानस में विराट् स्वरूप की चौपाइयां :—

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्‌भुत रूप विचारी।।
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी।
भूषन वनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी।। 1।।
कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि विधि करौं अनंता।
माया गुन ग्यानातीत अमाना वेद पुरान भनंता।।
करुना सुख सागर सब गुन आकर जेहि गावहिं श्रुति संता।
सो मम हित लागी जनु अनुरागी भयउ प्रगट श्रीकंता।। 2।।
ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति वेद कहे।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै।।
उपजा जब ग्याना प्रभु मुसुकाना चरित बहुत विधि कीन्ह चहै।
कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै।। 3।।
(बा० कां०, 191)

देखरावा मातहि निज अद्‌भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड।।बा० कां, 201।।

अगनित रवि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन।।
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ।।
देखी माया सब विधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी।।
देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही।।
(2:202, बा० कां०)

विराट स्वरूप सम्बन्धी गीता के श्लोक—

अनेक वक्त्र नयनमनेकाद्‌भुतदर्शनम्
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।।10।।
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।।11।।
(अ० 11, गीता)

साम्य—

उपनिषद्		मानस
1. अद्भुतदर्शनम्		'अद्भुत रूप विचारी'
2. अनेक दिव्याभरणं	(क)	भूषन बनमाला।
3. दिव्यमाल्याम्बर धरं	(ख)	लोचन अभिरामा।
4. दिव्यगन्धानुलेपनम्	(ग)	सोभा सिंधु खरारी। आभूषण नेत्रों को सुखद लगने के लिए तथा शोभा बढ़ाने के लिए धारण किये जाते हैं। यहाँ आभूषणों का भाव व्यक्त है—अत: 'लोचन अभिरामा' तथा 'शोभा सिंधु'। दिव्य आभूषण नेत्रों को अपूर्व सुख देने वाले होंगे अत: 'लोचन अभिरामा' वे अति सुन्दरता प्रदान करेंगे अत: 'शोभा सिंधु।' 'दिव्य मालाम्बर धरं' तथा दिव्य 'गन्धानुलेपनम्' का प्रभाव भी नेत्रों पर 'लोचन अभिरामा' तथा 'शोभासिंधु' के रूप में ही पड़ेगा। अत: इन दो शब्दों में मानस ने गीता के उपर्युक्त सब विशेषणों का भाव भर दिया हैं।
5. दिव्यानेकोद्यतायुधम्। (दिव्य अस्त्रों को हाथों में उठाये हुए हैं)		'निज आयुध भुजचारी'
	(क)	निज शब्द से भगवान् के अपने विशेष आयुध का तात्पर्य निकलता है। भगवान् का स्वरूप दिव्य है, तथा उनके अपने आयुध भी दिव्य ही होंगे। इस प्रकार गीता-वर्णित 'दिव्य शस्त्र' का भाव मानस में 'निज आयुध' द्वारा व्यक्त हुआ है।
	(ख)	गीता में हाथ शब्द बहुवचन के रूप में आया है (हाथों)। मानस ने भुज के साथ चारी की संख्या जोड़कर बहुवचन भाव की पूर्ति की है।
6. देवमनन्तं। (जिसका अन्त नहीं)	...	'अस्तुति तोरी केहि विधि करौं अनन्ता' कौशल्या द्वारा 'अनन्ता' शब्द का संबोधन

भगवान् के अनन्त स्वरूप पर प्रकाश डालता है।

7. विश्वतोमुखम् — 'माया गुन ग्यानातीत अमाना,
वेद पुरान भनंता।
ब्रह्मांड निकाया निमित माया,
रोम रोम प्रति वेद कहे'

वेद व पुराणों का भगवान् को माया, गुण, ज्ञान से परे मानना, तथा वेदों का यह कथन कि भगवान् के रोम-रोम में माया के रचे अनेकों ब्रह्मांड हैं वास्तव में भगवान् के विराट् स्वरूप का वर्णन करना है। वेदों को प्रमाण रूप से प्रस्तुत करना मानस पर वेदों का प्रभाव दर्शाता है।

बाल लीला के समय कौशल्या को प्राप्त होने वाला विराट् दर्शन—

देखरावा मातहि निज अद्‌भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्माण्ड ॥201॥

अगनित रवि ससि सिव चतुरानन। बहुगिरि सरित सिंधु महि कानन ॥
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ ॥
देखी माया सब विधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी ॥
देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही ॥
तन पुलकित मुख वचन न आवा। नयन मूंदि चरननि सिर नावा ॥3॥

(बा० कां०, 202)

एक रूप में ये चौपाइयां गीता के सम्पूर्ण ग्यारहवें अध्याय के उस भाव का सारांश हैं जिसमें विराट-स्वरूप का वर्णन आया है। जिस रूप में ग्यारहवें अध्याय का सारांश इन चौपाइयों में समाया है उसका विवरण निम्नांकित पंक्तियों में दिया जा रहा है—

देखरावा मातहि निज अद्‌भुत रूप अखंड—
'पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥5॥

(1) अद्‌भुत रूप (क) 'दिव्यानि', स्वरूप का आश्चर्यमय तथा अलौकिक भाव चौपाइयों में 'अद्‌भुत रूप' कह कर व्यक्त किया गया है।

(ख) आश्चर्याणि[2] ॥6॥

आश्चर्यमय रूप भगवान् के अद्भुत स्वरूप की स्थापना कर रहा है। भगवान् के अद्भुत स्वरूप का भाव वर्णित श्लोक के बाद वाले श्लोक में अधिक स्पष्ट होकर आया है।

(2) 'अखंड (क) 'शतशः अथ सहस्रशः'

(ख) 'नानाविधानि, नानावर्णाकृतीनि'

दिव्य रूप के सैकड़ों व सहस्रों नाना प्रकार व नाना आकृतियां दिव्य स्वरूप की अखंडता को व्यक्त कर रहे हैं।

(3) 'देखरावा मातहि निज'—'पार्थ पश्य मे—'

पार्थ मेरे में देखो—चौपाइयों में पार्थ के स्थान पर 'मातहि' शब्द है।

जो स्वरूप गीता में पार्थ को दिखलाया, वही स्वरूप मानस में माँ कौशल्या को दिखलाया है--

गीता का 'मे' मेरा शब्द मानस में 'निज' होकर आया है। 'मेरा स्वरूप देख' या 'अपना स्वरूप दिखलाया' इन दोनों वाक्यों का भाव एक ही है। 'मे' (मेरा) व 'निज' दोनों शब्द भगवान् के अपने स्वरूप को व्यक्त कर रहे हैं।

1. 'रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्माण्ड'

'पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥6॥'[1]

(1) एक-एक ब्रह्मांड में यह सभी अदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार, मरुत आदि अपने परिपूर्ण स्वरूपों द्वारा व्यक्त हैं। अतः यह श्लोक एक पूर्ण ब्रह्माण्ड का दृश्य उपस्थित करता है। पूर्व श्लोक के 'शतशः तथा सहस्रशः' शब्द में जो अनन्तता का भाव है—वही अनन्तता का भाव चौपाई में 'रोम रोम प्रति लागे' पदावली द्वारा व्यक्त है।

2. अगनित रवि ससि सिव चतुरानन—

(क) 'रवि ससि'—'आदित्यान्' (बहुवचन द्वादश) 'रवि ससि' का अर्थ बहुवचन के रूप में प्रकाश करने वाले ग्रहों के लिए, लोकोक्ति के रूप में हुआ है।

(ख) सिव—'रुद्रान्' (बहुवचन, एकादश)

(ग) चतुरानन—'अश्विनी, वसून्, मरुतः' आदि ब्रह्म जिनके जन्मदाता हैं।

(घ) अगणित बहुवचन के रूप में 'आदित्य, रुद्रान्, अश्विनौ, वसून्, मरुतः' के रूप में हुआ है।

4. सोउ देखा जो सुना न काऊ—

(1) 'अदृष्ट पूर्वाणि' ॥6॥

जो पहले कभी न देखा हो।

भगवान का दिव्य रूप न किसी ने देखा है न सुना है। भगवान के दिव्य स्वरूप

के वर्णन में जो श्लोक[2] आगे आये हैं उन्हीं की ओर इंगित करके चौपाइयों ने संक्षेप में व्यक्त कर दिया है 'वह रूप देखा जिसके विषय में किसी ने सुना भी नहीं है।'

(2) न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥8॥

अर्जुन प्राकृत नेत्रों से भगवान के दिव्य स्वरूप को देखने में अशक्त है। अतः भगवान् प्रदत्त दिव्य चक्षुओं द्वारा वह भगवान के अलौकिक रूप को देखने में समर्थ हुआ है। भावार्थ है कि साधारण प्राणी उस रूप को देख नहीं सकते हैं।

मानस चौपाई का 'काऊ' शब्द साधारण प्राणियों के लिए प्रयुक्त हुआ। अतः चौपाई का अर्थ हुआ कि किसी व्यक्ति ने भगवान के दिव्य विराट् स्वरूप को अपने प्राकृत नेत्रों से नहीं देखा है। जो वस्तु देखी ही नहीं गयी वह वस्तु सुनी किस प्रकार जा सकती है। मानस की अर्द्ध चौपाई में पूरे श्लोक का भाव आ गया है—

(3) 'बहु गिरि सहित सिंधु महि कानन
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ'
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥7॥

श्लोक में 'जगत्कृत्स्नं' (सम्पूर्ण जगत) का भाव चौपाइयों में जगत् के गुणों तथा पदार्थों की अलग-अलग गणना कराकर आया है। गिरि, सिंधु, महि, कानन– जहाँ ये हैं वहीं जगत है।

(4) देखी माया सब विधि गाढ़ी अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी ॥
देखा जीव न चावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही ॥'
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ॥
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥8॥[2]

अर्जुन अपने पार्थिव नेत्रों से भगवान का दिव्य रूप देखने में अशक्त था। प्रत्येक पार्थिव वस्तु माया द्वारा आबद्ध है। माया के आवरण द्वारा ढकी वस्तु भगवान का वास्तविक स्वरूप-दर्शन करने में असमर्थ होती है अतः अर्जुन के पार्थिव नेत्र भी माया द्वारा आवृत नेत्र थे। भगवान ने अर्जुन के नेत्रों की माया हटा दी। इस प्रकार माया विहीन हो जाने पर उसके नेत्रों को दिव्य शक्ति प्राप्त हुई। दिव्य शक्ति प्राप्त नेत्रों से वह भगवान के दिव्य दर्शन करने की समार्थ्य प्राप्त कर सका। चौपाइयों में यही भाव भावात्मक कवित्मय ढंग से वर्णित है।

'देखी माया सब विधि गाढ़ी'—माया के उस प्रगाढ़ आवरण की ओर संकेत कर रही है जिसके प्रगाढ़ प्रभाव के अन्तर्गत जीव अन्धा ही बना रहता है।

(5) अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी'—

अपने से अधिक समर्थ के प्रति असमर्थ व्यक्ति भयभीत व विनीत रूप से खड़ा रहता है—'जोरे कर ठाढ़ी' माया के विनीत व भयभीय स्वरूप को प्रकट कर

रहा है। भगवान के सम्मुख वह असामर्थ्यवान् हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है, अपनी इच्छा मात्र से अर्जुन के दिव्य चक्षु खोल देना व माया के आवरण को तृण के समान हटा देना। यह हुई भगवान की माया पर समर्थता, और माया की अपने अस्तित्व को बचाने की असमर्थता। माया की इस असमर्थता के स्वरूप को 'अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी' के रूप में चौपाइयों में व्यक्त किया गया है।

(6) 'देखा जीव नचावइ जाही।
देखी भगति जो छोरइ ताही' ॥'

अर्जुन दिव्य चक्षु प्राप्त करने के पूर्व तक, एक मायाबद्ध विषाद-ग्रसित जीव था। आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण वह 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे'[2] के भाव को प्राप्त होकर विषाद-ग्रस्त था। भगवान का विराट् स्वरूप देखकर तथा[3] विराट् स्वरूप में सब कौरव योद्धाओं को भगवान के मुख में प्रविष्ट होते देखकर अर्जुन का विषादजन्य भ्रम मिट जाता है, तथा अर्जुन माया के उस बन्धन से छूट जाता है जो अभी तक उसको जीव रूप में नचा रही थी (देखा जीव नचावइ जाही)। अर्जुन में यह सामर्थ्य कि वह जीव के आबद्ध स्वरूप को छोड़ सके 'भक्ति' के कारण आई। अर्जुन की अनन्य भक्ति द्वारा प्रेरित होकर भगवान ने अर्जुन को विराट रूप के दर्शन दिये हैं।[4] यह भाव 'देखी भगति जो छोरइ ताही' की पदावली में व्यक्त हुआ।

इस प्रकार विराट् स्वरूप के दर्शन का पूरा भावात्मक रूप इन चौपाइयों में आबद्ध है।

(7) 'तन पुलकित मुख बचन न आवा।
नयन मूँदि चरनन सिरु नावा ॥'

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥14॥[1]

तन पुलकित—हृष्टरोमा (हर्षित रोम) पुलकित शरीर होने पर ही हर्षित रोमों की अवस्था प्राप्त होती है।

मुख बचन न आवा—'विस्मयाविष्टः' (आश्चर्य-युक्त) आश्चर्य-युक्त होने पर मुख से शब्द नहीं निकल पाते।

नयन मूँदि चरनन सिरु नावा—'प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत' 'अर्जुन का सिर से प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए बोलना' तथा 'कौशल्या का आँखें बन्द करके सिर नवाना' कथा प्रसंग के अनुरूप शरणागत का भाव व्यक्त करते हैं।

उपर्युक्त साम्य यह स्थापित करता है कि चौपाइयों व श्लोकों का भाव-साम्य एक तारतम्य में आया है। चौपाइयों व श्लोकों की क्रम-संख्या व भाव-साम्य में अद्भुत समानता एवं एकरसता है।

मानस में श्रीराम के विराट स्वरूप के दर्शन पुनः होते हैं। इस बार पात्र कौशल्या न होकर काकभुशुण्डि हैं। यदि कौशल्या को प्राप्त 'विराट् दर्शन' के पश्चात् काकभुशुण्डि को प्राप्त 'विराट् दर्शन' को मिलाकर पढ़ा जाय, तो यह प्रतीत ही नहीं होता कि पूरी मानस-कथा बीच से बह गयी है और ये मानस के आदि व अंत के दो प्रसंग हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जो विराट् दर्शन हम कौशल्या के सम्मुख देख रहे थे, वह काकभुशुण्डि का विराट् दर्शन उसी के क्रम में है और दोनों के बीच कोई कथा है ही नहीं।

एक ने (कौशल्या) नयन बन्द किये हैं, तो दूसरे (काकभुशुण्डि) के नयन बन्द हैं और फिर वे नयन खुल जाते हैं। अतः एकरसता बनी रहती है, विराट् स्वरूप की धारा वैसी की वैसी बनी रहती है, केवल पात्र बदल जाते हैं। जैसे किसी नाटक के एक ही दृश्य में दो पात्र आकर एक ही दृश्य को व्यक्त कर जायें।

कौशल्या—

तन पुलकित मुख बचनु न आवा। नयन मूँदि चरननु सिर नावा॥

काकभुशुण्डि—

मूँदउँ नयन त्रसित जब भयऊँ। पुनि चितवत कोसल पुर गयउँ॥
काकभुशुण्डि जी का विराट् दर्शन—

उदर माझ सुन अंडज राया। देखेउँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया॥
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका॥
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उडगन रबि रजनीसा॥
अगनित लोकपाल जम काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला॥
सागर सरि सर बिपिन अपारा। नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्नर। चारि प्रकार जीव सचराचर॥
जो नहिं देखा नहिं सुना, जो मनहूँ न समाइ॥
सो सब अद्‌भुत देखेउँ, बरनि कवनि बिधि जाइ॥80(क)॥
एक एक ब्रह्माण्ड महुँ, रहउँ बरप सत एक॥
एहि बिधि देखत फिरउँ मैं, अंड कटाह अनेक॥80(ख)॥

लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिस्नु सिव मनु दिसि त्राता॥
नर गंधर्ब भूत बेताला। किन्नर निसिचर पसु खग ब्याला॥
देव दनुज गन नाना जाती। सकल जीव तहँ आनहि भाँती॥
महि सरि सागर सर गिरि नाना। सब प्रपंच तहँ आनइ आना॥
अंडकोस प्रति प्रति निज रूपा। देखेउँ जिनस अनेक अनूपा॥
अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न भिन्न नर नारी॥

दसरथ कौशल्या सुनु ताता । विविध रूप भरतादिक भ्राता ।।
प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा । देखउँ बाल विनोद अपारा ।।4।।
भिन्न भिन्न मैं दीख सबु, अति विचित्र हरिजान ।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु, राम न देखेउँ आन ।।81 (क)।।
सोइ सिसुपन सोइ सोभा, सोइ कृपाल रघुवीर ।
भुवन भुवन देखत फिरउँ, प्रेरित मोह समीर ।।81 (ख)।।
भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका । बीते मनहुँ कल्प सत एका ।।
राम उदर देखेउँ जग नाना । देखत बनइ न जाइ बखाना ।
तहँ पुनि देखेउँ राम सुजाना । मायापति कृपाल भगवाना ।।
करउँ बिचारि बहोरि बहोरी । मोह कलिल व्यापित मति मोरी ।।
उभय घरी महँ मैं सब देखा । भयउँ भ्रमित मन मोह विसेषा ।।
देखि कृपाल विकल मोहि, बिहँसि तब रघुवीर ।
बिहँसतहीं मुख बाहर, आयउँ सुनु मतिधीर ।।82।। (क)

उपनिषदों से उद्धृत कुछ विराट् स्वरूप के अंश—

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाल्लोकानीशत ईशनीभिः ।।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।1।।
एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोपान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ।।2।।
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ।।3।।
यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं सनो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ।।अ० 4-3।।
(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

एक जगत रूप जाल का अधिपति अपनी स्वरूपभूत शक्तियों द्वारा समस्त लोकों पर शासन करता है। इन विविध शासन शक्तियों द्वारा सम्पूर्ण लोकों पर शासन करता है। उसको जानने पर अमरत्व की प्राप्ति होती है।

अपनी स्वरूपभूत शक्तियों द्वारा सब लोकों पर शासन करने वाला रुद्र एक ही है। इसलिए विद्वान जगत का कारण निश्चय करते समय दूसरे का आश्रय नहीं लेते। वह समस्त जीवों के भीतर स्थित है, समस्त लोकों की रचना करके, उनकी रक्षा करने वाला परमेश्वर, प्रलय-काल में उन सब को समेट लेता है।

यह सब जगह आँख वाला, और सब जगह मुख वाला, हाथ वाला, पैर वाला

है। आकाश और पृथ्वी की सृष्टि करने वाला, वह एकमात्र देव मनुष्य और जीवों को दो-दो बाँहों से और आँखों से युक्त करता है।

जो रुद्रइन्द्र आदि देवताओं की उत्पत्ति-वृद्धि का कारण है तथा सबका अधिपति व महान् ज्ञानी है। जिसने पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया था, वह परमदेव परमेश्वर हम लोगों को शुभ बुद्धि से युक्त करे।

प्राय: प्रत्येक उपनिषद् में किसी न किसी रूप से भगवान् (परब्रह्म) के विराट् स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है·—

अस्यैकैकरोमकूपान्तरेष्वनन्तकोटिब्रह्माण्डानि स्थावराणि च जायन्ते, तेष्वण्डेषु सर्वेष्वेकैकनारायणावतारो जायते। नारायणाद्धिरण्यगर्भो जायते। नारायणादण्ड-विराट्स्वरूपो जायते। नारायणादखिललोक स्रष्टप्रजापतयो जायन्ते। नारायणादेकादशरुद्राश्च जायन्ते। नारायणादखिललोकाश्च जायन्ते। नारायणादिन्द्रो जायते। नारायात्सर्वे देवाश्च जायन्ते। नाराणाद्द्वादशादित्या: सर्वे वसव: सर्वे ऋषय: सर्वाणि भूतानि सर्वाणि छन्दांसि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते। नारायणात्प्रवर्तन्ते। नारायणे प्रलीयन्ते। अथ नित्योऽक्षर: परम: स्वराट। ब्रह्मा नारायण:। शिवश्च नारायण:। शक्रश्च नारायण:। दिशश्च नारायण:। विदिशश्च नारायण:। कालश्च नारायण:। कर्माखिलं च नारायण:। मूर्तामूर्तं च नारायण:। कारणात्मकं सर्वकार्यात्मकं सकलं नारायण:। तदुभयविलक्षणो नारायण:। परंज्योति: स्वप्रकाशमयो ब्रह्मानन्दमयो नित्यो निर्विकल्पो निरंजनो निराख्यात: शुद्धो देवो एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्॥

(त्रिपाद्विभूतिमहा. उ. 2।16॥)

भावार्थ—इस विराट् पुरुष के एक-एक रोम कूप छिद्र में अनन्त कोटि ब्रह्मांड और उनके स्थावर भी उत्पन्न होते हैं। इन सब अण्डों में से प्रत्येक में नारायण का एक-एक अवतार होता है। उन्हीं नारायण से हिरणण्यगर्भ ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। नारायण से ही उस अण्ड का विराट् स्वरूप उत्पन्न होता है। नारायण से ही सब लोकों के स्रष्टा प्रजापति उत्पन्न होते हैं। नारायण से ही एकादश रुद्र भी उत्पन्न होते हैं। नारायण से ही अखिल लोक, इन्द्र, समस्त देवता, बारह आदित्य, सब वसु, सभी ऋषि, सम्पूर्ण प्राणी तथा समस्त छन्द उत्पन्न होते हैं। नारायण से ही सब क्रियाशील होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। अत: वह नित्य, अविनाशी, सर्वश्रेष्ठ एवं स्वयं प्रकाश है। नारायण ही ब्रह्मा है, शिव है, इन्द्र है, दिशायें हैं, विदिशा रूप है, काल है, समस्त कर्म है, मूर्त एवं अमूर्त रूप है, समस्त कारण रूप तथा समस्त कार्य स्वरूप हैं। इन दोनों कारण तथा कार्य से विलक्षण भी नारायण

ही हैं। परम ज्योति, स्वयं प्रकाशमय, ब्रह्मानन्दमय, नित्य, निर्विकल्प, निरंजन, अवर्णनीय शुद्ध एकमात्र देवता नारायण ही हैं। दूसरा कोई नहीं है।

ओ३म् सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्र पात् ।
स भूमि विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥ 1 ॥
ओ३म् पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभव्ययम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहत ॥ 2 ॥
ओ३म् एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ 3 ॥
ओ३म् त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विश्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥ 4 ॥
ओ३म् तस्माद्विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो परः ॥ 5 ॥
ओ३म् यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ 6 ॥
ओ३म् ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ 11 ॥
ओ३म् चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत ॥ 13 ॥
ओ३म् नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रान्तथा लोकां अकल्पयन् ॥ 14 ॥

(पु० सू मुद्गलोपनिषद्)

उस परम पुरुष के सहस्रों मस्तक व चरण हैं। वह समस्त विश्व में व्याप्त और उससे दश अंगुल ऊपर स्थित है।

यह जो इस समय है, वीत गया है, और आने वाला है, यह सब परम पुरुष ही हैं। इसके अतिरिक्त जो अमरत्व तथा अब से जीवित रहते है उन सभी के ईश्वर हैं।

यह भूत, भविष्य, वर्तमान से सम्बद्ध समस्त जगत् इस परम पुरुष का वैभव है। वह विभूति विस्तार में महान है। उस परमेश्वर की एक पाद विभूति में ही पञ्चभूतात्मक विश्व है। उसकी शेष त्रिपात विभूति में शाश्वत दिव्य लोक हैं।

वे परम पुरुष स्वरूपतः इस मायिक जगत् से परे त्रिपाद् भूति में प्रकाशमान हैं। इस विश्व के रूप में उनका एक पाद ही प्रकट हुआ है। इसलिए वे ही सम्पूर्ण

एवं चैतन्य अभयात्मक जगत् को परिव्याप्त किए हुए हैं।

इन्हीं आदि पुरुष से विराट् उत्पन्न हुआ, वे परम पुरुष ही हिरण्यगर्भ हुए। फिर अत्यन्त प्रकाशित हुए। फिर उसी ने भूमि और शरीर उत्पन्न किये।

देवताओं ने उस पुरुष के शरीर में हविष्य की भावना करके यज्ञ सम्पन्न किया। इस यज्ञ से वसन्त ऋतु, धृत, ग्रीष्म, इन्धन, शरद ऋतु हुई।

उस पुरुष के मुख से ब्राह्मण पैदा हुए, और दोनों भुजाओं से क्षत्रिय-जंघाओं से वैश्य हुए और पैर से शूद्र वर्ण प्रगट हुआ। इस यक्ष पुरुष के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। नेत्रों से सूर्य प्रकट हुए और मुख से इन्द्र और अग्नि तथा प्राण से वायु की उत्पत्ति हुई। इस पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष लोक पैदा हुआ। मस्तक से स्वर्ग प्रगट हुआ, पैरों से पृथ्वी, कोने से दिशायें हुई। इस प्रकार समस्त लोक इस पुरुष से ही कल्पित हुए।

प्राण के रूप में परब्रह्म---

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ 9 ॥

(प्रश्न० उप० 2)

व्रात्यस्त्वं प्राणैक ऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पितात्वं मातारिश्वनः ॥ 11 ॥

(प्रश्न उ० 2।11)

हे प्राण! सर्वशक्तियों के अधिपति 'इन्द्र' तुम ही हो, दीप्तिमान रक्षक इंद्र तुम्हारा ही स्वरूप है। तुम आकाश में विचरते रहते हो और तुम ही चराचर के अधिष्ठाता देव सूर्य्य हो, हे प्राण तुम व्रात्य हो, तुम पवित्र अग्नि हो जिसमें सब कुछ स्वाहा हो जाता है। तुम विश्व के सत्पति हो। हम आराधक हैं। हे वायु पिता हम आहुति देने वाले हैं और तुम सबके पिता हो।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ 9 ॥
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ 10 ॥
ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ 11॥

(मुंडक उप० द्वितीय खण्ड)

वह निर्मल अव्यक्त रहित अखण्ड परमात्मा प्रकाशमय परम धाम में विराजमान है। वे सर्वथा विशुद्ध और समस्त प्रकाशयुक्त पदार्थों के भी प्रकाशक हैं। उन स्वप्रकाश परमात्मा स्वरूप के समीप सूर्य नहीं प्रकाशित होता। चन्द्र, तारे, विद्युत, अग्नि वहां नहीं चमकते। सब अंश उससे प्रकाशित हैं। उस परब्रह्म की प्रकाश शक्ति से सब प्रकाशित हैं।

अमृत स्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही आगे-पीछे, दायें-बायें, बाहर-भीतर, ऊपर-सर्वत्र फैले हुए हैं। इस विश्व ब्रह्मांड के रूप में ये सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं।

विराट् स्वरूप व्यक्त करने वाले कुछ उपनिषद् के वाक्यों व चौपाइयों का साम्य—

ब्रह्मांड

(1) देखरावा मातहिं निज, अद्‌भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्माण्ड॥

(201 बा० का०)

जल यन्त्रस्थघट मालिका जालवन्महाविष्णोरेकैक रोमकूपान्तरेष्वनन्तकोटि ब्रह्माण्डानि सावरणानिभ्रमन्ति। (त्रि० महा० उप० अ० 6)

जलयंत्र (रहट) में लगे घड़ों की माला के समूह की भांति महाविष्णु के एक-एक रोम-कूप के छिद्रों में अनन्त कोटि ब्रह्मांड अपने आवरणों के साथ घूमते हैं।

(2) उदर माझ सुनु अंडजराया। देखेउं बहु ब्रह्मांड निकाया॥
अति विचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका॥ 2॥

(उ० कां०,2। 80)

क्रीडासक्त बालक करतलामलक वृन्दमहाविष्णोः करतले विनसन्तयन्ति कोटि ब्रह्माण्डानि॥ (त्रिपाद्‌विभूति उप०, अ० 6)

क्रीड़ा में लगे बालक की हथेली में आँवलों के समूह की भाँति महा विष्णु की हथेली में अनन्त कोटि ब्रह्मांड शोभित हो रहे हैं।

(क) जिन श्रीराम के उदर में काकभुशुंडि को ब्रह्मांड के दर्शन होते हैं वे श्रीराम बालक रूप हैं तथा क्रीड़ा में संलग्न हैं। तथा क्रीड़ा के अन्तर्गत ही वे काकभुशुंडि जी को कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का दर्शन करा देते हैं। इस प्रकार 'क्रीड़ासक्त बालक' का भाव कथा-प्रवाह में आ जाता है।

(ख) श्रीराम विष्णु का अवतार हैं, इस प्रकार 'महाविष्णोः' भाव का साम्य रक्षित होता है।

(ग) 'वहु ब्रह्मांड निकाया' तथा 'को ब्रह्माण्डानि' एक ही अर्थ रखते हैं।

जगत्

वहु गिरि सरित सिंधु महि कानन ॥ (बा० कां० 1।202)
सागर सरि सर विपिन अपारा। नाना भाँति सृष्टि विस्तारा ॥
(उ० कां०, 4।80)

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतएच सर्वा ओपधयो रसाश्च येनैप भूतैस्तिष्ठतेह्यन्तरात्मा ॥9॥
(मुंडक, अ० 2।9)

उसमें समुद्र, गिरि, सर्व प्रकार की नदियां और वे सभी औषधियां जिनके रस से ही सूक्ष्म शरीर स्थूल में निवास करता है।

सृष्टि-विस्तार के रूप में वाक्य में समुद्र, गिरि, नदियां तथा औषधियों के समान ही, चौपाइयों में गिरि, सरित्, सिंधु, कानन, सागर, सरि, सर विपिन आदि सृष्टि-विस्तार का वर्णन मिलता है।

वेद

जाकी सहज स्वास श्रुति चारी ॥ (बा०कां०, 2-204)

(1) स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितापृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वासितयेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः। सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विधा उपनिषद: श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितनि ॥10॥ अ 2
(बृह० उप०, ब्रा० 4)

याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कह रहे हैं—जिस प्रकार जिसका ईंधन गीला है ऐसे आदन किये हुए अग्नि से पृथक् धुआं निकलता है। हे मैत्रेयी! उसी प्रकार जो ये ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद इतिहास, पुराण-विद्या, श्लोकसूत्र, मन्त्र-विवरण आदि इस महद्भूत के ही निःश्वास हैं।

(2) अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ (प्रश्न० उप०, 2-6)

समस्त विश्व में प्राण इस तरह व्याप्त है जैसे पहिये में धुरी ऋग्वेद में मंत्र, यजुर्वेद में राग, सर्वयज्ञ, सभी क्रियाशील गति और सब आध्यात्मिक प्रयास प्राणों

वह निर्मल अव्यक्त रहित अखण्ड परमात्मा प्रकाशमय परम धाम में विराजमान हैं। वे सर्वथा विशुद्ध और समस्त प्रकाशयुक्त पदार्थों के भी प्रकाशक है। उन स्वप्रकाश परमात्मा स्वरूप के समीप सूर्य नहीं प्रकाशित होता। चन्द्र, तारे, विद्युत, अग्नि वहाँ नहीं चमकते। सब अंश उससे प्रकाशित हैं। उस परब्रह्म की प्रकाश शक्ति से सब प्रकाशित हैं।

अमृत स्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही आगे-पीछे, दायें-बायें, बाहर-भीतर, ऊपर-सर्वत्र फैले हुए हैं। इस विश्व ब्रह्मांड के रूप में ये सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं।

विराट् स्वरूप व्यक्त करने वाले कुछ उपनिषद् के वाक्यों व चौपाइयों का साम्य—

ब्रह्मांड

(1) देखरावा मातहि निज, अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मण्ड॥

(201 बा० का०)

जल यन्त्रस्थघट मालिका जालवन्महाविष्णोरेकैक रोमकूपान्तरेष्वनन्तकोटि ब्रह्माण्डानि सावरणानिभ्रमन्ति। (त्रि० महा० उप० अ० 6)

जलयंत्र (रहट) में लगे घड़ों की माला के समूह की भांति महाविष्णु के एक-एक रोम-कूप के छिद्रों में अनन्त कोटि ब्रह्मांड अपने आवरणों के साथ घूमते हैं।

(2) उदर माझ सुनु अंडजराया। देखेउं बहु ब्रह्मांड निकाया॥
अति विचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका॥ 2॥

(उ० कां०,2। 80)

क्रीडासक्त बालक करतलामलक वृन्दमहाविष्णोः करतले विनसन्तयन्ति कोटि ब्रह्माण्डानि॥ (त्रिपाद्विभूति उप०, अ० 6)

क्रीड़ा में लगे बालक की हथेली में आँवलों के समूह की भाँति महा विष्णु की हथेली में अनन्त कोटि ब्रह्मांड शोभित हो रहे हैं।

(क) जिन श्रीराम के उदर में काकभुशुंडि को ब्रह्मांड के दर्शन होते हैं वे श्रीराम बालक रूप हैं तथा क्रीड़ा में संलग्न हैं। तथा क्रीड़ा के अन्तर्गत ही वे काकभुशुंडि जी को कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का दर्शन करा देते हैं। इस प्रकार 'क्रीड़ासक्त बालक' का भाव कथा-प्रवाह में आ जाता है।

(ख) श्रीराम विष्णु का अवतार हैं, इस प्रकार 'महाविष्णोः' भाव का साम्य रक्षित होता है।

(ग) 'बहु ब्रह्मांड निकाया' तथा 'को ब्रह्माण्डानि' एक ही अर्थ रखते हैं।

जगत्

बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन ॥ (बा० कां० 1।202)
सागर सरि सर विपिन अपारा । नाना भाँति सृष्टि विस्तारा ॥
(उ० कां०, 4।80)
अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
अतएच सर्वा ओषधयो रसाश्च येनैष भूतैस्तिष्ठतेह्यन्तरात्मा ॥9॥
(मुंडक, अ० 2।9)

उसमें समुद्र, गिरि, सर्व प्रकार की नदियाँ और ये सभी औषधियाँ जिनके रस से ही सूक्ष्म शरीर स्थूल में निवास करता है।

सृष्टि-विस्तार के रूप में वाक्य में समुद्र, गिरि, नदियाँ तथा औषधियों के समान ही, चौपाइयों में गिरि, सरित्, सिंधु, कानन, सागर, सरि, सर विपिन आदि सृष्टि-विस्तार का वर्णन मिलता है।

वेद

जाकी सहज स्वास श्रुति चारी ॥ (बा०कां०, 2-204)

(1) स यथाऽऽर्दैधाग्नेरभ्याहिताअथन्धूमा विनिश्चरन्तयैवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वासितयेतदृग्वेदो यजुर्वेदः । सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं विधा उपनिषद: श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितनि ॥10॥ अ 2
(बृह० उप०, ब्रा० 4)

याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कह रहे हैं—जिस प्रकार जिसका ईंधन गीला है ऐसे आदन किये हुए अग्नि से पृथक् धुआं निकलता है। हे मैत्रेयी ! उसी प्रकार जो ये ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद इतिहास, पुराण-विद्या, श्लोकसूत्र, यन्त्र-विवरण आदि इस महद्भूत के ही निःश्वास हैं।

(2) अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
ऋचो यजूँषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ (प्रश्न० उप०, 2-6)

समस्त विश्व में प्राण इस तरह व्याप्त हैं जैसे पहिये में धुरी ऋग्वेद में मंत्र, यजुर्वेद में राग, सर्वयज्ञ, सभी क्रियाशील गति और सब आध्यात्मिक प्रयास प्राणों

वह निर्मल अव्यक्त रहित अखण्ड परमात्मा प्रकाशमय परम धाम में विराजमान है। वे सर्वथा विशुद्ध और समस्त प्रकाशयुक्त पदार्थों के भी प्रकाशक हैं। उन स्वप्रकाश परमात्मा स्वरूप के समीप सूर्य नहीं प्रकाशित होता। चन्द्र, तारे, विद्युत, अग्नि वहां नहीं चमकते। सब अंश उससे प्रकाशित हैं। उस परब्रह्म की प्रकाश शक्ति से सब प्रकाशित हैं।

अमृत स्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही आगे-पीछे, दायें-बायें, बाहर-भीतर, ऊपर-सर्वत्र फैले हुए हैं। इस विश्व ब्रह्मांड के रूप में ये सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं।

विराट् स्वरूप व्यक्त करने वाले कुछ उपनिषद् के वाक्यों व चौपाइयों का साम्य—

ब्रह्मांड

(1) देखरावा मातहिं निज, अद्‌भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्माण्ड ।।
(201 बा० का०)

जल यन्त्रस्थघट सालिका जालवन्महाविष्णोरेकैक रोमकूपान्तरेष्वनन्तकोटि ब्रह्माण्डानि सावरणानिभ्रमन्ति। (त्रि० महा० उप० अ० 6)

जलयंत्र (रहट) में लगे घड़ों की माला के समूह की भांति महाविष्णु के एक-एक रोम-कूप के छिद्रों में अनन्त कोटि ब्रह्मांड अपने आवरणों के साथ घूमते हैं।

(2) उदर माझ सुनु अंडजराया। देखेउं बहु ब्रह्मांड निकाया ।।
अति विचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका ।। 2 ।।
(उ० कां०,2 1 80)

क्रीडासक्त बालक करतलामलक वृन्दमहाविष्णोः करतले विनसन्तयन्ति कोटि ब्रह्माण्डानि ।। (त्रिपाद्‌विभूति उप०, अ० 6)

क्रीड़ा में लगे बालक की हथेली में आंवलों के समूह की भांति महा विष्णु की हथेली में अनन्त कोटि ब्रह्मांड शोभित हो रहे हैं।

(क) जिन श्रीराम के उदर में काकभुशुंडि को ब्रह्मांड के दर्शन होते हैं वे श्रीराम बालक रूप हैं तथा क्रीड़ा में संलग्न हैं। तथा क्रीड़ा के अन्तर्गत ही वे काकभुशुंडि जी को कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का दर्शन करा देते हैं। इस प्रकार 'क्रीड़ासक्त बालक' का भाव कथा-प्रवाह में आ जाता है।

(ख) श्रीराम विष्णु का अवतार हैं, इस प्रकार 'महाविष्णोः' भाव का साम्य रक्षित होता है।

(ग) 'बहु ब्रह्मांड निकाया' तथा 'को ब्रह्माण्डानि' एक ही अर्थ रखते हैं।

जगत्

बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन ॥ (बा० कां० 1।202)
सागर सरि सर विपिन अपारा। नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा ॥
(उ० कां०, 4।80)

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतएच सर्वा ओषधयो रसाश्च येनैष भूतैस्तिष्ठतेह्यन्तरात्मा ॥9॥
(मुंडक, अ० 2।9)

उसमें समुद्र, गिरि, सर्व प्रकार की नदियाँ और वे सभी औषधियाँ जिनके रस से ही सूक्ष्म शरीर स्थूल में निवास करता है।

सृष्टि-विस्तार के रूप में वाक्य में समुद्र, गिरि, नदियाँ तथा औषधियों के समान ही, चौपाइयों में गिरि, सरित्, सिंधु, कानन, सागर, सरि, सर विपिन आदि सृष्टि-विस्तार का वर्णन मिलता है।

वेद

जाकी सहज स्वास श्रुति चारी ॥ (बा०कां०, 2-204)

(1) स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहिताअथग्धूमा विनिश्चरन्तयैवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वासितयेतद्दृग्वेदो यजुर्वेदः। सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितवि ॥10॥ अ 2
(बृह० उप०, ब्रा० 4)

याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कह रहे हैं—जिस प्रकार जिसका ईंधन गीला है ऐसे आदन किये हुए अग्नि से पृथक् धुआं निकलता है। हे मैत्रेयी! उसी प्रकार जो ये ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद इतिहास, पुराण-विद्या, श्लोकसूत्र, यन्त्र-विवरण आदि इस महद्भूत के ही निःश्वास हैं।

(2) अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ (प्रश्न० उप०, 2-6)

समस्त विश्व में प्राण इस तरह व्याप्त हैं जैसे पहिये में धुरी ऋग्वेद में मंत्र, यजुर्वेद में राग, सर्वयज्ञ, सभी क्रियाशील गति और सब आध्यात्मिक प्रयास प्राणों

द्वारा ही आश्रित हैं।

चौपाई में 'स्वास' शब्द का प्रयोग किया गया है। उपनिषद्-वाक्यों में 'निःश्वास' व 'प्राण' ये दो शब्द आये हैं। 'प्राण' आधार है, और 'निःश्वास' उसकी प्रक्रिया है। ये दोनों ही श्वास के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार चौपाई के 'श्वास' शब्द में दोनों उपनिषद्-वाक्यों का भाव आ जाता है।

सचराचर जीव

सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्तर।
चारि प्रकार जीव सचराचर॥(उ० कां०, 4-80)

भावार्थ —ब्रह्मांड में देवता, मुनि, सिद्धगण, नाग, नर, किन्नर तथा चारों प्रकार के जड़-चेतन जीव देखे।

(2) 'नारायणास्सर्वे देवाश्च जायन्ते। नारायणात् द्वादशादित्याः सर्वे वसवः सर्व ऋषयः सर्वाणि भूतानि सर्वाणि छन्दांसि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते॥16॥
(त्रिपाद्व भूति उप०, अ० 2)

नारायण से देव, आदित्य, सर्व भूतों का तथा सर्व छंदों का जन्म होता है।

(3) तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवः वयांसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च॥7॥
(मुंडक उप०, 2।1।7)

उस परमेश्वर से अनेक भेदों वाले देवता लोग उत्पन्न हुए।

साध्यगण, मनुष्य, पशु पक्षी, प्राण-अपान वायु, धान-जौ आदि अन्न तथा तप श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य्य, यज्ञ आदि के अनुष्ठान की विधि—ये सब उत्पन्न हुए।

(4) स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा
व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वेप्राणाः सर्वलोकाः सर्वदेवाः
सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा॥20॥
(बृह० उप० अ०, 2 ब्रा० 1)

जिस प्रकार अणुनाभि (मकड़ा) तन्तुओं पर ऊपर की ओर जाता है, तथा जैसे अग्नि की अनेक चिनगारियाँ उठती हैं। उसी प्रकार इस आत्मा से 'समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवगण, और समस्त भूत विविध रूप से उत्पन्न होते हैं।' सत्य का सत्य, यह उस आत्मा का नाम हैं।

अगोचर

(1) मन क्रम वचन अगोचर जोई, दसरथ अजिर विचर प्रभु सोई।
(2) 'अव्यक्तमेकगोचर' ॥2॥32॥ (अयो० कां०)
(3) मन ग्यान गुन गोतीत प्रभु ॥5॥111 (अ० कां०)

(4) बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्राण बिनु बास असेषा ॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥
जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान ॥118॥

(बा० कां०)

(5) निर्गुण सगुण विषम सम रूपं। ग्यान गिरा गोतीत अनूपं ॥6॥1

(अ० कां०)

उपनिषद्-वाक्य

(1) यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥4॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥5॥
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँ॒षि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥6॥
यच्छ्रोत्रेण न श्रृणोति येन श्रोत्रमिदँ॒ श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥7॥
यत्प्राणेन न प्राणीति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥8॥

(केन उप०, खंड 1)

भावार्थ—वह मन, वाणी, चक्षु, श्रोत्र तथा प्राण द्वारा नहीं जाना जा सकता क्योंकि ये सब उसके द्वारा संचालित होते हैं। इन इन्द्रियों व प्राण के द्वारा विज्ञेय होने वाले तत्व की उपासना करने वाले प्राणी ब्रह्म को नहीं जानते।

(2) न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।

(1) (श्वेता उप०, अ० 4 मंत्र 20)
(2) (कठ उप०, अ० 2, व3)

उसका स्वरूप अगोचर है उसको नयनों से नहीं देखा जा सकता।

(3) न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवः ॥8॥ (मु० उप०, प्रथम खंड)

वह न नेत्रों से, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से, ग्रहण किया जा सकता है।

(4) एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥12॥

(कठ उप०, अ० 1, व० 3)

यह सबका आत्म रूप पुरुष माया में छिपा होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता है। केवल सूक्ष्म तत्त्वों को समझने वाले पुरुषों द्वारा अति सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धि से देखा जाता है।

(5) अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥4॥
(ईश उप०)

अचल, एक, परमेश्वर मन से भी अचल तीव्र गति वाले हैं। इनको इन्द्र-आदि देवता भी नहीं पा सकते। दूसरे दौड़ने वालों को स्थित रहते हुये अतिक्रमण कर जाते हैं। उन्हीं की सत्ता शक्ति से वायु आदि देवता जल-वर्षा प्राणाधारादि प्रभृति कर्म सम्पादन करने में समर्थ होते हैं।

(6) यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह ॥
(तै० उप०, अनु० 4, व० 2)

मन के सहित सब इन्द्रियाँ उसे न पाकर लौट आती हैं।

चौपाइयों का भाव है कि परमेश्वर मन, ज्ञान, कर्म व इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। वह ही सबका प्रेरक है (118, बा० कां०) चौपाइयों का उपर्युक्त भाव ही उपनिषद् उदाहरणों में व्यक्त है।

कारण रहित

(1) वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥6॥ (बा० कां०)

समस्त कारणों से परे, सब कारणों के कारण राम कहलाने वाले हरि की मैं वन्दना करता हूं।

उपनिषद-उदाहरण--

(1) यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥3॥
(श्वेता प० अध्याय)

अर्थ—जो अकेला ही काल से लेकर आत्मा तक उन सम्पूर्ण कारणों पर शासन करता है।

(2) आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः ॥5॥
(श्वेता० प०)

वह आदि कारण तीनों कालों से सर्वथा अतीत कलारहित भी प्रकृति के साथ जीव का संयोग कराने में कारणों का भी कारण देखा गया है।

(3) न तस्य कार्यं करणं च विद्यते ॥8॥ (श्वेता० उ०, अ० 6)

उसके शरीररूपी कार्य तथा अन्तःकरण इन्द्रियरूपी करण नहीं है।

(4) स्वर्भूज्योतिर्मयोऽनन्तरूपी स्वेनैव भासते ॥1॥
(प० खं० 2, रामपूर्वता)

अर्थ—किसी कारण की अपेक्षा न रखकर स्वतः प्रगट होते और विद्यमान रहते हैं।

व्यापक

(1) व्यापक ब्रह्म अलखु अविनासी। चिदानंदु निरगुन गुनरासी ॥2॥ 341 (बा० कां 347)

(2) राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी ॥51॥ 66 (बा० कां)

(3) जो हि पूछेउं सोइ मुनि अस कहई। ईस्वर सर्व भूतमय अहई ॥8॥ (उ० कां० 109)

(4) व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप ॥205॥ (बा० कां०)

(5) ब्रह्म जो व्यापक विरज अज ॥40॥ (बा० कां०)

(6) व्यापक विस्व रूप भगवाना ॥2॥ 13 (बा० कां०)

(7) व्यापक ब्रह्म विरज ॥4॥ 50 (उ० कां)

(8) व्यापक अजित अनादि अनंता ॥1॥ 39 (सु० कां०)

(9) व्यापक ब्रह्म अजित भुवनेस्वर ॥2॥ 55 (लं० कां०)

(10) अज व्यापक मेकमनादि सदा ॥4॥ 111 (लं० कां)

(11) हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रकट होंहि मैं जाना
देस काल दिसि विदिसहु मांहीं। कहहु सो कहां जहां प्रभु नाही ॥3॥
(बा० कां० 185)

(12) पूछेहु मोहि कि रहौं कहं मैं पूछत सकुचाऊं
अहं न होहु तंह देहु कहि तुम्हहि देखावों ठाऊं ॥ (अयो० कां 127)

उपनिषद् उदाहरण

(1) ॐ ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्याम् जगत् ॥ (ईशावास प०)

अर्थ—अखिल ब्रह्मांड में जो कुछ भी जड़ चेतन स्वरूप जगत है। वह समस्त ईश्वर से व्याप्त है।

(2) एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥11॥
(श्वेता० 3 प०, अ० 6)

अर्थ—एक देव ही सब प्राणियों में छिपा हुआ सर्वव्यापी समस्त प्राणियों का अन्तर्यामी परमात्मा है।

(3) सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥19॥
(श्वेता० 3 प० अ० 3)

वह परम पुरुष परमात्मा सब जगह हाथ पैर वाला, सब जगह आँख सिर और मुख वाला, सब जगह कानों वाला है। ब्राह्माण्ड में सब को सब ओर से घेर कर स्थित है।

(4) ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढ़म्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीमां तं ज्ञात्वामृता भवन्ति ॥7॥

(अ० 3, श्वेत उ०)

पूर्वोक्त जीव-समुदाय रूप जगत् से परे, हिरण्यगर्भरूप ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ समस्त प्राणियों में उनके शरीर के अनुरूप होकर छिपे हुए, सम्पूर्ण विश्व को सब ओर से घेरे हुए, उस महान् सर्वव्यापक एकमात्र देव परमेश्वर को जानकर ज्ञानी-जन अमर हो जाते हैं।

(5) एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः ॥16॥ (अ० 2, श्वेत० उ०)

निश्चय ही यह परमदेव परमात्मा समस्त दिशाओं और आवान्तर दिशाओं में व्याप्त है।

(6) स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढ़ः ॥15॥

(अ० 4, श्वेत उ०)

अर्थ—वे परमदेव परमेश्वर ही समय पर ब्राह्मणों की रक्षा करते हैं, तथा वे ही सम्पूर्ण जगत् के अधिपति हैं और समस्त प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से छिपे हुए हैं।

(7) घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् ॥16॥
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

(अ 4 श्वेत उ०)

कल्याण रूप एक परमदेव को मक्खन के ऊपर रहने वाले सार भाग की भाँति अत्यन्त सूक्ष्म समस्त प्राणियों में छिपा हुआ जानकर समस्त जगत् को सब ओर से घेरे हुए जानकर समस्त बन्धनों से छूट जाता है।

(8) बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्य रूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥7॥

(अ 1, मु० उ०, मुंडक 3)

वह परब्रह्म महान् दिव्य और अचिन्त्य रूप है तथा वह सूक्ष्म रूप से भी अत्यन्त सूक्ष्म रूप में प्रकाशित होता है। वह दूर से भी अत्यन्त दूर है और वह इस शरीर में रहकर अत्यन्त समीप भी है। यहाँ देखने वालों के भीतर हृदय गुफा में स्थित है।

समीप, दूर, अन्तरयामी आदि विशेषणों द्वारा ब्रह्म की व्यापकता व्यक्त की गयी है।

(9) आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ॥21॥ (अश्व 2, क० उ०)

परमेश्वर बैठा हुआ ही दूर पहुँच जाता है; सोता हुआ सब ओर चलता रहता है। इसका भावार्थ यह होता है कि जो वस्तु सर्वव्यापक है, उसका क्या चलना और क्या बैठना ! वह तो सर्वस्थान पर व्याप्त है।

(10) सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥11॥

(अ० 3, श्वेत उ०)

अर्थ—वह भगवान् सब ओर मुख और ग्रीवा वाला है, समस्त प्राणियों के हृदय रूप गुफा में निवास करता है। सर्वव्यापी है; इसलिए वह कल्याण स्वरूप परमेश्वर सब जगह पहुँचा हुआ है।

(11) स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः
स एवेदँ सर्वमित्यथातोऽहंकारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं
पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदँ सर्वमिति ॥1॥

(अ० 7, ख० 25। दा० उ०)

वही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही दायीं ओर है, वही बायीं ओर है, और वही यह सब है। अब उसी में अहंकारादेश किया जाता है—मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दायीं ओर हूँ, और मैं ही, यह सब हूँ।

उपरोक्त दृष्टांत से परमेश्वर की सर्व-व्यापकता व्यक्त होती है।

(1) मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ॥4॥ (अ० 9, गीता)

अर्थ—मुझ सच्चिदानन्द धन परमात्मा में यह सब जगत् परिपूर्ण है।

(13) यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥6॥(अ० 9, गीता)

जैसे आकाश से उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरने वाला महान् वायु सदा ही आकाश में स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्प द्वारा उत्पत्ति वाले होने से सम्पूर्ण भूत मेरे में स्थित हैं—अर्थात् मैं सब में व्याप्त हूँ।

अविकारी

(1) सकल विकार रहित गति भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं वेदा ॥
4।93 (अयो० कां०)

(2) विगत विकार जान अधिकारी ॥3।127 (अयो० कां०)

(3) व्यापक ब्रह्म अलखु अविनासी। चिदानंदु निरगुन गुनरासी ॥3।341
(बा० कां०)

उपनिषद् उद्धरण—

(1) नित्यानन्द सदेकरसं। (नृ० सिंह, उ० खं० 2)

नित्य आनन्द तथा सदैव एक रस।

(2) य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः
सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः ॥3॥

(अष्टम अध्याय, सप्तम खण्ड, छ० उ०)

जो आत्मा पाप रहित, जरा रहित मृत्युरहित, शोक रहित, क्षुधारहित, तृषा-हीन, सत्यकाम, सत्य संकल्प है, उसका अन्वेषण करना चाहिए। भावार्थ है कि आत्मा में कोई विकार। (पाप, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा, तृष्णा) नही है।

(3) निष्कलं निष्क्रियँ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ॥19॥

(अ०6, श्वेता उ०)

कलाओं से रहित, क्रिया रहित, सर्वथा शान्त, निर्दोष, निर्मल आत्मा का यह स्वरूप आत्मा के अविकारी स्वरूप को स्थापित करता है।

(4) अस्यैतदाप्त काममात्मकामँ रूपँ शोकान्तरम् ॥2॥

4।3 (वृ० उ०)

यह इसका आप्त काम, अकाम, शोक शून्य रूप है।

अभय स्वरूप

मन रंजन भंजन सोक भयं ॥3।11। (लं० कां०)

हे प्रभो! आप सेवकों को आनन्द देने वाले, शोक तथा भय का नाश करने वाले हैं।

स्यामल गात प्रनत भय मोचन ॥2।45॥ (सुं० कां०)

उपनिषद् उद्धरण—

(1) एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति ॥1॥ अ 4।खं० 15

(छा० उ०)

यह आत्मा अमृत है, अभय है, और ब्रह्म है।

(2) स वा एष महानज आत्मा जरोऽमरोऽमृतोऽभयो

(ब्रा० 4, (वृ० उ०)

ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयँहि वै ब्रह्म भवति
एवं वेद ॥25॥

वही यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर अमृत एवं अभय ब्रह्म है। अभय ही ब्रह्म है। जो ऐसा जानता है, वह अभय ब्रह्म ही हो जाता है।

अज्ञेय

(1) पालन सुर धरनी अद्भुत करनी मरम न जानइ कोई।
सो सहज कृपाला दीन दयाला करउ अनुग्रह सोई ॥1॥

सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहिं जाना ।
जेहि दीन पियारे वेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना ॥4।186॥

(बा० कां०)

(2) सुनहु तात यह अकथ कहानी । समुझत बनइ न जाइ बखानी ॥

(1।117 (उ० कां०)

उपनिषद् उद्धरण—

(1) परं विज्ञानाघद्वरिष्ठा प्रजानाम् ॥2॥ (द्वितीय खंड, मु० उ०)
समस्त प्राणियों की बुद्धि से परे है अर्थात् जानने में न आने वाला है।

(2) स वेत्ति मेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता ॥19॥ (अ० तृतीय, श्वेता उ०)
वह जो कुछ भी जानने वाली वस्तु है, उन सबको जानता है। परन्तु उसको जानने वाला कोई नहीं है।

(3) यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ॥3॥ (द्वितीय खंड, के० उ)
जिसका यह माना हुआ है कि ब्रह्म जानने में नहीं आता उसका तो वह जाना हुआ है। जिसका यह मानना है कि ब्रह्म मेरा जाना हुआ है, वह उसे नहीं जानता।

परम ज्योति स्वरूप

(1) निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै ॥92॥

(उ.कां.)

(2) पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि, प्रगट परावर नाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउँ माथ ॥116॥

(बा० कां०)

उपनिषद् उदाहरण—

(1) वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥8॥

(श्वेता, उ०अ० 3)

अविद्या रूप अन्धकार से अतीत सूर्य की भांति स्वयं प्रकाश स्वरूप इस महान पुरुष को मैं जानता हूँ।

(2) न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥15॥

(क० 3 प० अ०2 व०2)

न वहाँ सूर्य प्रकाशित होता है न चन्द्र, न तारे न बिजलियाँ ही प्रकाशित होती हैं। फिर यह लौकिक अग्नि कैसे प्रकाशित हो सकती है। उसके प्रकाश से ही सर्व उपरोक्त वस्तुएं व जगत् प्रकाशित होता है।

(3) एतं सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्म-
लोकः ॥2॥ (छा०उ०) 8।4

इसी से इस सेतु को पार कर अंधकार रूप रात्रि भी दिन हो जाती है, क्योंकि यह ब्रह्मलोक सर्वदा प्रकाश स्वरूप है।

(4) याज्ञवल्क्य किञ्ज्योतिरयं पुरुष इति। आदित्यज्योतिः सम्राडेति होवाचादित्वे नैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद् ॥2॥
(वृह०उप० 4-3)

सम्राट जन पूछते हैं—याज्ञवल्क्य ! यह पुरुष किस ज्योति वाला है? याज्ञवल्क्य कहते हैं यह आदित्य रूप ज्योति वाला है। यह आदित्य रूप से ही बैठता सब ओर जाता है कर्म करता और लौट आता है। अर्थात् वह आदित्य ज्योति से ही ओत-प्रोत है।

केवलम्

(1) पर बस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्री कंता ॥4॥
(उ० कां०,76)

उपनिषद् उदाहरण--

(1) ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत् ॥1॥
(ख० 1, ऐत० उप०)

इस जगत् में पहले एकमात्र परमात्मा ही था। दूसरा कोई भी चेष्टा करने वाला नहीं था।

(2) एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वा जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥16॥
(श्वेता उप०,अ०2)

निश्चय ही यह परमदेव परमात्मा समस्त दिशाओं में अनुगत है। वही परमात्मा सबसे पहले हिरण्यगर्भ रूप में प्रगट हुआ। वही समस्त ब्रह्माण्ड रूप गर्भ में अन्तर्यामी रूप से स्थित है। वही इस समय जगत् में प्रकट है। वही भविष्य में भी प्रकट होने वाला है। सब जीवों के भीतर स्थित है सब ओर मुख वाला है।

उपर्युक्त उदाहरण जीवों की अनेकता तथा ब्रह्म का 'केवल' स्वरूप स्थापित करता है।

(3) य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥1॥
(श्वेता उप०अ०3)

अर्थ—जो एक जगत् रूप जाल का अधिपति अपनी स्वरूपभूत शासन शक्तियों द्वारा शासन करता है, उन विविध शासन शक्तियों द्वारा सम्पूर्ण लोकों पर शासन

करता है। जो अकेला ही सृष्टि और उसके विस्तार में समर्थ है। इस ब्रह्म को जो मनुष्य जान लेता है वह समर्थ हो जाता है।

(4) यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सचि वि चैति सर्वम् ॥11॥

(श्वेता उप०, अ०4)

जो अकेला ही प्रत्येक योनि का अधिष्ठाता हो रहा है, जिसमें यह समस्त जगत् प्रलयकाल में विलीन हो जाता है, और सृष्टि-काल में विविध रूपों में प्रकट भी हो जाता है।

एक में अनेकरूपता

(1) आकर चार लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ वासी॥
सीय राम मय सब जग जानी। करउं प्रनाम जोरि जुग पानी॥1॥8

(बा० कां०)

(2) जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
वंदउँ सबके पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥7॥ (ग)

(बा० कां०)

(3) अनवद्य अखंड न गोचर गो। सवरूप सदा सब होइ न गो।
इति वेद वदन्ति न दंतकथा। रवि आतप भिन्नमभिन्न जथा॥8॥111

(लं० कां०)

(4) संभु विरंचि विष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥3॥118

उपरोक्त चौपाइयां का भाव है कि एक ब्रह्मस्वरूप से ही अनेकों जगत के जीवों व देवों की उत्पत्ति हुई है। यही भाव निम्नांकित उपनिषद् उदाहरणों में हैं।

उपनिषद् उदाहरण—

(1) तद्विष्णुरीशानो ब्रह्मान्यदीप सर्वं सर्वंषत सर्वं मम एव शुद्धोऽवाध्य स्वरूपो वुद्धः सुख स्वरूप आत्मा।

(खं० 9 नृसिंहो उ०)

वही विष्णु, वही शिव और ब्रह्मा है, वही सर्वज्ञ, वही सर्वस्वरूप नित्य शुद्ध वुद्ध सुख रूप आत्मा है।

(2) सो काकयत। बहुस्यां प्रजायेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वम् सृजत यदिदं। तत्सृष्टवा तदेवानुप्रविशत्।

परम ब्रह्म ने संकल्प से तप किया कि मैं बहुत हो जाऊं। सारे जगत की रचना करके फिर वह उसमें प्रविष्ट हो गया इस प्रकार उसी के अंश से सर्वभूतों का निर्माण हुआ।

(3) न मे विदुः सुरगणाः प्रभव न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥2॥ (गीता अ० 10)

मेरी उत्पत्ति को अर्थात् विभूति सहित लीला से प्रकट होने को न देवता लोग जानते हैं न महर्षिजन जानते हैं क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं और महर्षियों का भी आदि कारण हूँ।

(4) स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥1॥
(खं० 1 ऐ० 30)

उस परमात्मा ने सृजन की इच्छा की। इस प्रकार जगत के अन्य जीव पैदा हुए।

(5) यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधियो रुद्रो महर्षि ॥4॥
(अ० 3 श्वेता उ०)

अर्थ—जो रुद्र आदि देवताओं की उत्पत्ति और वृद्धि का हेतु है।

अज

(1) सगुनहि अगुनहि नहिं कुछ भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम वस सगुन सो होई। 1।
116 (बा० कां०)

(2) तात राम कहुँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु।
6॥ 26

(3) व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति वस कौशल्या कें गोद। 198 (बा० कां०)

(4) ब्रह्म जो व्यापक विरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद ॥ 50 ॥
(बा०कां०)

(5) ग्यान गिरा गोतीत अज माया मन गुन पार।
सोई सच्चिदानन्द धन कर नर चरित उदार ॥ 25 ॥
(उ० कां०)

(6) जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक विरज अज कह गावहीं।
करि ध्यान ग्यान विराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं ॥ 3 ॥ 32
(अर० कां०)

(7) व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।

(8) गुन ग्यान निधान अमान अजं। नित राम नमामि विभुं विरजं ॥ 5 ॥
111 (लं० कां०)

(10) जे ब्रह्म अजयद्वैतअनुभवगम्य मनपर ध्यावही ॥ 6 । 13 ॥ उ० कां०

उपनिद् उदाहरण—

(1) एको देवो वहुधा निविष्ट अजायमानः वहुधा विजायते ॥ 3॥

(खं० 2 मुद्गल 3)

एक ही देव वहुत प्रकार से प्रविष्ट होकर स्वयम् अजन्मा रहते हुए भी वहुत प्रकार से प्रकट होता है।

(2) सर्वमेकमजं शान्तमनन्तं ध्रुवमेंव्येयम्।
पश्यन्भूतार्थचिद्रयं शान्त अश्व यथासुखम् ॥ 2 ॥

(खं० 2 अक्ष्यु० उ०)

सबको एक अज, शान्त, अनन्त ध्रुव, अव्यय तथा तत्त्वतः चैतन्य रूप देखते हुए तुम शान्त और सुख से रहो।

(3) दिव्या ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥ 2 ॥

निश्चय ही दिव्य-पूर्ण पुरुष आकाररहित जगत के बाहर-भीतर भी व्याप्त है। जन्मादि विकारों से अतीत, प्राणरहित, मनरहित होने के कारण सर्वया विशुद्ध है। इसलिए अविनाशी जीवात्मा से अत्यन्त श्रेष्ठ है।

सच्चिदानन्द रूप

(1) राम सच्चिदानन्द दिनेसा। नहिं चहं मोह दिशा लवलेसा ॥
3 ॥ 116 ॥ बा० कां०

(2) जय जय अविनाशी घट घट वासी व्यापक परमानन्दा,
निसि वासर ध्यावहिं गुन गन गावहिं जयति सच्चिदानन्दा।
2 ॥ 186 ॥ (बा० कां०)

(3) सोई सच्चिदानन्द घन कर नर चरित उदार। 2 ॥ 25 ॥(उ० कां०)

(4) चिदानंदु निरगुन गुनरासी ॥ 3 ॥ 341 ॥ (बा० कां०)

उपनिषद्

(1) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 3 । 9 । 11 (वृ० ग०)
ब्रह्म विज्ञानस्वरूप व आनन्दमय

(2) तमादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम् ॥ 7 ॥
ब्रह्म आदि अन्तरहित, एकं, सर्वव्यापी, चिदानन्द, अरूप, व अद्भुत है।

(2) आनन्दममलं शुद्धं मनोवाचमगोचरम् ॥ 49 ॥
प्रज्ञानघनमानन्दं ब्रह्मास्मीति ॥ 50 ॥ (अध्दु० उ० खं० 2)

मैं आनन्दस्वरूप, निर्मल, शुद्ध, मन और वाणी की पहुँच के परे प्रज्ञान घन और आनन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ।

संदर्भ

1. लोचन अभिरामा तनु घनश्यामा निज आयुध भुज चारी ।
भूषन वनमाला नयन विसाला सोभासिंधु खरारी ।।1।।
कह दुइ कर ओरी अस्तुति तोरी केहि विधि करो अनंता ।
माया गुन ग्यानातीत अमाना वेद पुरान अनंता ।
सो मम हित लागी जन अनुरागी भयउ प्रगट श्रीकंता ।।2।।
ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति वेद कहे ।
मम उर सो वासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै ।।
(बा० कां० 192)

2. देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड,
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड ।।201।।
अगनित रवि ससि सिव चतुरानन, 'बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन ।।
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ । सोउ देखा जो सुना न काऊ ।
देखी माया सब विधि गाढ़ी । अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी ।।
देखा जीव नचावइ जाही, देखी भगति जो हो रइ ताहीं ।
तन पुलकित मुख वचन न आवा । नयन मूदि चरननि सिरु नावा ।।3।।
चौपाई संख्या ।।1।। 80।। से (क) ।। 82।।(उ. कां.)

3. काकभुशुण्डि के समान

4. सर्वोपनिपदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।4।।

5. वे तीन ग्रन्थ जो कि शास युगाणा व अजित आते । उपनिषद, गीता व्राल इव

6. (1) माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा ।
कीजै सिसु लीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा,
सुनि वचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा ।।4।।
(बा. कां। 202)

(2) अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।45।। (गीता, अ. 11)
किरीटिनं गदिनं चक्र हस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।।46।।
(गीता, ।।11।।)

7. (1) देखि राम जननी अकुलानी ।।4।। (बा. कां. 201)

(2) अस्तुति करि न जाइ भय माना । जगत पिता मैं सुत करि जाना ॥4॥
(बा. कां। 202)

(3) गीता 45 ॥ (अध्याय 11)

(4) नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णां
सगद्‌गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥35॥ (अध्याय 11 गीता)।

9. केशव भगवान के इस वचन को सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़े हुए, कांपता हुआ नमस्कार करके फिर भी भयभीत हुआ प्रणाम करके भगवान श्रीकृष्ण के प्रति गद्‌गद वाणी से बोला ।

10. (1) सर्व सिद्धगणों के समुदाय आप को नमस्कार करते हैं ॥30॥

(2) ब्रह्मा के भी आदि कर्ता सबसे बड़े आपके लिए कैसे नमस्कार नहीं करें ॥37॥

(3) आपके लिए बारम्बार नमस्कार-नमस्कार होवो, आपके लिये फिर भी बारम्बार नमस्कार-नमस्कार होवे ॥39॥

(4) हे अनन्त समर्थ वाले आपके लिये आगे से और पीछे से नमस्कार होवे । हे सर्वात्मन् ! आपके लिये सर्व ओर से ही नमस्कार होवे ।

11. आपके प्रभाव को न जानकर व
सखा मानकर प्रमाद के कारण व प्रेम से जो मेरे द्वारा हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा जो कुछ भी हठ पूर्वककहा गया ॥41॥
और हे अच्युत ! जो हंसी के लिये विहार शय्या आसन और भोजनादिकों में अकेले अथवा सखाओं के सामने भी अपमानित किये गये हैं, वह सब अपराध अप्रमेय रूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाव वाले आपसे मैं क्षमा कराता हूं।

12. पहले न देखे हुए आश्चर्य तथा आपके इस रूप को देखकर हर्षित हो रहा हूं। मेरा मन भय से अति व्याकुल हो रहा है । इस लिये हे भगवान ! अपने उस चतुर्भुज रूप को ही मुझ को दिखलाइये । हे देवेश ! हे जगन्नाथ आप प्रसन्न हो जाइये ।

13. उस चतुर्भुज रूप को ही मुझको दिखाइये—हे देवेश प्रसन्न हो जाइये ।

14. हे जनार्दन आपके इस अतिशान्त मनुष्य रूप को देखकर अब मैं शान्त चित्त हुआ, अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया हूं ।

15. (1) तेजोमय सबका आदि सीमा रहित विराट् रूप तेरे को दिखाया हैं, जो तेरे सिवाय दूसरे से पहले नहीं देखा गया ।

(2) हे अर्जुन ! मेरा यह रूप नरलोक में तेरे सिवा दूसरे को दर्शन के लिए प्राप्त नहीं है ।

(3) मेरा यह रूप जिसको तुमने देखा है अति दुर्लभ है। क्योंकि देवता भी सदा इस रूप के दर्शन करने की इच्छा करने वाले हैं।

(4) न वेदों से, न तप से, न दान से, और न यज्ञ से, इस प्रकार मेरा चतुर्भुज रूप नहीं दिखता जैसा मुझको तुमने देखा है।

16. अनेक मुख और दर्शनों से युक्त अनेक अद्भुत दर्शनों वाले बहुत से दिव्य भूषणों से युक्त और बहुत से शस्त्रों को हाथों में उठाये हुए।
दिव्यमाला और वस्त्रों को धारण किये हुए, दिव्य गन्धों का अनुलेपन किये हुए सब प्रकार के आश्चर्यों से युक्त सीमारहित विराट् स्वरूप परमदेव परमेश्वर को अर्जुन ने देखा।

17. हे पथि मेरे सैकड़ों तथा हजारों नाना प्रकार के और नाना वरण के तथा आकृति वाले अलौकिक रूपों को देखा ॥5॥

18. श्लोक संख्या ॥6॥ (गीता अ० 11)

19. हे भरतवंशी अर्जुन (मेरे में) आदित्यों को (अदिति के द्वादश पुत्र), आठ वसुओं को, एकादश रुद्रों को, तथा दोनों अश्विनी कुमारों को और उनचास मेरुदंडों को देख, तथा और भी बहुत से पहिले न देखे हुये आश्चर्यमम रूपों को देख।

20. हे राजन् महायोगेश्वर और सब पापों का नाश करने वाले भगवान ने इस प्रकार कहकर उसके उपरान्त अर्जुन के लिए परम ऐश्वर्य युक्त दिव्य स्वरूप दिखलाया।

21. अनेक वक्त्र नयनम् अनेकाद्भुतदर्शनम् अनेकादिव्याभरणम्
दिव्यानेकोद्ययुधम् ॥10॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं
विश्वतोमुखम् ॥11॥

अनेक मुख और नेत्रों से युक्त, अनेक अद्भुत दर्शनो वाले, बहुत से दिव्य भूषणों से युक्त और बहुत से दिव्य शस्त्रों को हाथ में उठाये हुए।
दिव्यमाला और वस्त्रों को धारण किए हुए, दिव्य् गन्ध का अनुलेपन किये हुए, अनेक प्रकार के आश्चर्यों से युक्त, सीमा रहित विराट स्वरूप पमेश्वर को अर्जुन ने देखा।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता यदि भाः सदृशी सा स्याभ्दासस्तस्य
महात्मन् ॥12॥

तत्रैकस्थं सेगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा अपश्यद्देवदेवस्य शरीर
पाण्डवस्तदा ॥13॥

आकाश में हजारों सूर्यों के एक साथ उदय होने से उत्पन्न हुआ जो प्रकाश वह उस विश्वरूप परमात्मा के प्रकाश के सदृश कदाचित ही होवे।

22. हे अर्जन ! अब इस मेरे शरीर में एक जगह स्थित हुए चराचर सहित सम्पूर्ण जगत को देख, और भी जो देखना चाहता है वह देख।
23. परन्तु मेरे को इन प्राकृत नेत्रों द्वारा देखने में समर्थ नहीं है। इसलिए तेरे लिए अलौकिक चक्षु देता हूँ। उससे मेरे प्रभाव को योगशक्ति को देख।
24. विषाद योग (प्रथम अध्याय (गीत)
25. गीता, अध्याय 1, श्लोक 31
26. ।।26।।27।।श्लोक।।अध्याय 11।। (गीता) ।।32।।अध्याय 11।। (गीता)
27. ।।48।। अध्याय 11।। (गीता) (एवं रूप शक्त अहं नृलोके) द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ।।48।।
28. उसके अन्तर वह आश्चर्य से युक्त हुआ हर्षित रोगों वाला अर्जुन विश्वरूप परमात्मा को सिर से प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए बोला ।।14।।